किशोरलाल भाई की जीवन-साधना

लेखक
स्व० नरहरि भाई परीख

अनुवादक
वैजनाथ महोदय

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

सन्तों के अनुज

स्वर्गीय किशोरलाल भाई मृत्यु के उपरान्त लोगों के स्मारक खड़े करने या उनके जीवन-चरित्र आदि लिखने के विरुद्ध थे। मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने 'मरण-विधि' नामक एक लेख लिखा था। उसे बड़ी प्रसिद्धि मिली थी। परन्तु उनकी मृत्यु के बाद यह जीवन-चरित्र लिखने के विषय में जब चर्चा चलने लगी, तो एक श्रद्धेय बुजुर्ग ने इस तरह के कट्टर विचारवाले मित्रों को यह कहकर निरुत्तर कर दिया कि "जिन्होंने अपनी प्रखर विचार-शक्ति, अविरत कर्मयोग और निर्मल चारित्रिक गुणों से अपने देश, काल और समाज को प्रभावित किया, उन विभूतियों के जीवन-चरित्र लिखना यदि अनुचित है, तो क्या व्यसनी, दुराचारी, सटोरिये, काला-बाजार करनेवाले अथवा सिनेमा के सितारों के चरित्र लिखकर या लिखवाकर आप समाज को ऊपर उठाने की आशा कर सकते हैं ?"

तब स्वर्गीय श्री किशोरलाल भाई के निकटतम मित्र और आजीवन साथी श्री नरहरि भाई ने यह चरित्र लिखने का काम अपने जिम्मे लिया और श्री नाथजी ने इस योजना को अपना आशीर्वाद देकर इसका अभिनन्दन किया। चरित्र-लेखन जब लगभग पूरा होने को आया, तब नाथजी ने मुझे लिखा—"यह कल्पना ही मुझे अटपटी मालूम हो रही है कि इस जीवन-चरित्र में आपके उद्‌गार न हों। जो सन्मित्र हमारी आँखों से ओझल हो गये हैं, उनके प्रति सद्‌भाव प्रकट करनेवाले दो शब्द हम लिख दें, इससे अधिक हमारे हाथों में और है ही क्या ?"

× × × ×

किशोरलाल भाई को सबसे पहले मैंने सन् १९१८ के आसपास साबरमती-आश्रम में देखा था। तभी उनका शरीर दमियल और रोगी था। जीवन के अंत तक वह ऐसा ही रहा। प्रारम्भ में उन्हें और उनकी सांप्रदायिक रहन-

सहन को देखकर मुझे बहुत बुरा लगा। धर्म, अध्यात्म अथवा शास्त्रो की चर्चा में उनकी पृथक्करण की शैली और पुरानी परिभाषा को देखकर मै परेशान हो जाता। नवीन जीवन-दृष्टि मिलने के बाद 'जीवन-शोधन' तथा अन्य अनेक ग्रन्थो में उन्होने अपने प्रखर विचार जनता के समक्ष प्रस्तुत किये है। इनमें से कितने ही विचार तो मुझे अथवा मेरे जैसे अनेक लोगो को अस्वीकार्य लगते। परन्तु इनके मूल में जो नि स्पृहता, सत्यनिष्ठा और सामुदायिक श्रेय की चिन्ता थी, वह हर आदमी के हृदय को स्पर्श किये बिना नहीं रहती, फिर वह श्रद्धालु हो या अश्रद्धालु।

किशोरलाल भाई ने नाथजी को प्रकट रूप से अपना गुरु बताया है। परन्तु यह गुरु-शिष्य-सम्बन्ध हमारे देश की परम्परा की छापवाला नहीं था। किशोरलाल भाई जब सत्य की अपनी खोज में अत्यन्त व्याकुल अवस्था में थे, तब नाथजी ने उनका साथ देकर उन्हें एक निश्चित जीवन दृष्टि प्रदान की थी। किशोरलाल भाई ने इस ऋण को सार्वजनिक रूप में स्वीकार किया है। कृतज्ञता का यह भाव उनके हृदय में जीवनभर बना रहा, इतना ही इसका अर्थ समझना चाहिए।

नाथजी ने किशोरलाल भाई का अथवा अन्य किसीका भी गुरुपद कभी ग्रहण नही किया। बल्कि अधिकाश आधुनिक पुरुषो की भाँति गुरु-सस्था की बुराइयो का तीव्र भान उनमें भी है। उनसे परिचित सब लोग इस बात को जानते है। किशोरलाल भाई की श्रद्धा-उपासना पुराने ढग की थी। जान में अथवा अनजान में नाथजी ने इसकी जड़ें पूरी तरह हिला दीं। इसके बाद जब तक उनकी व्याकुलता का शमन नहीं हो गया, तब तक उनका साथ देकर उनका मार्गदर्शन करना नाथजी के लिए अनिवार्य हो गया। और सच पूछिये तो जब किशोरलाल भाई को शान्ति मिली, तब उन्हें ऐसा लगा मानो अपने सिर पर का एक बहुत बडा बोझ हट गया और छुट्टी मिली। ऐसा नाथजी ने अनेक बार अपने मित्रो के सामने कहा है।

मैं तो समझता हूँ कि गुरु-शिष्य का नाता सबसे अच्छे अर्थ में एक सखा-सन्मित्र का नाता है। इस चरित्र-ग्रन्थ में नाथजी ने 'साधना' शीर्षक अध्याय लिखा है। उसमें स्पष्ट रूप से उन्होने यह बता दिया है। यही नहीं, बल्कि उन्होने किशोरलाल भाई के समान ही कृतज्ञभाव से यह स्वीकार किया है कि

एक सम्मिश्र के रूप में वे स्वय भी किशोरलाल भाई के ऋणी है। गुरु-सस्था के इतिहास में यह वस्तु जितनी अनुपम है, उतनी ही नवीन भी है।

विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहस के निर्वाण के बाद उन्हें प्रसिद्धि प्रदान की। परन्तु किशोरलाल भाई ने उन्हें जीवितावस्था में ही प्रसिद्ध कर दिया। दूसरे के नाम से पहचाने जाने में एक पुरुषार्थी व्यक्ति हमेशा सकोच और असुविधा का अनुभव करता है। नाथजी का परिचय प्राय: किशोरलाल भाई के गुरु के रूप में दिया जाता है। अत नाथजी वर्षों से यह सकोच और सकट उठाते आये है। इस सकोच और सकट से ऐसे सत्पुरुषो को बचाकर उन्हें उनके अपने व्यक्तित्व के मूल्य पर हम पहचानना सीखें, यह व्यक्ति और समाज दोनो के लिए इष्ट है।

× × × ×

जीवन-दर्शन, तत्त्वज्ञान, शिक्षण, सामाजिक तथा राजनैतिक उत्थान, रचनात्मक कार्य, आर्थिक नियोजन, राजकीय सिद्धान्तवाद और देश की अन्य समस्याओ पर किशोरलाल भाई ने अपने प्रगल्भ विचार लगभग दो दर्जन ग्रन्थो और 'नवजीवन', 'यग इण्डिया', 'हरिजन' पत्रों और पिछले वर्षों में समस्त देश के अनेक सामयिक पत्रो में छपे अपने असख्य लेखों में प्रस्तुत किये है। इन सबमें उन्होने गाधीजी की अनेक विचार-धाराओ और सिद्धान्तों को विशद किया है। गाधीजी द्वारा प्रचारित आदर्श और कार्यक्रम जनता को विशद रूप से समझाने और उसके चित्त पर अच्छी तरह अकित कर देनेवाले प्रामाणिक भाष्यकार और स्मृतिकार के रूप में वे प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके है। स्वय गाधीजी ने एक से अधिक बार उनके इस अधिकार पर अपनी मुहर लगा दी है।

व्यापक और गहन चिन्तन उनकी अपनी कमाई थी। स्वामी सहजानन्द, गाधीजी, नाथजी अथवा अन्य किसी गुरुजन से प्राप्त पूँजी पर उन्होने व्यापार नहीं फैलाया है। जो पाया, उसे पचाया और फिर गुरुजनो के ऋण को पूरी तरह स्वीकार करके उसे अपनी वस्तु के रूप में, परन्तु भलाई-बुराई की जिम्मेवारी खुद उठाकर उसे समाज के सामने पेश किया। यह सब उन्होने जितने निरभिमान के साथ किया है, उतनी ही उसके भीतर यह भावना भी रही है कि जान में या अनजान में किसीके साथ अन्याय न हो जाय।

उनका समस्त चिन्तन और लेखन लोक-जीवन की शुद्धि, वृद्धि, सस्कार और नवरचना के लिए होता था और इसमें समस्त ससार के लिए प्रेरणा और सन्देश होता था। फुरसतमन्द बुद्धिमानो के 'काव्य शास्त्र-विनोद' के लिए उन्होने कभी नहीं लिखा। सुशिक्षित और जन-साधारण की सस्कारिता के भेद को उन्होने 'भद्र सस्कृति' और 'सत सस्कृति' जैसे सुन्दर नाम देकर प्रकट किया है। ये नाम हमारे साहित्य में अमर हो जायेंगे।

एक प्रखर शिक्षाशास्त्री और चतुर सलाहकार के रूप में गाधीजी की विविध सस्थाओ के साथ उनका आजीवन सम्बन्ध रहा है। किसी एकाध सस्था से केवल अपने निर्वाहभर के लिए वे छोटी-सी रकम लेते थे। ग्रन्थो अथवा लेखो आदि का कोई पुरस्कार नहीं लेते थे। फिर भी यदि कोई भेज ही देता तो वे दूसरे किसीको दे देते।

नैतिक गुण और सयमी जीवन-व्यवहार द्वारा जनता के चरित्र-गठन का उन्हें बडा आग्रह था। इस कारण बहुत से आधुनिक लोग उन्हें अव्यावहारिक 'सतो' में शुमार करते। साहित्य, सगीत और कला के नाम पर विलासी वृत्तियो का अनुशीलन उन्हें अच्छा नहीं लगता था। स्त्री-पुरुषो के बीच की स्वाभाविक मर्यादा को वे कुदरती कानून मानते थे। वे मानते थे कि सुहावने और आकर्षक 'लेबलो' के नाम पर इस मर्यादा को तोडने का यत्न यदि किया जायगा, तो समाज के शरीर और मन के आरोग्य को हानि पहुँचे बिना नहीं रहेगी। स्त्री-जाति के प्रति उनके मन में बहुत आदर था और वह सारा गोमतीबहन में प्रकट होता था।

मध्ययुग के ईसाई साधु थॉमस केंपिस का एक ग्रन्थ है—'Imitation of Christ' ('ईसा का अनुकरण')। आज चार-पांच शताब्दियो से ईसाई जगत् में उसका लगभग बाइबल के समान ही आदर है। मेरा खयाल है कि किशोरलाल भाई के विचार और चितन कुछ ऐसा ही स्थान प्राप्त करेंगे। उनका जीवन-दर्शन विवेक-प्रधान था। मै इसे अक्सर 'कोल्ड रैशनलिज्म' (वेदाभ्यास-जडज्ञान) कहता। परन्तु उनका व्यवहार अमृत के समान मधुर था। काया एकदम जर्जर थी, फिर भी अतिथि-आगन्तुक का सत्कार उठकर और सामने जाकर करते। बडे-बडे नेताओ से लेकर अदने कार्यकर्ता

और निकम्मे आलोचकों तक की बात समान सौजन्य के साथ सुनते और उतने ही धीरज और समता के साथ उनके जवाब भी देते। इन्हीं सब सद्गुणों के कारण वे सबकी श्रद्धा और आदर के पात्र बन गये थे।

पैगम्बर साहब के सौजन्य के विषय में कहा जाता है कि उनके समस्त जीवन में किसीको ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं, जब रास्ते में उन्हें कोई मिला हो और उसका स्वागत करने के लिए उनका हाथ पहले नहीं उठा हो। यह सौजन्य किशोरलाल भाई में शत-प्रतिशत था। असंख्य लोग इसके साक्षी हैं।

इन्हीं सब गुणों के कारण गांधी-सेवासंघ जैसी देशव्यापी और सर्वोपरि संस्था के अध्यक्ष के रूप में सबने उन्हींको पसन्द किया और सरदार, राजेंद्र बाबू, राजाजी जैसे राष्ट्रमान्य नेताओं ने इनके नीचे संघ के सदस्य बनने में गौरव माना। इन्हीं गुणों के कारण देशभर में असंख्य छोटे कार्यकर्ताओं के परिवारों में उन्होंने पूज्य बुजुर्ग का स्थान पाया। प्रान्तीय भाव जैसी चीज तो कभी उनके अन्दर थी ही नहीं। उनका सर्वधर्म-समभाव भी ऐसा ही अनुपम था। देशवासियों के तथा विदेशियों के और इस देश में बसनेवाले कितने ही छोटे-बड़े मुसलमानों, विदेशी पादरियों और समाज-सेवकों के वे मित्र थे।

और वे केवल विचार-धन के ही व्यापारी नहीं थे। अत्यंत गिरा हुआ स्वास्थ्य होने पर भी उन्होंने गांधीजी द्वारा छेड़ी गयी सत्याग्रह की प्रत्येक लड़ाई में भाग लिया और बार-बार लम्बी सजाएं जेलों में काटीं। सन् १९४२ की लड़ाई में भी आदत के अनुसार पुलिस उन्हें पकड़ने के लिए आधी रात में सेवाग्राम-आश्रम पहुंची, तो आप चरखा-पूनी लेकर केवल एक कुर्ता पहने पुलिस के साथ हो लिये। नागपुर, जबलपुर कहां ले जायेंगे, कोई नहीं जानता था। गोमतीबहन ने सोचा कि पिछली रात में वहीं दमे का दौरा आया, तो उन्हें परेशान कर देगा, इसलिए उन्होंने चाहा कि पांच लौंग उनके कुर्ते की जेब में रख दें। कहने लगे—"नहीं, ये नहीं लूंगा। अब मेरे शरीर की चिन्ता करने की जिम्मेवारी सरकार के मत्थे है।" जेल में भी दूसरों को न्याय दिलाने के लिए आमरण उपवास करने के लिए तैयार रहते। जेल में भी हर बार असंख्य राजनैतिक कार्यकर्ताओं के प्रीतिपात्र बन गये और उनके साथ आजीवन

मैत्री-सम्बन्ध कायम कर लिया। विदेशी भाषा के साहित्यरत्नो का अनुवाद करने में उन्होने कभी छोटापन नहीं महसूस किया।

गाधीजी की हत्या के बाद 'हरिजन' पत्र बन्द हो गये, तब उन्होने उनके सम्पादन का भार 'राम भरोसे' उठा लिया। उस समय बहुत से लोगो को शका थी कि अपने कमजोर स्वास्थ्य के कारण इस भार को वे वहन कर सकेंगे या नहीं। परन्तु छह महीने परिश्रम करके उन्होने अच्छे-अच्छो को चकित कर दिया। K G M ये आद्याक्षर M K.G के पर्याय बन गये। समस्त देश के काग्रेसजन, रचनात्मक कार्यकर्ता, मुखिया, मिनिस्टर, सस्थाओ के सचालक, विरोधी लोग, पेट के कारण और आदत से लाचार आलोचक—सबके सब उनके सामने जी खोलकर बात कर सकते थे। सबके लिए वे आश्रय-स्थल बन गये थे।

लगातार साढे चार वर्ष तक एक-सा सपादन-कार्य किया। काग्रेसी सरकारें, सरदार, जवाहरलालजी किसीकी मुरव्वत नहीं की और न किसीसे वे दबे ही। कटु सत्य कह करके अच्छे-अच्छों के दिमाग ठिकाने ला दिये। परन्तु विनय कभी नहीं छोडी, साथ ही सत्य के समान ही निष्ठुर बने रहे। न तो कभी तिलभर बात बढाकर कही और न घटाकर। रोम्यां रोलां ने सत्य को प्याज की उपमा देते हुए कहा है कि इसे खाते समय नाक कनकनाने लगती है और आँखो में आंसू आ जाते हैं।

अपने जीवन का अतिम वर्ष उन्होने विनोबा के भूदान-यज्ञ का अति उत्कट समर्थन करने में व्यतीत किया। विनोबा को छोडकर इनके समान लगातार और पूरी हार्दिकता के साथ शायद ही किसी दूसरे नेता ने इसका समर्थन किया हो। गाधीजी के तप और पुण्य के फलस्वरूप यह देश आजाद हुआ। उसके बाद आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में देशव्यापी शुद्ध अहिंसात्मक क्रान्ति सफल करने का एकमात्र यही मार्ग है। यह बात हमारे देश की सत-सस्कृति और जनसाधारण के अनन्य उपासक केवल विनोबा को ही सूझी है। इस प्रवृत्ति के अन्दर देश की तमाम समस्याओ का अहिंसक हल और देश की तमाम धर्म्य आकाक्षाओ की सिद्धि निहित है, ऐसा वे मानते थे। इस बात पर दृढ रहकर भूदान-यज्ञ का समर्थन उन्होने अपने जीवन के अतिम क्षण तक किया।

× × × ×

रोगो और व्याधियो ने आजीवन उनका पीछा नहीं छोडा। प्रतिदिन देह-कष्ट इतना रहता कि देखनेवाले घबडा जाते। साँस लेने के लिए हर घडी फेफडो के साथ सग्राम करना पडता और उनके साथ जूझते-जूझते शरीर उकडूँ हो जाता। मिनटो तक उन्हें इस तरह सिमटकर बैठे रहना पडता। आक्रमण हलका होते ही वे फिर उठ बैठते और हाथ में लेखनी थाम लेते या कातने लग जाते। अत तक यही दशा रही। रोगो और उपचारो को सहते-सहते उनके विषय में इतना ज्ञान हो गया कि अच्छे-अच्छे डॉक्टरो को चक्कर में डाल देते।

इन अपार देह-कष्टो के परिहाररूप में या और किसी हेतु से भगवान ने उनके अन्दर अपरपार विनोद भर दिया था। वे अपने को ही हँसी का लक्ष्य बनाकर दूसरो को खूब हँसाते। प्राणहारक वेदनाओ के बीच भी जो कोई सामने हो, उसके साथ अथवा गोमती बहन के साथ इनका मुक्त, निर्दश विनोद चलता ही रहता। मित्रो के साथवाले पत्र-व्यवहार में भी वह टपकता। उसे लिखने बैठें, तो पन्ने के पन्ने भर जायें।

मृत्यु के कुछ ही दिन पहले की बात है। बारडोली में नरहरि भाई बीमार हो गये और अपेण्डिसाइटिस का ऑपरेशन अनिवार्य हो गया। उस समय किशोरलाल भाई का शरीर अत्यत क्षीण हो गया था। फिर भी खास तौर पर वे बम्बई आ करके रहे। समाचार लेने के लिए रोज अस्पताल जाते। अ परेशन के दिन जब तक ऑपरेशन पूरा हुआ और नरहरि भाई वापस होश में आये, तब तक वे वही अस्पताल में बैठे रहे।

हर प्रान्त के छोटे-बडे असख्य कार्यकर्ताओं, सपादको, सस्थावालो, विदेशियो, विश्वशान्ति-परिषद्वालों, गाधीजी द्वारा स्थापित विविध सघो, स्त्रियो की सस्थाओ, गोसेवा, महारोगियो (कुष्ठपीडितो) की सेवा, हरिजन सेवा के कार्यकर्ताओ, वनस्पति-विरोधियो आदि सबके साथ उनकी समान आत्मीयता थी। गाधीजी के बाद इनके प्रति सबका समान आदर था। जिस दिन मृत्यु के समाचार मिले, अन्त-अत तक काग्रेस को गालियाँ देनेवाले भी इस तरह दहाड मार-मारकर रोने लगे, जैसे प्रत्यक्ष उनका पिता मर गया हो। देश के कोने-कोने से तथा विदेशो से भी तारों और पत्रो का जो प्रवाह उमडा, उन सबमें इतना दु ख प्रकट हो रहा था, मानो उनका कोई निकटतम स्वजन चला गया हो।

अपने अंतेवासियो के सामने गाधीजी कई बार कहते कि मेरे सामने भले ही तुम्हारा तेज कोई न देख पाये, परन्तु मेरी मृत्यु के उपरान्त ससार तुम्हारा मूल्य समझने लगेगा। गाधीजी की इस भविष्यवाणी को किशोरलाल भाई और विनोबा ने सत्रह आने सही करके दिखा दिया।

× × × ×

इस ग्रन्थ के रूप में श्री नरहरि भाई ने जो चरित्र-निरूपण किया है, उसके विषय में कुछ भी लिखने की धृष्टता मैं नहीं करूँगा। स्वय अपग होते हुए भी उनके जैसे समत्वशील और निकटतम साथी ने अत्यत प्रेमभाव से इतना परिश्रम उठाकर यह चरित्र लिखने का काम हाथ में लिया और शुष्क दीखनेवाले विषयो को पेश करने में भी जिन रचनाओ ने 'क्लासिक' का दरजा प्राप्त कर लिया है, उनमें यह एक और निर्मल और शात क्लासिक शामिल कर दिया। इससे अधिक अनुरूप और सुहावना और क्या हो सकता है? किशोरलाल भाई ने गाधीजी के बाद जिस योग्यता के साथ 'हरिजन'-पत्रो का सपादन किया, उसी योग्यता के साथ नरहरि भाई ने इस चरित्र-ग्रन्थ का निर्माण किया है।

यह प्रस्तावना पूरी करने से पहले किशोरलाल भाई के गुरुबन्धु श्री रमणीकलाल मोदी का उल्लेख किये बगैर मैं नही रह सकता, जिन्होने किशोरलाल भाई के चिन्तन और लेखन के स्रोत और प्रेरणारूप नाथजी के विचार-साहित्य का वर्षों तक सग्रह, सपादन और अनुवाद अनन्य निष्ठा के साथ किया है। किसी भी प्रकार के बदले की अपेक्षा न करते हुए, शुद्ध भक्तिभाव से लगातार एक-से परिश्रम के साथ उन्होने यह काम बरसो किया है। नाथजी के तथा किशोरलाल भाई के असख्य लेख, प्रवचन, पत्र-व्यवहारो के पीछे इनका अविश्रान्त उद्योग छिपा हुआ है। इनके निरभिमान ने इन्हें कभी प्रकाश में नहीं आने दिया। परन्तु इनके भक्तिमय परिश्रम ने गुजराती भाषा के चिन्तन-साहित्य में जो अभिवृद्धि की है, उसके लिए गुजरात की जनता इनकी सदा कृतज्ञ रहेगी।

बम्बई,
९ अगस्त, १९५३

—स्वामी आनद

अनुक्रम

स्वर्गीय श्री किशोरलाल भाई

सत्य-शोधन की विरासत : १ :

किशोरलाल भाई के प्रपितामह लक्ष्मीचद सूरत में रहते थे। वे मशरू (रेशमी और सूती मिला कपडा) बुनवाने और बेचने का व्यवसाय करते थे। उनसे पहले के पूर्वजो की कोई जानकारी नही मिल सकी। सभव है कि यह मशरू का धधा उनके वश में कई पुश्ता से चला आ रहा हो। इसी पर से इनकी अल्ल 'मशरूवाला' पड गयी। उनके कितने ही भाईबन्ध अपनी अल्ल मरचण्ट भी लिखते है। परन्तु यह अल्ल एकदम नयी लगती है।

लक्ष्मीचन्द दादा परम्परा से तो वल्लभ-सप्रदाय के वैष्णव थे। परन्तु उन दिनो वल्लभ-सप्रदाय में बहुत गन्दगी फैली हुई थी। इसलिए उस पर इन्हें श्रद्धा नही रही। किन्तु इससे धर्ममात्र पर से उनकी श्रद्धा नही हटी। इसके विपरीत धार्मिक जीवन में निश्चित श्रद्धा होने के कारण वे ऐसे किसी धर्म-मार्ग की खोज मे थे, जो चित्त को शान्ति प्रदान कर सके। इसलिए वे जुदा-जुदा पथो के साधु-सन्तो और वैरागियो से मिलते रहते और अपनी खोज तथा उपासना जारी रखते। सत्य की खोज और उपासना की विरासत 'मशरूवाला' वश में पाँच पुश्तो से चली आ रही है।

इस सत-समागम के सिलसिले में लक्ष्मीचन्द दादा स्वामी नारायण-सप्रदाय के साधुओ के सपर्क में भी आये। उनकी बातें सुनकर श्री सहजानन्द स्वामी पर उनकी श्रद्धा हो गयी।

सहजानन्द स्वामी (ई० स० १७८१ से ई० स० १८३०) महातपस्वी और वीतराग पुरुष थे। अयोध्या के पास एक गाँव मे एक साधुचरित ब्राह्मण दम्पति के यहाँ उनका जन्म हुआ था। इस समय यह गाँव छपैया-स्वामी-नारायण के नाम से परिचित है। सप्रदाय के अनुयायी इसे बहुत बडा तीर्थ मानते हैं। ठेठ बचपन से वे वैराग्यशील थे। उन्नीस वर्ष की आयु तक उन्होने केवल तपोमय जीवन बिताया, और देश के अनेक तीर्थो में घूमे। इसके बाद जनता के हित के लिए बाह्य दृष्टि से त्याग के पक्ष को सौम्य करके भक्ति और

उपासना की पुष्टि तथा बहुत से लोगों के समास (लोकसंग्रह) के विचार से प्रवृत्ति शुरू कर दी। संवत् १८५६ का श्रावण वदी ६ का दिन स्वामी नारायण-सम्प्रदाय के सत्संगियों में बड़ा मंगल दिवस माना जाता है, क्योंकि इसके बाद के तीस वर्ष सहजानंद स्वामी ने गुजरात-काठियावाड़ में ही बिताये और उद्धव-सम्प्रदाय (स्वामी नारायण-सम्प्रदाय का पारिभाषिक नाम) का धर्मधुरा वहन किया। स्वामी नारायण एकेश्वर की भक्ति का उपदेश करते और मंत्र, जंत्र तथा मलिन देव-देवियों से न डरने की बात समझाते। उनके ये शब्द सीधे हृदय में उतर जाने लायक हैं :

" जीव के प्रारब्ध कर्म का उल्लंघन करके तो रुद्र, भैरव, भवानी आदि देवी-देवता जीव को सुख-दुख देने अथवा मारने-जिलाने के लिए समर्थ नहीं हैं। हाँ, परमेश्वर अवश्य प्रारब्ध, कर्म और मृत्यु को अन्यथा कर सकता है, और मृतकों को जिला सकता है अथवा जीवितों को मार सकता है। दूसरे कोई देवी-देवता ऐसा नहीं कर सकते। इसलिए केवल एक परमेश्वर का आश्रय लेकर भजन-स्मरण करते रहना चाहिए और अन्य किसी देवी-देवता का भय नहीं रखना चाहिए। हम सब तो भगवान के भक्त और शूरवीर हैं। इसलिए हरिभक्त के मन में तो किसी प्रकार का भय हो ही नहीं सकता। अगर मंत्र-जंत्र से तथा औषधियों से कोई मनुष्य जीवित रह सकता तो पृथ्वी पर ऐसा कोई तो होता। परन्तु ऐसा कोई दीखता नहीं।"

इसके अलावा उस समय धर्म के नाम पर अनेक अंध-विश्वास तथा सती और बालहत्या जैसी कुप्रथाएँ प्रचलित थीं। शादियों के समय तथा होली के दिनों में गन्दे गीत तथा मर्यादाहीन खेल-तमाशे आदि भी प्रचलित थे। इन सब का स्वामीजी ने सफलतापूर्वक विरोध किया। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि पारसी, मुसलमान आदि अहिन्दू जातियों को भी उन्होंने अपने सम्प्रदाय में शामिल कर लिया। इसी प्रकार शूद्र गिनी जानेवाली कौमों को भी सम्प्रदाय में लेकर उनकी धार्मिक उन्नति की। स्वामी नारायण के शिष्यों में कड़िया (राज), दरजी, बढ़ई, मछुआ (मछुआ), मोची, ढेढ (महार) वगैरह कारीगर लोग बहुत बड़ी संख्या में थे। उनका सुधार वे करते। नीच गिनी जानेवाली जातियों को ऊपर उठाकर उनके अंदर ऊँचे संस्कार डालते। उन्होंने ढेढ, मोचों,

बढई, दरजी, कुर्मी और मुसलमानो तक को शुद्ध ब्राह्मणो जैसा रहना सिखा दिया। मद्य, मास और मादक वस्तुओ का त्याग करना, रोज नहाना, पूजा किये बिना कुछ नही खाना और दूध अथवा जल बगैर छाने नही पीना—ये स्वामी नारायणीय सस्कार थे। सत्सगी लोग तो उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम ही मानते है। परन्तु दूसरे लोग भी उन्हें एक महान् सुधारक और विशेषत पिछडी हुई तथा नीची कौमो के उद्धारक के रूप में मानते है। इसमे तो कोई सन्देह ही नही कि अपने जीवनकाल में उन्होने गुजरात और काठियावाड में सुधार और शुद्धि की एक बहुत बडी लहर फैला दी।

दादा जैसे सत्य-शोधक, सदाचार और शुद्धि का इतना जबरदस्त आग्रह रखनेवाले, ऐसे सद्गुरु द्वारा आकर्षित हो, यह स्वाभाविक ही था। फलत वे सकुटुम्ब सहजानद स्वामी के अनुयायी बन गये। वल्लभकुल के आचार्य यह सहन नही कर सके कि उनके सप्रदाय को छोडकर इस तरह कोई बाहर चला जाय। इसलिए उन्होने लक्ष्मीचन्द को अनेक प्रकार से परेशान करना-कराना शुरू किया। इस कारण उन्हें अनेक सकट सहने पडे और खतरो का सामना करना पडा। परन्तु स्वामी नारायण-सप्रदाय के अपने आग्रह को उन्होने नही छोडा। इसलिए सप्रदाय में इस कुटुम्ब को 'सिंहकुटुम्ब' कहा जाता है। स्वामी निष्कुलानद ने लक्ष्मीचद और उनके बडे लडके लल्लूभाई का उल्लेख अपनी 'भक्त-चिंतामणि' में किया है।

लक्ष्मीचद दादा सूरत में सैयदपुरा में रहते थे। उनके मकान में सहजानद स्वामी का आगमन हुआ था। इस कारण इस मकान के साथ मशरूवाला कुटुम्ब का बडा ममत्व रहा है। आर्थिक कठिनाई के कारण जब इस मकान को बेचने का प्रसग आया, तब चन्दूलाल दुल्लभदास नाम के एक सत्सगी कुटुम्ब ने इसे खरीद लिया। अपने बडे भाई बालूभाई के साथ किशोरलाल भाई इस मकान पर एक बार गये थे। परन्तु वे कहते थे कि उन्होने उसे पूरी तरह घूम-करके नही देखा था।

सहजानद स्वामी जब लक्ष्मीचन्द दादा के यहाँ गये, तब उन्होने अपनी चादर बिछाकर उस पर घिसे हुए चन्दन में उनके चरणो की छाप लिवा ली थी। उस छाप से बत्तीस जोड़ चरण-छापें बनायी गयी। लक्ष्मीचदजी के चार लडको में

जब बँटवारा हुआ, तब उसमें से आठ जोडी छापें किशोरलाल भाई के दादा रंगीलदास उर्फ घेलाभाई के हिस्से में आयी थी। इन रंगीलदास भाई के भी चार लडके थे। प्रत्येक के हिस्से मे दो-दो जोड छापें आयी। किशोरलाल भाई के घर ये दो जोड छापें आज भी मौजूद है।

उस समय के पुराने सप्रदायवालो को स्वामी नारायण-सप्रदाय की यह सुधारक वृत्ति जरा भी अच्छी नही लगती थी। इसलिए जिन कुटुम्बो ने स्वामी नारायण-सप्रदाय में प्रवेश किया था, वल्लभ-सप्रदाय के आचार्यो की प्रेरणा से उन्हें जाति से बाहर करके समाज से भी उनका पूरा बहिष्कार कर दिया गया। ब्राह्मण, बनिये, मोची, नाई सब जातियों में यह किया गया। महाजनो के हाथो में उस समय इतनी सत्ता थी कि मुसलमान जुलाहे भी इन बहिष्कृत कुटुम्बो के साथ व्यवहार करने में डरते थे। उस समय गुजरात में राज्यसत्ता एकदम निर्बल अथवा नाममात्र की रह गयी थी। सर्वोपरि सत्ता मानो महाजनो के हाथो में ही थी। वे अपने गाँव के अधिकारियो को तग कर मारते थे, इसमे तो कोई सन्देह नही है। परन्तु दूसरी तरफ ये महाजन सपूर्णतया धर्माचार्यों के अधीन रहते। गाँवो में पचायतें और शहरो में पेशेवर 'महाजन' हमारे देश में बहुत प्राचीन काल से चले आये प्रजासत्ताक पद्धति के अवशेष थे। राजाओ के हाथो में मुख्यत सैनिक सत्ता होती थी। अन्य सारी बातो में वे गाँवो में पचायतो की और शहरो में 'महाजनो' की बात मानते थे। परन्तु मुगलो और मराठो की सत्ता गिरने के बाद अठारहवी सदी के उत्तरार्ध में और उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ में लगभग अराजकता जैसी स्थिति देश में फैली हुई थी। अराजकता के इस युग में इन ग्राम-पचायतो और 'महाजनो' के सामने सबसे अधिक महत्त्व का प्रश्न आत्मरक्षा का था। इसलिए उन्होने पुराने को पकडे रखने की वृत्ति का आश्रय ले रखा था। अपने को आश्रय देनेवाले इन सप्रदायो के भ्रष्टाचार को ये 'महाजन' न केवल दरगुजर करते थे, बल्कि उनका समर्थन भी करते थे। गुजरात में अग्रेजी राज्य के जड पकड लेने के बाद जब नियमानुसार वहाँ अदालतो की स्थापना हुई, तब इन जाति और समाज द्वारा बहिष्कृत कुटुम्बो ने अदालत की शरण ली। उन्होने वल्लभकुल के आचार्य और इन महाजनो पर मुकदमा दायर कर दिया, जो छह वर्ष तक चला। उसमें वल्लभकुल के आचार्य का बयान लेने

की जरूरत पैदा हुई। इस पर उनकी तरफ से दरखास्त की गयी कि आचार्यजी का बयान कमीशन पर लिया जाय। स्वामी नारायण पक्ष ने इसका विरोध किया और उसकी पुष्टि में कहा गया कि आचार्यश्री नाट्यशालाओं में, नाचों में और वारानाओं के जुलूसों तक में जाते हैं। वारागनाएँ जिस जाजम पर नाचती हैं, उसी जाजम पर बैठकर उनके नाच भी वे देखते हैं। इस पर कोर्ट ने वल्लभकुल के आचार्य के नाम यह आज्ञा जारी की कि वे कोर्ट में आकर ही अपना बयान पेश करें। इस पर आचार्य को बड़ा आघात पहुँचा। वस्तुत इस बहिष्कार के प्रकरण में आचार्य तो नाममात्र को ही शरीक थे। सारा कर्तृत्व उनके पुत्र का था। परन्तु कारोबार तो पिता के नाम से चलता था। वृद्धावस्था में कोर्ट में जाने की नौबत आना उन्हें बहुत बुरी तरह अखरा। उन्होंने आज्ञा दी कि महाजनों को एकत्र करके किसी तरह यह झगडा निपटा दिया जाय अन्यथा वे अपना प्राण दे देंगे। इसका परिणाम यह हुआ कि बहिष्कार के निश्चय रद्द कर दिये गये और महाजनों की बैठक सत्संगियों के यहाँ हुई। महाजनों के विरुद्ध दायर किये गये इस दीवानी मुकदमे में लक्ष्मीचदजी के पुत्रों ने और विशेष रूप से किशोरलाल भाई के पितामह रगीलदास उर्फ घेलाभाई ने प्रमुख भाग लिया था और खर्च का अधिकाश बोझ भी उन्होंने उठाया था।

यो यद्यपि ऊपर से समझौता हो गया, फिर भी वल्लभकुल और स्वामी नारायणकुल के अनुयायियों के बीच कुछ-न-कुछ अनबन और झगडे बहुत दिनों तक चलते ही रहे। विधिवत बहिष्कार तो उठा लिया गया, फिर भी स्वामी नारायण-सम्प्रदाय के अनुयायियों के साथ यथाशक्य सम्बन्ध न रखने की वृत्ति तो कायम ही रही। इसका परिणाम यह हुआ कि किशोरलाल भाई के पिता तथा चाचा आदि को जाति में से जल्दी जल्दी कन्याएँ नहीं मिलीं। समय को देखते हुए उनके विवाह बडी उम्र में हो सके। सूरतवालों ने तो लडकियाँ नहीं ही दीं। इन चार भाइयों में से तीन के विवाह बम्बई में और एक का बुरहानपुर में हुआ। बुरहानपुर जब बारात पहुँची, तब समधी की तरफ से कहा गया कि कण्ठी तोडोगे तब कन्या मिलेगी। कन्या पक्षवालों का अनुमान था कि बारात को वापिस ले जाने के बदले—वापिस जाना बुरा दिखेगा इस भय से—ये लोग हमारी शर्तें मान लेंगे। परन्तु इन्होंने तो अपने आदमियों को हुक्म दे दिया कि

वापिस चले चलो। यह देखकर समधी और उनके रिश्तेदार ठण्डे पड गये। फिर उन्होने यह चाहा कि सम्प्रदाय के दूसरी जातिवाले आदमियो को आप शादी में निमन्त्रण न दें। किशोरलाल भाई के बुजुर्गो ने इस बात को भी मानने से इनकार कर दिया। अत मे समधी को झुकना ही पडा।

स्वीकृत धर्म पर दृढ रहने की एक और कहानी है। अपनी सपूर्ण जाति में से केवल किशोरलाल भाई के कुटुम्ब ने ही स्वामी नारायण-पथ स्वीकार किया था। इसलिए उन्हे बेटी-व्यवहार अपनी जाति के वल्लभ-सप्रदाय को माननेवाले कुटुम्बो के साथ ही करना पडता। कुटुम्ब में एक कन्या थी—जडाव बहन। इनका विवाह बुरहानपुरवाले उपर्युक्त कुटुम्ब में ही बाद में हुआ। जडाव बहन के ससुरालवालो ने बहुत प्रयत्न किया कि वे स्वामी नारायण-सप्रदाय की अपनी कण्ठी तोडकर फेंक दे। परन्तु उन्होने बहादुरी के साथ इस सारे प्रयत्न का विरोध किया। यही नही, बल्कि यह आग्रह भी किया कि कुटुम्ब की ओर से वैष्णव मन्दिरो में जिस प्रकार दान, सेवा, पूजा आदि पहुँचती है, उसी प्रकार उनकी अपनी ओर से स्वामी नारायण के मदिर में भी दान, सेवा, पूजा आदि पहुँचनी चाहिए। इसके बाद मशरूवाला कुटुम्ब की कन्याएँ जिस जिस कुटुम्ब मे गयी उनमें से बहुत से कुटुम्बो में दोनो सप्रदायो के मदिरो में दान, सेवा, पूजा आदि भेजवाने का रिवाज शुरू हो गया।

रगीलदास दादा को अपनी धार्मिक मान्यताओ की स्वतत्रता के लिए आजीवन लडाइयाँ लडनी पडी। इस वातावरण में बढे हुए किशोरलाल भाई के पिताश्री तथा चाचाओ के हृदय में स्वामी नारायण-सप्रदाय के प्रति खासा ममत्व बढ गया था। सप्रदाय के खातिर सर्वस्व का बलिदान करने के लिए सारा कुटुम्ब सदा एकमत से तैयार रहता।

रगीलदास दादा को अपने जीवन में बहुत कष्ट झेलने पडे। बडा कुटुम्ब और आर्थिक स्थिति सामान्य। फिर एक बार तो मकान ही जल गया। अनेक वर्षो तक वे समाज से बहिष्कृत रहे। बाद में मुकदमेबाजी में बहुत खर्च हो गया। इसके बाद पहले-पहल नमक-कर लगाने पर, जब उसके विरोध मे सूरत में उपद्रव हुए, तो उनके पुत्र मछाराम भी गिरफ्तार हो गये थे। यह मुकदमा भी बहुत दिन तक चलता रहा, जिसमे वकील-बैरिस्टरो पर बहुत खर्च हो गया। इतने

पर भी ऐसा तो नहीं मालूम होता कि कुटुम्ब की आर्थिक स्थिति एकदम दरिद्र रही होगी, क्योंकि उस समय को देखते हुए उन्होंने अपने लडको को अच्छी शिक्षा दी। लडकियो को भी सर्वथा अशिक्षित नही रहने दिया। फिर सूरत में स्वामी नारायण का मन्दिर बनवाने मे इनका तथा इनके भाइयो का खासा हाथ रहा। किशोरलाल भाई के कुटुम्ब में प्राय गर्व के साथ कहा जाता कि सूरत का मदिर तो हमारा है। सूरत के मदिर के सचालन में रगील्दास दादा प्रमुख भाग लेते रहे। तात्पर्य यह कि इनके पास धन कम रहा हो या अधिक, इनकी प्रतिष्ठा अच्छी थी।

लक्ष्मीचद दादा के पुत्रो में केवल रगीलदास दादा के कुटुम्ब मे ही पुत्र सतानें थीं। सप्रदाय सम्बन्धी झगडा में भी अधिकाश भार दादा के कुटुम्ब पर ही आया। दादा के पुत्रो मे इतनी एकता थी कि इसके लोग इस कुटुम्ब को आदर्श रूप मानते। दादा के पाँच पुत्र थे, इसलिए सप्रदाय में इसका नाम पाण्डव-कुल पड गया।

दादा भी मशरू का ही धन्धा करते थे। किशोरलाल भाई के बडे काका साकरलाल ने इस धन्धे को चालू रखा था। उनकी मृत्यु सवत् १९३३ (ई० स० १८७७) में हुई। इसके छह महीने बाद रगीलदास दादा की मृत्यु हुई। उसके बाद इनके कुटुम्ब में से मशरू का धन्धा उठ गया।

हमारे देश मे आमतौर पर ऐसा पाया जाता है कि मनुष्य जिस सप्रदाय और जाति में जन्म लेता है, अक्सर उसी जाति और सप्रदाय में वह मरता भी है। स्वतन्त्र रूप से विचार करनेवाले मनुष्य बहुत थोडे होते हैं। इनमें भी अपने विचारो पर दृढ रहकर, उन्हें समाज के सामने निर्भयता के साथ पेश करनेवाले वीर पुरुष तो और भी कम होते है। किशोरलाल भाई के बडे दादा लक्ष्मीचदजी ने वीरोचित वृत्ति से वल्लभ-सप्रदाय के विरुद्ध बगावत की और अनेक प्रकार की मुसीबतें और कष्ट उठाकर स्वामी नारायण-सप्रदाय को अपनाया। बडे दादा का यह गुण किशोरलाल भाई में पराकाष्ठा को पहुँच गया था। अथवा यो कहिये कि उन्होंने उसका विकास करके उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था। जिस प्रकार बडे दादा वल्लभ-सप्रदाय में अपने आपको सीमित नही रख सके, उसी प्रकार किशोरलाल भाई भी बडे दादा से परम्परा में प्राप्त स्वामी नारायण

सप्रदाय में अपने आपको सीमित नही रख सके। उनकी विशेषता यह थी कि दूसरे किसी सप्रदाय में वे शामिल नही हुए। इसका एक कारण यह था कि उनकी धर्म-भावना विशेष उत्कट और विवेकयुक्त थी। मनुष्य ज्यो-ज्या आगे बढता जाता है और स्वतत्र दर्शन करता जाता है, त्या-त्यां किमी भी सप्रदाय की वाड उसे अपने बन्धन में नही रख पाती। किशोरलाल भाई पर गाधीजी का प्रभाव बहुत अधिक पडा था। उन्हें किशोरलाल भाई एक सद्गुरु मानते और उन पर बडी श्रद्धा भी रखते थे। इसके अलावा उन पर इनका पिता के समान बल्कि उससे भी अधिक प्रेम था। फिर भी गाधीजी की सभी बातो को वे स्वीकार नही करते थे और अपने मतभेद स्पष्टता तथा दृढता के साथ प्रकट भी कर दिया करते थे। गाधीजी को यह बात बहुत प्रिय थी। विचारस्वातत्र्य को वे सदैव प्रोत्साहन देते थे। नीचे लिखी धर्म की व्याख्या उन्हें बहुत प्रिय थी

विद्वद्भि सेवित. सद्भिर् नित्यम् अद्वेष रागिभि.।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्त निबोधत ॥ मनुस्मृति-२ १

इसमें भी 'हृदयेनाभ्यनुज्ञातो' इन शब्दो को वे विशेष महत्त्व का मानते थे। किशोरलाल भाई की सत्य की खोज के विषय में गाधीजी ने एक बार कहा था कि हमारी सत्य की खोज एक मार्ग मे नही, बल्कि समानान्तर मार्गों में चल रही है। धर्म का विचार करने में किशोरलाल भाई को नाथजी से एक नयी ही दृष्टि मिली थी। उन्हें वे अपना गुरु मानते और बडी श्रद्धा रखने थे। परन्तु उनके विषय में भी अपने स्वतत्र विवेक को उन्होंने छोडा नही था। केदारनाथजी का हमेशा यही उपदेश रहता है कि अपनी साधना में मुख्य आधार आप अपने विवेक को ही बनावें। इमी प्रकार अब तक हुए समस्त धर्म-प्रवर्तको और आचार्यों के प्रति किशोरलाल भाई बहुत आदर रखने, तथापि उनमें से किसीको उन्होंने कभी सर्वशक्तिमान अथवा सर्वज्ञ नही माना। अपनी 'जडमूल से क्रान्ति' नामक पुस्तक में उन्होने घोषणा की है -

मानो परमात्मा एक केवल
न मानो देव-देवता-प्रतिमा सकल
न मानो कोई अवतार-गुरु-पैगम्बर

सर्व सद्गुरु-बुद्ध-तीर्थंकर
मानो ज्ञानी विवेकदर्शी केवल
न कोई सर्वज्ञ अस्खलनशील
भले ऊँची रहवर

महा धर्मग्रन्थो में 'अपौरुषेय' और 'प्रामाण्य' के विषय में उनकी घोषणा यह है ·

किसी शास्त्र का वक्ता परमेश्वर
न कोई विवेक के क्षेत्र से परे

किशोरलाल भाई का वंश-वृक्ष इस प्रकार है ·

रंगीलदास उर्फ घेलाभाई = नवलकोर

साकरलाल नंदकोर दामोदरदास मंछाराम पार्वती आत्माराम इच्छाराम

(इच्छाराम की संतानें:)

जमनादास ईश्वरदास नानाभाई जगमोहनदास किशोरलाल हरिलक्ष्मी रमणलक्ष्मी
× × ×
जीवकोर बहन विजया बहन गोमती बहन
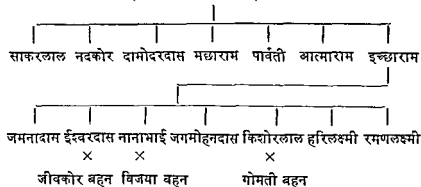
किशोरलाल भाई की तीन बहनें और एक भाई ठेठ बचपन में ही शान्त हो गये थे। सबसे बडे भाई जमनादास और चौथे भाई जगमोहनदास क्रमश. १६ और १७ वर्ष की आयु में शान्त हो गये। हरिलक्ष्मी बहन की मृत्यु १४ वर्ष की आयु में और रमणलक्ष्मी बहन विधवा होकर २० वर्ष की आयु में शान्त हो गयी। ● ● ●

कुटुम्ब की सार्वजनिक प्रवृत्तियाँ : २ :

ठेठ लक्ष्मीचद दादा के समय से इस कुटुम्ब में सार्वजनिक प्रवृत्तियो के विषय में एक प्रकार का उत्साह दिखाई देता है। रगीलदास दादा ने इस उत्साह को कायम रखा था। किशोरलाल भाई के पिताश्री, काका तथा बडे भाई भी सार्वजनिक चन्दे एकत्र करने मे तथा लोक-सेवको की मदद करने में प्रमुख भाग लिया करते थे। साथ ही वे अपना धधा भी करते रहते। सार्वजनिक सेवा के लिए अपना सपूर्ण जीवन अर्पित करना तो किशोरलाल भाई के भाग्य में ही था। इनके एक चाचा मछाराम ने सार्वजनिक काम करते हुए बहुत कष्ट उठाये। यह बात सूरत शहर के इतिहास में सर्वविदित है। दादा रगीलदास का अधिक प्रचलित नाम घेलाभाई था। इसलिए मछाराम काका को लोग मछाराम घेलाभाई के नाम से अधिक जानते थे। किशोरलाल भाई अपने कुटुम्ब के सस्मरणों में लिखते है "इनके साथ मेरा प्रत्यक्ष परिचय केवल चार बार ही हुआ। परन्तु उनके साहित्य और जीवन-चरित्र के पढने और उनकी कीर्ति से मुझे उनका परिचय है। मैंने इनके दूसरे ग्रन्थ तो नही देखे, परन्तु बच्चा के विनोदार्थ लिखी दो पुस्तके 'चतुरसिंग' और 'मूर्खो' मैंने दिलचस्पी के साथ पढी थी।"

मछाराम काका सूरत के 'देशमित्र' पत्र के आदि सस्थापक थे और अपने जीवन के अत तक इसका सपादन उन्होंने किया। 'देशमित्र' पत्र की स्थापना से पहले उन्होंने 'सत्य' मासिक और 'गुजरात मित्र' पत्र चलाये। उस समय दो-एक बार इन पर सरकार की कुदृष्टि भी पडी थी। एक बार तो इन्हें चेतावनी देकर छोड दिया गया और दूसरी बार इन्हें अफसोस प्रकट करने पर छुट्टी मिली। ऐसा नही लगता कि उन पर बाकायदा कोई मुकदमा चला हो। अपने समय में वे सूरत के एक अगुआ और उत्साही गृहस्थ माने जाते थे।

इनके समय में नमक पर पहले-पहल कर लगाया गया। इसके परिणाम-स्वरूप सूरत में खूब उपद्रव हुए और अनेक फौजदारी मुकदमे चले। एक मुकदमा

मछाराम काका और अन्य पाँच अगुआ पर दायर हुआ। ये मुकदमे एक विशेष ट्रिब्युनल को सौंप दिये गये। लगभग सात महीने तक छह अगुए हवालाती कैदी के रूप में जेल में बन्द रहे। इन छहो मे मछाराम काका सबसे अधिक हिम्मत-वाले थे। इन छहो अगुआ के हाथो म हथकडी डालकर उन्हें हवालात से अदालत मे ले जाया जाता। रास्ते में इन्हें देखकर कितने ही आने-जानेवालो की आँखो मे आँसू आ जाते। तब मछाराम काका उन्हें यह कहकर आश्वासन देते कि सोने और लोहे में क्या फर्क है? सोने की जजीरें तो हम खुद ही पहनते हैं। इनको भी सोना समझ लें, तो काम बना।

प्रारम्भ में कचहरी के भीतर भी इनके हाथो मे हथकडियाँ पडी रहती। बाद में अदालत ने आज्ञा दी कि कचहरी के भीतर हथकडियाँ हटा दी जायें। परन्तु पुलिस ने दो एक दिन तक इस आज्ञा की परवा नही की। न्यायाधीश के आने पर अथवा आने से तुरन्त पहले पुलिस हथकडी निकालने के लिए आयी, परन्तु मछाराम काका ने उसे वह निकालने नही दी और न्यायाधीश के आने पर हाथ ऊँचे करके बोले—"देखिये, यह है आपका हुक्म।" न्यायाधीश पुलिस पर नाराज हुए। उसके बाद फिर ऐसा नही हुआ।

कहते हैं कि इन पर मुकदमा चलाने में तत्कालीन उत्तर विभाग के कमिश्नर सर फ्रेडरिक लेली का हाथ था। कुछ समय बाद इसी कमिश्नर ने इन्हें 'राव-साहब' की पदवी देने की सिफारिश की थी। उस प्रसग में उनका अभिनन्दन करने के लिए निमन्त्रित सभा में मछाराम काका ने कहा कि 'जब इन साहब ने मेरे हाथो में लोहे की जजीरें पहना दी थी, तब मैंने इनका आभार माना था, आज जब ये सोने की जजीरें इनायत फर्मा रहे हैं तब भी मैं इनका उसी तरह आभार मानता हूँ।"

इन पर चलाये गये मुकदमे के कारण कुटुम्ब को बहुत भारी आर्थिक हानि सहनी पडी। मछाराम काका की तरफ से श्री गिल तथा सर फिरोजशाह मेहता ऐसे दो बैरिस्टर पैरवी करने के लिए बुलाये गये थे। कहते हैं कि इनमे से गिल तो प्रतिदिन एक हजार रुपया लेते थे। आज तो इतनी फीस बहुत भारी नही मानी जाती परन्तु उस समय के एक हजार रुपये आज के पद्रह या बीस हजार के बराबर होते थे। सर फिरोजशाह की फीस इतनी भारी नही रही होगी,

क्योंकि उस समय वे नये-नये ही बैरिस्टर हुए थे और यह उनका सबसे पहला बड़ा मुकदमा था। यह मुकदमा बहुत दिनो तक चलता रहा और उसमें सैकडो गवाहो के बयान हुए। इस खर्च की पूर्ति के लिए घर की स्त्रिया के जेवर तक बेचने या रेहन रखने पडे थे। अत मे छहो अभियुक्त निर्दोप साबित हुए और छोड दिये गये। मुकदमे के दिना में मछाराम काका का अखबार किशारलाल भाई के पिता और इच्छाराम सूरजराम देसाई (इच्छू काका) —इन दोनो ने मिलकर चलाया। उस समय एक बार पुलिस ने प्रेम की तलाशी ली थी। किशोरलाल भाई ने लिखा है कि पिताजी कहते थे कि एक सदेहास्पद कागज पुलिस के हाथो में न पहुँच जाय, इसलिए तलाशी के बीच नजर बचाकर इच्छू-काका ने उसे मुँह में रख लिया और चबा गये। इच्छू काका को अपनी जेब मे चने-मुरमुरे रखने की आदत थी। पुलिस ने इच्छू काका को कुछ चबाते हुए देखा और पूछा, तो जेब में से चने मुरमुरे निकालकर पुलिस को देते हुए कहा "लीजिये, आप भी नोश फर्माइये।"

मछाराम काका जब तक जिये, तब तक सूरत के स्वामी नारायण-मदिर के सचालक रहे। जिस प्रकार इन्हें सप्रदाय के खातिर अपनी जाति से अनेक बार लडना पडा, उसी प्रकार सप्रदाय के आचार्यों के साथ भी इन्हें कई बार लडना पडा। आचार्यों की मनमानी वे कभी बरदाश्त नही करते थे। वे उसका कडा विरोध करते। आचार्य श्री बिहारीलालजी से उन्होंने दो-एक बार बडी टक्कर ली और उन्हे न्याय के मार्ग पर चलने को मजबूर किया। सूरत के मदिर का सचालन इन्होंने आचार्यों से लगभग स्वतत्र कर लिया था।

◆ ◆ ◆

माता-पिता : ३ :

किशोरलाल भाई के पिताश्री श्री इच्छाराम का जन्म ता० १ जनवरी सन् १८५२ के दिन कडोद (सूरत जिले की बारडोली तहसील) में अपने ननिहाल में हुआ। वे दादा की अंतिम सन्तान थे और बचपन में ही शरीर से दूसरे भाइयों की अपेक्षा कमजोर थे। उनका सारा बचपन सूरत में बीता। उनकी पढाई मैट्रिक तक हुई। उस समय उनकी उम्र कोई इक्कीस वर्ष की रही होगी। मिशन हाईस्कूल में वे पादरी से पढे, इसलिए अंग्रेजी भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। उनके आजीवन मित्रों में श्री मगनलाल ठाकोरदास मोदी, उनके भाई श्री छगनलाल मोदी तथा श्री इच्छाराम सूरजराम देसाई मुख्य थे। पढाई पूरी होते ही आर्थिक स्थिति साधारण होने के कारण उन्होंने शिक्षक की नौकरी कर ली। लगभग सात वर्ष शिक्षक का काम किया। इसमें से अधिकांश समय मिशन हाईस्कूल में बीता। वे एक कुशल शिक्षक माने जाते थे।

इसके बाद अपने भाई मछाराम के प्रेस तथा समाचार-पत्र के संचालन में मदद करते रहे। प्रारम्भ में उन्हें लिखने का शौक भी था। मछाराम काका के मुकदमे के दिनों में उन्होंने तथा इच्छाराम सूरजराम देसाई दोनों ने मिलकर समाचार-पत्र चलाया। इच्छाराम सूरजराम देसाई ने 'हिन्द अने ब्रिटानिया'— नामक एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी थी। उसमें भी इनका बडा हाथ था। मालूम होता है कि बाद में उन्होंने लेखनप्रवृत्ति को एकदम छोड दिया। हाँ, वाचन का शौक उन्हें अन्त तक रहा, परन्तु वह भी धीरे-धीरे धार्मिक पुस्तकों और उनमें भी विशेषकर स्वामी नारायणीय साहित्य तक ही सीमित होता गया।

मिशन हाईस्कूल में उन पर ईसाई धर्मोपदेश का अच्छा असर हुआ। कई वर्ष तक उनके दिल में यह संघर्ष चलता रहा कि ईसाईधर्म सच्चा है या हिन्दूधर्म। ईसाई कहते कि ईसामसीह ही मनुष्यों का तारनेवाला है। उसकी शरण गये बिना मनुष्य का उद्धार नहीं हो सकता। मंदिरों में साधु लोग कहते कि जिन्होंने सहजानंद का अनुसरण नहीं किया, वे भवसागर में गोते खा रहे हैं।

दूसरे सम्प्रदायवाले भी अपने-अपने इष्टदेव के बारे में ऐसा ही प्रचार करते। इनमें से सच्चा कौन है? इसका निराकरण कौन करे? फिर भी उन्होंने स्वामी नारायण-सम्प्रदाय के अनुसार पूजापाठ जारी रखा। परन्तु मन में शंका पैठी हुई थी, इस कारण उनके चित्त मे शान्ति अथवा समाधान नही हो रहा था। वे कहते कि "मैं श्रीजी महाराज अथवा अन्य किसी अवतारी पुरुष को ध्यान में रखकर पूजा-पाठ नही कर सकता था। बल्कि परमेश्वर का जो भी सच्चा स्वरूप हो, उसे अर्पण करता और उससे प्रार्थना करता कि मेरे उद्धार का जो सही मार्ग हो, वह मुझे बताये। मैंने यह भी निश्चय किया कि ईश्वर से यह मार्गदर्शन पाने के लिए ससार को छोडकर उसके चरणो मे अपना जीवन अर्पण कर दूँ।" किशोरलाल भाई ने लिखा है कि "अपने इस अतिम निश्चय पर वे अक्षरश दृढ नही रह सके थे। इस पर पश्चात्ताप करते हुए मैंने भाई (पिताजी) को देखा था।"

इनके एक मित्र बडे मजाकिया थे। वे इन्हें 'स्वामी-नारायणीयों' कहकर चिढाते। परन्तु एक बार बम्बई में किसी स्वामी-नारायण के सतजन का उपदेश सुनकर इस मित्र के मन को बडी शान्ति मिली, और वही उन्होंने स्वामी नारायण की कण्ठी ले ली। अपने मित्र में यह परिवर्तन देखकर पिताजी पर बडा असर पडा। इसके बाद उन्हें क्या-क्या प्रत्यय हुए, यह तो पता नही। परन्तु अनेक भिन्न-भिन्न प्रत्ययो से इनके मन को निश्चय हो गया कि सहजानद स्वामी ही पूर्ण पुरुषोत्तम हैं और आज तक न तो कोई ऐसा अवतार हुआ है और न होने-वाला है, जो उनकी तुलना में रखा जा सके। उनका यह निश्चय अत तक दृढ रहा। दूसरा के मन पर भी यह वस्तु अकित करने में मिशनरियो का-सा उत्साह वे प्रकट करते। अपने आश्रितो, स्वजनो, नौकर-चाकरो, धधे के सिलसिले में उनके सपर्क मे आनेवाले मजदूरों, व्यापारियों आदि सबको यह निश्चय दिलाने का वे पूरे अत करण से प्रयत्न करते और उसमें एक प्रकार का आनद अनुभव करते कि सहजानद स्वामी पुरुषोत्तम थे। अनेक लोगों ने कण्ठी में उन्होंने स्वामी-नारायण की कण्ठी डाली। परन्तु इनमें से कोई हमेशा के लिए सत्सगी बने हो, ऐसा नही लगता। हाँ, साम्प्रदायिक परिभाषा के अनुसार गुणबुद्धिवाले अवश्य अनेक बन गये थे। सारिस्य के विषय में उन्हें बडा आदर था। परन्तु सारिस्य

के साथ-साथ स्वामी महजानद में श्रद्धा होना मोक्ष के लिए आवश्यक है, ऐसा वे मानते थे। इन दोनो के योग को वे सोने मे सुगन्ध के समान उत्कृष्ट मानते। यह स्वाभाविक ही था कि अपना यह धर्मप्रचार वे घर में भी करते। इसलिए उनका यह सतत प्रयत्न रहा कि सहजानद स्वामी मे उनके जैसी उत्कट श्रद्धा उनकी पत्नी की भी हो।

किशोरलाल भाई की माता अपने पीहर में वल्लभ-सप्रदाय में पली थी। अपने सस्कारा के अनुसार वे श्रीजी को इष्टदेव मानती। सहजानद स्वामी तो एक आचार्य माने जा सकते है। भगवान ता श्रीजी ही हैं। वे मानती कि सहजानद स्वामी को श्रीजी की बराबरी में नही बैठाया जा सकता।

ऐसा लगता है कि स्वामी नारायण-सप्रदाय को स्वीकार कर लेने पर भी किशोरलाल भाई के दादा अथवा बडे दादा ने श्रीजी अथवा लालजी महाराज की सेवा छोडी नही थी। इसलिए जब तक पितार्थी सम्मिलित कुटुम्ब म रहे तब तक वल्लभ-सप्रदाय में पली हुई माताजी के धार्मिक असतोप का काई कारण उपस्थित नही हुआ होगा। परन्तु जब पिताजी विभक्त हुए और स्वतन घर बसाया गया, तब सेवापूजा का प्रश्न उत्पन हुआ। पिताजी अनन्याश्रयी थे। अपने इष्टदेव के अतिरिक्त अन्य किसी देव का न माननेवाले होने के कारण श्रीजी की मूर्ति की पूजा करने में उन्हें श्रद्धा नही थी। इसलिए उन्हाने अपने घर में पूजा के लिए केवल सहजानद स्वामी की मूर्ति ही रखी। उधर माताजी मानती कि श्रीजी की मूर्ति तो प्रत्यक्ष भगवान की मूर्ति है और सहजानद स्वामी की मूर्ति तो केवल एक आचार्य अथवा गुरु या साधु की मूर्ति है। भगवान की मूर्ति के अलावा सहजानद स्वामी की मूर्ति भी रहे तो इस पर उन्हें काई आपत्ति नही थी। परन्तु श्रीजी की मूर्ति को हटाकर सहजानद स्वामी की मूर्ति की पूजा करना तो उन्हें ऐसा लगता मानो भगवान का छोडकर मनुष्य की पूजा करने लग गये। इसलिए माताजी ने यह आग्रह किया कि पूजा में श्रीजी की मर्ति तो होनी ही चाहिए। ऐसी एक मूर्ति भेंट-स्वरूप आयी थी उसे उन्हाने पूजा में रख भी दिया। पिताजी को भी ऐसा तो नहीं लगता था कि श्रीजी की मूर्ति की पूजा करना पाप है। इसलिए उन्हाने कोई आपत्ति नही की। परन्तु बात इतने से समाप्त नही हो सकी। अब मतभेद इस बात पर खडा हुआ कि मदिर की चौकी

में प्रमुख स्थान पर किस मूर्ति को रखें। पिताजी यह मानते थे कि सच्चे देवता केवल 'सहजानंद स्वामी' ही हैं। वही पूर्ण पुरुषोत्तम, स्वयं परमात्मा हैं, उन्हें छोड़ कोई दूसरा परमात्मा नहीं, ऐसी उनकी दृढ़ आस्था थी। इसलिए उनका आग्रह यह रहता कि सहजानंद स्वामी की मूर्ति को अग्र स्थान पर बैठाकर उसकी पहले पूजा की जाय। दूसरी तरफ इसी प्रकार का आग्रह श्रीजी की मूर्ति के बारे में माताजी का था। दोनों के बीच इस विषय में बार-बार चर्चाएँ होतीं। परन्तु किसीके निश्चय का कोई बदल नहीं सका। व्यवहार में इसका परिणाम यह होता कि पिताजी पूजा करते, तब पहले सहजानंद स्वामी की मूर्ति की पूजा करते और माताजी पूजा करतीं, तब पहले श्रीजी की मूर्ति की पूजा करतीं।

इस तरह पिताजी और माताजी के बीच वर्षों तक धार्मिक मतभेद चलता रहा। परन्तु पिताजी की श्रद्धा बहुत उत्कट थी। अंत में उनके उपदेशों का असर माताजी के हृदय पर हुआ और दोनों के बीच का मतभेद समाप्त हो गया। यहाँ तक कि सहजानंद स्वामी में माताजी की श्रद्धा पिताजी के समान ही तीव्र हो गयी और बाद में तो नवदीक्षित के उत्साह के साथ वे और भी दृढ़ हो गयीं। फिर तो माताजी को सहजानंद स्वामी के दर्शन की लगन लग गयी। वे सहजानंद स्वामी की पूजा-पाठ में बहुत निमग्न रहने लग गयीं और उन्हें उनके आदेश भी मिलने लगे। यह वस्तु माताजी की मृत्यु तक जारी रही। परन्तु इस धर्मान्तर में कितने ही वर्ष बीत गये। किशोरलाल भाई लिखते हैं कि 'यह समय पिताजी तथा माताजी के लिए बड़ा अशान्ति का समय रहा। इसका मनोरंजक वर्णन मैंने पिताजी से सुना है।"

किशोरलाल भाई की सात वर्ष की उम्र में उनकी माताजी का देहान्त हो गया। वे लम्बे समय तक बीमार रहीं। फिर भी रोज स्नान ध्यान तो जारी ही था। किशोरलाल भाई ने लिखा है

'पौष सुदी नवमी के दिन पिताजी की बरसगाँठ थी। माँ ने स्वयं भोजन बनाने का आग्रह किया। मंदिर के पास सिगड़ी रखवायी। पुरणपोटी बनाकर ठाकुरजी का भोग लगाया। भोग लगवाकर बिस्तर पकड़ा, सो फिर नहीं उठीं। वे डॉक्टर-वैद्य की दवा तो लेती ही नहीं थीं। माँ के रहते साधारण• तया हमारे घर में डॉक्टर-वैद्य की दवाएँ आती ही नहीं थीं। कुछ-न-कुछ

घरेलू इलाज चलते रहते। अधिक्तर तो पानी में मिश्री डालकर ठाकुरजी के सामने रख दी जाती और वह पानी बीमार को पिला दिया जाता। इस दवा पर हम बच्चो का बडा विश्वास था। इस कारण कई बार हमारा पेट भी दुखने लग जाता।"

माताजी की मृत्यु का वर्णन किशोरलाल भाई ने इस प्रकार किया है

"रात के ग्यारह बजे (ता १-२-१८९८) माँ का देहान्त हुआ। रात में रोया धोया नही गया। तीन बजे के लगभग मैं जागा, तब देखा कि माँ को एक तरफ लिटा दिया गया है। पास में घी का दीपक जल रहा है। उनके पास पिताजी बैठे है। मुझे देखा, तो पिताजी ने मुझे इशारे से अपने पास बुलवा लिया और अपनी गोद में ले लिया। कहा कि "माँ अक्षर धाम को गयी।" तब मैंने पूछा कि "यहाँ पर यह कौन सोया है?" तो बताया "तेरी माँ सोयी है। मुंह देखना है?" "यहाँ सोयी है और अक्षर धाम को गयी", इन दो बातो का मेल मैं जल्दी नही बैठा सका। परन्तु थोडी देर में ऐसा लगा कि वे मर गयी। मैंने सुना था कि मनुष्य मरता है, तब भगवान के घर चला जाता है। फिर हम तो सहजानद स्वामी के उपासक थे। इसलिए मेरी तो ऐसी दृढ श्रद्धा थी कि हमें तो मरते समय स्वय भगवान लेने के लिए आते है और अपने धाम में ले जाते है। इसलिए माँ के मरने की बात सुनकर मुझे दु ख या शोक नही हुआ। सबेरे माँ को ले जानेवाले लोग एकत्र होने लगे। शव को ले जाते समय छोटे बच्चो को घर में नही रहने दिया जाय, यह पहले से तय कर लिया गया था। इसलिए मुझे और मुझसे तीनेक वर्ष बडे जगुभाई को किसी रिश्तेदार के घर भेज दिया गया था।

"मुझे याद आ रहा है कि शाम को मैं घर पर था। मगन काका (मगनलाल ठाकोरदास मोदी) पिताजी से मिलने आये थे। उस समय पिताजी थककर उदास लेटे हुए थे। मेरे मन में शोक जैसा कुछ नही था, ऐसा लगता है। परन्तु घर के भीतर फैले हुए शोक की छाप मुझ पर भी पडी थी। पिताजी के प्रति मेरी मूक सहानुभूति थी। मगन काका के आने पर वे उठ बैठे। मित्र को देखकर उनके हृदय में दबा हुआ शोक बाहर प्रकट हो गया। मैंने देखा कि दोनों की आँखे भीग गयी। पिताजी की आँखो में मैंने कभी आँसू नही देखे थे। इसलिए

मैं भी रो पडा। मगन काका ने और पिताजी ने मुझे अपनी गोद में लेकर मेरे माथे पर हाथ फिराया।

"इसके बाद हम बिना माँ के बच्चे हो गये—इस तरह के शब्द अनेक बार दयाभरी आवाज में हमारे सुनने में आये। वास्तव में मेरे अपने लिए तो पिताजी माँ और बाप दोनों थे। कुछ कमी रह गयी होगी, तो उसकी पूर्ति 'जी' (नानी माँ), मौसी, बडी चाची, जीवकोर भाभी आदि ने पूरी कर दी। इन सबने कभी मुझे माँ की कमी नही महसूस होने दी।

"माँ का स्वभाव उग्र, स्वाभिमानी, महत्त्वाकाक्षी, सत्ताप्रिय, आग्रही, प्रेम तथा द्वेष दोनो में उग्र, जो सत्य मालूम हो, उसे किसी की भी परवा किये बगैर पकडे रहनेवाला, धर्म में श्रद्धालु, ससार के रुढ रिवाजो के अनुकूल न होनेवाला, वात्सल्यपूर्ण और बडी उमगवाला-सा मुझे लगा।

"पिताजी का स्वभाव माँ की अपेक्षा कम उग्र और हठीला, सन्तोषी, सत्ता के बारे में अत्यत नि स्पृही, प्रेम तथा द्वेष दोनों के बारे में मद वेगवाला, सत्यनिष्ठ, धर्म के विषय में माँ के जितनी ही उत्कट श्रद्धावाला, आत्मपरीक्षण तथा चित्त-शोधन के लिए व्याकुल और प्रयत्नशील, धर्म को छोडकर दूसरी बातो में उदासीन, प्रेमभरा परन्तु मोह से सर्वथा रहित और क्लेश से ऊबनेवाला था, ऐसा मेरा मत है। दोनों में कजूसी तो नाममात्र को भी नही थी। उदारता अपनी शक्ति और हैसियत से अधिक थी, ऐसा भी कह सकते हैं।

"माँ पुस्तकीय ज्ञान अधिक नही प्राप्त कर सकी थी। परन्तु इस कारण उनके आत्मविश्वास में किसी प्रकार की न्यूनता नही दिखती थी। माँ के आग्रही स्वभाव के कारण पिताजी को कई बार झुकना पडता। उनका व्यक्तित्व ऐसा नही था कि पति जिधर ले जावें, उधर चुपचाप चली जायँ। बचपन से ही उनका व्यक्तित्व स्वतन्त्र था।

"हमारे यहाँ एक ईश्वर की भक्ति का आग्रह और मनौती आदि सकाम पूजा के प्रति अरुचि है, वह पिता और माँ के स्वभावविशेष के कारण ही है।"

◆ ◆ ◆

प्रभु को समर्पण : ४ :

किशोरलाल भाई का जन्म कालबादेवी (बम्बई) में किसी किराये के मकान में संवत् १९४६ के दूसरे भाद्रपद वदी सप्तमी को रविवार ता ५-१०-१८९० के दिन हुआ। इनसे तीन वर्ष बडे एक भाई थे, जिन्हें घर मे जगुभाई कहते थे। उनका नाम जुगल रखा गया। तब से माता पिता ने सोच रखा था कि इसके बाद जो बच्चा हो उसका नाम किशोर रखा जाय, जिससे दोनो भाइयो की जोडी को जुगलकिशोर कहा जा सके।

किशोर के जन्म के कुछ ही दिना बाद पिताजी को अपने काम से अकोला जाना पडा। अकोला में दिवाली में रुई का मौसम शुरू हो जाता है। उन्ही दिनों अलसी की खरीद भी खूब होती है। एक दिन बालक किशोर के सुलाने का पालना अकोला के मकान के बैठक के पश्चिम तरफ की दीवाल के पास रखा था। उसके पास ही पडोस के बडे हिस्से में जाने का एक दरवाजा था। इस हिस्से में अलसी का एक बहुत बडा ढेर लगाया गया था। बालक (किशोर) पालने मे सो रहा था और जगु पास ही खेल रहा था। पिताजी तथा माताजी अपने-अपने काम में लगे हुए थे। इनके यहाँ गोविन्द नाम का एक पहाडी नौकर था। उसे बुखार आ रहा था और वह पास के नौकरोवाले मकान मे सो रहा था। कहते हैं कि गोविन्द ने बुखार के नशे मे आवाज सुनी कि "उठ, सो क्या रहा है, तेरे सेठ के बच्चे मर जायेंगे।" यह आवाज सुनते ही गोविन्द दौडकर बैठक में गया और जगु तथा छोटे बच्चे को अपनी एक-एक बगल मे उठाकर अपने कमरे मे ले आया और छोटे बच्चे को अपने पास लिटाकर खुद भी लेट रहा। जगु को किसीने आम दे दिया था। उसे वह खा रहा था। आम के मौसम से जान पडता है कि यह घटना वैशाख-जेठ में घटी होगी। अर्थात् उस समय किशोरलाल भाई आठ-नौ महीने के रहे होंगे। इधर जैसे ही गोविन्द दोनो बच्चों को अपनी गोद में लेकर उससे बाहर निकला, वैसे ही पालन के पासवाला दरवाजा टूट गया और पानी के रेले की भाँति सारी

अलसी फैल गयी। पलभर में वह पालना अलसी के नीचे दब गया। यह आवाज सुनते ही पिताजी, माताजी तथा दूसरे सब लोग दौड़कर बैठक में पहुँचे। परन्तु दोनों बच्चों को गोविन्द वहाँ से पहले ही ले गया था, यह कोई नहीं जानता था। माताजी जानती थी कि बच्चा पालने में सोया हुआ है और पिताजी का अनुमान था कि जगु भी वहीं उसके पास खेलता होगा। इसलिए सबने यही समझा कि दोनों बच्चे अलसी में दब गये। अलसी को हटाया गया, परन्तु बच्चे वहाँ नहीं मिले। इससे सबको आश्चर्य हुआ। कहते हैं कि उसी समय जगु वहाँ दूसरा आम माँगने के लिए जा पहुँचा। जगु के मुँह पर आमरस लगा हुआ देखकर सबको आश्चर्य हुआ। उससे उन्होंने पूछा कि छोटा मुन्ना कहाँ है? जगु ने अपनी तुतली बोली में बताया कि दोनों को गोविन्द उठाकर पहले ही ले गया था। तब सबके सब गोविन्द के पास पहुँचे और उससे पूछताछ करने लगे। उसने केवल ऊपर बतायी आवाज सुनी थी, इसके अलावा वह कोई स्पष्टीकरण नहीं कर सका। इस पर माताजी और पिताजी को भी निश्चय हो गया कि बच्चों की रक्षा में भगवान का ही हाथ था। उस समय माता-पिता के हृदय में जो भाव उठे होंगे, इसकी केवल कल्पना की जा सकती है। दोनों इन बच्चों को ठाकुरजी के मंदिर में ले गये और उन्हें भगवान के चरणों में रख दिया। उन्होंने अपने मन में समझ लिया कि हमारे बच्चे तो मर गये और अब ये जो बच्चे बचे हैं, वे भगवान के ही दिये हुए हैं। फिर वे दोनों बच्चों को उठा लाये। और भगवान के बच्चों के रूप में दोनों के नाम के साथ—पिता के नाम के स्थान पर सहजानंद स्वामी का नाम—'घनश्याम' लिखने का निश्चय कर लिया। इसी समय पिताजी ने एक नई प्रथा मानने का निश्चय किया। उसका नाम 'जुगल-किशोर घनश्याम लाल' रखा गया।

किशोरलाल भाई लिखते हैं कि "मैं बारह वर्ष का हुआ तब तक अलसी की खरीद के समय हमें अकोला आना पड़ता था। अलसी के ढेर पर कूदना हम दोनों भाइयों का प्यारा खेल था। अलसी में हम इतने खेले, फिर भी उसका मेरा [illegible] नहीं हुआ। पुनर्जन्म के रूप में अभी तक मुझे उसे [illegible] पर लगाना पड़ता है।"

• • •

बचपन के संस्मरण : ५ :

"किशोरलाल भाई ने अपने कुटुम्ब के विषय में 'श्रुतिस्मृति' नाम से एक विवरण सन् १९३० में, जब नासिक-जेल में मैं उनके साथ था, तभी लिखा था। उसमें उन्होंने अपने बचपन के संस्मरण लिखे हैं। ये बातें कुछ लोगों को शायद महत्त्वहीन मालूम पड़ें, परन्तु बालमनोविज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से वे बहुत उपयोगी हो सकती हैं। फिर घर के बड़े-बूढ़ों के मुँह से जान में या अनजान में सहज जो उद्गार निकल जाते हैं, अथवा एकाएक कोई आलोचना निकल जाती है, उनका बच्चों के मन पर कैसा असर पड़ता है, वह भी इससे हम जान सकते हैं। बच्चों के प्रति व्यवहार करने में बड़ों को कितना सावधान रहना चाहिए, इसकी चेतावनी भी इन प्रसंगों से हमें मिलती है। निम्नांकित संस्मरण लगभग किशोरलाल भाई की भाषा में ही दिये जा रहे हैं।

(१) उस समय मैं पाँच वर्ष का रहा हूँगा। मेरे बाल बढ़ाये गये थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं बालों में तेल डालकर बालों को थपथपाने तथा बाल सँवारने के लिए माँ से कहा करता था। मुण्डन-संस्कार की भी मुझे अच्छी तरह याद है। ठाकुरजी का चरणामृत मेरे माथे पर डाला गया था और फिर उस्तरे से बाल साफ किये गये थे। ऐसा नहीं लगता कि उसके अलावा और भी कोई विधि की गयी हो।

(२) एक बार 'गोवालिया ग्यारस' के दिन मुझे गोपी या ग्वाला बनाकर मेला देखने भेजा गया था। वह चित्र मेरी आँखों के सामने है। मुझे यह भी याद है कि किस तरह बचपन में मुझे माँ रेशमी लहँगा या कुर्ता पहनाकर उस पर रेशमी रूमाल बाँधकर और सोने के जेवर पहनाकर बालों की माँग काढ़ती और हिंगुल की बिन्दी लगा आँखों में काजल लगाकर जाति की पंक्ति में भोजन करने भेजती थी। परन्तु वहाँ जाना मुझे अच्छा नहीं लगता था। इसलिए न जाने के लिए कुछ हठ करता था, फिर भी अंत में जाना तो पड़ता ही था।

(३) माँ रसोई बनाते-बनाते मुझसे गिनती गिनने के लिए कहती। बम्बई में मेहताजी के स्कूल में मेरा नाम लिखाया था, पर वहाँ जाना मुझे अच्छा

नही लगता था। कभी समझा-बुझाकर, तो कभी डरा-धमकाकर माँ मुझे स्कूल भेजती। "आज के दिन मैं स्कूल नही जाऊँगा।"—यह मेरा रोज का पहला वाक्य रहता था। तब माँ कहती—"आज के दिन तो चला जा। कल देखेंगे, शायद तेरे भाई छुट्टी दिलवा दें।"

रात को भी हमें गिनती गिननी पड़ती। गिनती पूरी हो जाने के बाद 'चेष्टा' के पद आदि साम्प्रदायिक नित्यपाठ हम बोलने लगते।

(४) बचपन में हम मेहताजी की ग्रामीण पाठशाला में पढ़े। बाद में म्युनिसिपैलिटी के गुजराती स्कूल में हमें भरती करा दिया गया। परन्तु पिताजी और माताजी को ऐसा लगा कि हमें बार-बार अकोला जाना पड़ता है, कुछ पढ़ाई गुजराती में होती है, कुछ मराठी में, यह ठीक नही। दोनो की पढ़ाई ठीक से नही हो पाती। इसलिए यह निश्चय किया गया कि बम्बई में भी मुझे मराठी ही पढ़ायी जाय। परन्तु यह निश्चय बहुत दिन कायम नही रहा। क्योंकि कुछ ही दिन बाद माँ की मृत्यु हो गयी। उसके बाद तो हम बम्बई में ही नानी के या मौसी के घर रहने लगे।

मेहताजी के स्कूल ने मेरे मन में पढ़ाई की ओर से अरुचि पैदा कर दी। उनके पास बेंत की एक छड़ी रहती, जो सिरे पर कुछ लाल रंगी हुई थी। उसका प्रसाद तो मुझे कभी नही मिला, परन्तु दूसरे विद्यार्थियों के शरीर पर इसका खुले दिल से प्रयोग किया जाता। कभी-कभी मेरे भी कान उमेठे जाते और एक-आध चाँटा भी रसीद किया जाता। स्कूल की पढ़ाई में मेरी रुचि कम करने के लिए इतना काफी था। मेरे एक ममेरे भाई को मेहताजी का खासा प्रसाद मिलता। मैं किसीको पिटते भी नही देख सकता था। मार खानेवाले के रोने से पहले ही मेरी आँखों से आँसू बहने लग जाते, और मारनेवाले के प्रति मेरे मन में डर पैदा हो जाता; फिर भी स्कूल के दूसरे पण्डितों की तुलना में हमारे मेहताजी बड़े गरीब और भले माने जाते थे। मुझ पर उनका प्रेम भी था। मेरे मन में भी उनके प्रति आदर था। इनका स्कूल छोड़ देने के बाद मेरे मन से उनका डर निकल गया।

परन्तु पढ़ाई के अत्यधिक अरुचि तो मेरे मन में अकोला की मराठी शाला ने की। उन दिनों शिक्षकों की आम आदत थी कि वे विद्यार्थियों के लिए अपने

मुँह से भद्दी-भद्दी गालियाँ निकालते। ऐसी गालियाँ सुनकर मेरा दिल काँप उठता। परन्तु गालियो की अपेक्षा मार की मात्रा और भी अधिक थी। एक बार जगु-भाई को उनके शिक्षक ने बेत से पीटा। उससे उनके मन पर ऐसी दहशत बैठ गयी कि वे बुखार लेकर घर लौटे। यह बुखार कई दिन तक नही उतरा।

मराठी की तीसरी कक्षा में दाखिल होने के दूसरे या तीसरे दिन शाला में पहुँचने मे मुझे देर हो गयी। गुजराती शालाओ में नये विद्यार्थियो को नौ दिन तक नियम-भग की सजा नही दी जाती थी, परन्तु यहाँ हमारा यह अधिकार छिन गया था। सच्ची बात यह थी कि जब तक हमारे यहाँ ठाकुरजी को दूध या चाय का नैवेद्य नही लगता, तब तक हमे चाय नही मिल सकती थी। जब इसमे देर होती, तो हमारे शाला में जाने में भी स्वभावत देर हो जाती। एक दिन इस पर शिक्षक ने दाँत पीसकर खूब जोर से मेरे कान उमेठे। इस अनपेक्षित अनुभव से मै इतना डर गया कि उन्हें मै देरी का कारण भी न बता सका। शिक्षक को निश्चय हो गया कि अवश्य ही रास्ते में मैं तमाशा देखने में लग गया। इसलिए उसने मुझे फिर डाँटा, कान उमेठे और खडा कर दिया। दस बजे मै घर लौटा, तब तक भी मेरी आँखो के आँसू टूटे नही थे। घर पर भी सिवा इसके मै कुछ नही कह सका कि "मैं इस शाला में नही जाऊँगा।" पिताजी ने समझा कि मैं ढोग कर रहा हूँ, इसलिए वे भी चिढ गये। मेरे वर्ग में एक पारसी विद्यार्थी था। गुजराती बोलनेवाला यह एकमात्र विद्यार्थी वहा था। वह दोपहर में हमारे घर आया और उसने शाला में हुई घटना का सारा हाल मेरे माता-पिता को सुनाया। तब दोपहर में पिताजी मेरे साथ शाला पर आये। उन्होने शिक्षक को बाहर बुलाकर शायद कुछ कहा और फिर मुझे वर्ग में बैठाकर वापस चले गये। शिक्षक ने अदर आकर एक दो भद्दी गालियाँ देकर मुझसे कहा—"बाप से फरियाद करता है न? बाप का डर बता रहा है? अब तो तुझे पीसकर रख दूगा, देखता हूँ, अब तेरा बाप मेरा क्या बिगाड सकता है?" शाम को घर लौटने पर मैंने पिताजी से सारी बात कही। माँ खूब गुस्सा हुई। तीसरे दिन फिर देर हो गयी। इसलिए मैंने घर पर ही कह दिया कि "मैं आज शाला में नही जाऊँगा", परन्तु पिताजी ने डाँट-डपट कर भेज ही दिया। इस पर शिक्षक ने फिर गालियाँ दी और पसलियों में घूसे मारे। घर

पर मैं बहुत जोर से रोने लगा। पिताजी ने पूछा, परन्तु मैं अबकी बार भी नही बता सका। तब फिर उस पारसी विद्यार्थी को बुलाया। उसने जो हुआ था, सो सब बता दिया। इस पर पिताजी हेडमास्टर से जाकर मिले और शिक्षक पर भी खूब बिगडे। मैंने अब जिद पकड ली कि मुझे पढाना हो तो घर पर ही पढाइये, नही तो मैं नही पढ़ूँगा। इसके बाद अकोला की शाला में मैं नही गया। बम्बई में भी मुझे मराठी शाला में ही भरती किया। वहाँ के शिक्षक भी कभी-कभी सजा देते। गालियाँ तो रहती ही। इस तरह शिक्षा हमें अपमानजनक लगती और गालियाँ तो सहन ही नही होती थी। अत में माँ की बीमारी बढी और उसकी मृत्यु भी हो गयी। इस कारण शिक्षक और शाला दोनो से छुट्टी मिल गयी।

(५) शिक्षक की भद्दी गालियाँ मुझे सहन नही होती थी, फिर भी गालियो के सस्कार मेरे चित्त पर असर करने लग गये थे।

माँ की मृत्यु के पहले से मुझे कुछ खराब लडको की सोहबत लग गयी थी, यह बता देना जरूरी है। इनमें से दो को गन्दी गालियाँ देने की आदत थी। इसके परिणामस्वरूप यद्यपि मुझे जबान से गालियाँ देने की आदत तो नही लगी, फिर भी मन ही मन में तो गालियो की आवृत्ति हो ही जाया करती। उनके क्रियात्मक अर्थ में भी उस छोटी उम्र में मेरा प्रवेश होने लगा था। ये कुसस्कार मेरे बडे होने तक मुझे तकलीफ देते रहे। इन कुसस्कारो ने मेरे जीवन में से स्वास्थ्य का आनद हमेशा के लिए मिटा दिया।

(६) मेरे चाचाजी के एक लडके को गन्दी गालियाँ बकने की आदत थी। जब मुझे यह मालूम हुआ, तब मेरे मन पर इसका जबरदस्त आघात लगा। स्वामी नारायण के धर्म का पालन करनेवाला ऐसी गन्दी गालियाँ दे सकता है, यह मैं सपने में भी कल्पना नही कर सकता था। घर आने पर मैंने उसके बडे भाई से यह बात कही। इसका परिणाम यह हुआ कि मेरी गिनती चुगलखोरो में हो गयी। मेरी उम्र के इन भाइयों ने मुझे अपने हँसने, खेलने और साथ में घूमने-घामने से अलग कर दिया। कम-अधिक परिमाण में यह बहिष्कार कोई दो वर्ष तक जारी रहा। मुझे खेलना होता, तो मैं केवल अपनी छोटी बहनो के साथ ही खेल सकता था। शरीर से कमजोर और इन सब बहनों में सबसे बडा। इसलिए उनके साथ खेलना मुझे बुरा तो नही लगता था। परन्तु मैं केवल लडकियो

के साथ खेलने लायक 'बायला' (जनाना) समझा जाने लगा और वे भाई मुझे ऐसा कहकर चिढाते भी। इस तरह अत में मैंने उनसे इस आशय के कुछ शब्द कह दिये कि तुम्हें जो बोलना हो सो बोलते रहो, परन्तु मुझे अपने साथ खेलने दो। इस तरह मैं झुक गया। इस सोहबत के उल्टे परिणाम हम सबको भोगने पडे। हमारे साथ हमारी ही जाति का एक और भी लडका था। उसकी जबान तो बहुत ही खराब थी। उसके साथ खेलना मेरे लिए बहुत मुश्किल हो जाता।

ऊपर लिखे बहिष्कार से मैं घबडा न गया होता, तो मेरा बहुत लाभ होता। इस सोहबत का परिणाम मेरे चित्त पर बहुत ही बुरा हुआ। जो गन्दे शब्द ये भाई केवल एक आदत के रूप में बोलते, वे अपने पूरे अर्थ सहित मेरे दिल में टकराते रहते। और यद्यपि मैंने जबान से तो ऐसे शब्द निकालने की शायद ही कभी हिम्मत की हो, परन्तु मन में तो अनेक बार इनका उच्चारण कर ही लेता और इनके अर्थ में भी मेरा चित्त प्रवेश कर जाता। इसके अलावा भी इस कुसगति ने मुझे बडी तकलीफ दी।

(७) आत्माराम काका को हम 'आतुकाका' कहते। ४९ वर्ष की उम्र में—मेरी माँ की मृत्यु से कुछ ही दिन पहले—उनका देहान्त हुआ। उनका मँझला लडका गोकुलभाई था। उसे और मुझे उनकी मृत्यु के समय सबेरे से ही किसी मित्र के यहाँ भेज दिया गया। दोपहर के बाद उस मित्र की पत्नी ने गोकुलभाई से कहा कि 'तेरे पिताजी मर गये, अब तू घर जा।" यह समाचार सुनकर मुझे बहुत आनद हुआ और मैं हँसने लगा (उम्र ८ वर्ष), परन्तु गाकुलभाई की आँखो से आँसू बहने लगे। मैंने अभी तक किसी निकट सम्बन्धी की मौत नही देखी थी। मृत्यु के विषय में केवल सुना ही था। मेरे आनद का कारण यह था कि मैंने सुना था कि आदमी जब मरता है, तब भगवान के पास चला जाता है। मेरी यह भी दृढ श्रद्धा थी कि सहजानद स्वामी के उपासक को लेने के लिए स्वय भगवान आते हैं और अपने धाम ले जाते हैं। इस कारण मुझे अपने मन मे मृत्यु विवाह से भी अधिक शुभ लगती। मेरी यह श्रद्धा बहुत बडी उम्र तक कायम रही। आतुकाका के कुछ ही दिन बाद मेरी माँ की मृत्यु हुई और पाँच-छह वर्ष बाद जगुभाई की भी मृत्यु हो गयी। उस समय तथा

दूसरे सगे-सम्बन्धियों की मृत्यु के समय भी मुझे दुख नही हुआ था। आज भी किसीकी केवल मृत्यु से मुझे बहुत दुख नही होता। मुझे ऐसा याद पडता है कि मृत्यु से पहले-पहल मुझे दुख तब लगा, जब मेरे बहनोई मरे और मेरी बहन विधवा हो गयी (ई० स० १९१३)। उस समय भी दुख बहनोई की मृत्यु पर नही हुआ। उनका कुछ अशुभ हो गया, ऐसा नही लग रहा था, परन्तु बहन का अशुभ हो गया, इसका दुख था। उस समय तो मेरी उम्र २३–२४ वर्ष की थी। मृत्यु का यह पहला आघात मुझे इतने जोर से लगा कि मैं पाँच-छह महीने बीमार रहा और डॉक्टरो को डर हो गया कि मुझे कही क्षय न हो जावे।

आतुकाका की मृत्यु के बारे में मुझे जो आनद हुआ, उसे मैं छिपा नही सका। मेरे आनद से गोकुलभाई को दुख हुआ। परन्तु मैं उसके रोने का कारण नही समझ सका। जिस प्रकार उन दिनों मैं हँसता रहा, उसी प्रकार तीन दिन बाद, जब मेरी माँ की मृत्यु हुई, तब भी मैं हँसता ही रहा। यद्यपि दोनों समय दूसरो के रोने-पीटने को मैं सह नही सकता था, उसे देख-सुनकर मेरी आँखों में भी आँसू आ जाते।

(८) ठेठ बचपन से ही स्वाभाविक रीति से मैं 'नानी माँ' के यहाँ जाता रहता था। परन्तु मैं सात-आठ वर्ष का हुआ, तब तक मुझे पता नही था कि 'जी' (नानी) रिश्ते में मेरी कौन होती हैं। जब कभी 'जी' के यहाँ जाता, तब उन्हे अकेला और काम-काज करते देखता। इससे मेरे मन में दया आती। अपनी सातवी वर्षगाँठ के दिन मैं 'जी' को प्रणाम करने गया। 'जी' खाना पका रही थी या पूजा कर रही थी। उस दिन मेरे मन में दया का प्रवाह कुछ अधिक जोर से उमडा। मैंने कहा—"जी, आपको सारा काम खुद करना पडता है। मदद करने-वाला कोई नही। हमारे यहाँ दो लडकियाँ है (मेरी छोटी बहनें—एक पाँच वर्ष की और दूसरी तीन वर्ष की), आपके यहाँ एक भी नही, सो एक को आप रख लीजिये, तो वह आपकी मदद कर दिया करेगी।" यह सुनकर 'जी' हँसने लगी। उन्होने कहा—"हाँ, भाई वे तो जरूर मदद करेगी। भेज देना। परन्तु उनके बजाय तू ही क्यों नही रह जाता?" अब क्या कहता? मैंने दया की तो 'जी' ने परीक्षा कर ली। मैं समझ रहा था कि लडकियाँ ही इस तरह के घर के कामों में मदद कर सकती है। इसलिए मैंने कहा—"मुझे भला यह काम

आ सकता है ?" घर लौटने पर मैंने माँ से कहा—"माँ 'जी' के यहाँ एक भी लडकी नही है। हमारे यहाँ दो-दो लडकियाँ हैं। एक लडकी 'जी' को दे दे, तो कैसा रहे ?" इस तरह मेरी दया दूसरो से काम करा देने तक ही सीमित थी। परन्तु उस समय यह बात मेरे ध्यान में नही आयी। फिर माँ ने पूछा—"मै 'जी' की कौन हूँ, यह तुझे मालूम है ?" मैंने कहा—"नही।" तब माँ ने बताया कि मै तो जी की लडकी हूँ। मेरी माँ-जितनी बडी स्त्री किसीकी लडकी हो सकती है, यह बात मुझे बडी आश्चर्यजनक लगी। थोडी देर बाद मैंने माँ से पूछा—"फिर तू 'जी' के साथ क्यो नही रहती ?" तब माँ ने कहा—"मैं 'जी' के पास चली जाऊँ, तो तू अकेला रह जायेगा ?" यह जरा कठिन बात थी। मैं माँ के साथ जाऊँ, तो पिताजी अकेले रह जावें और पिताजी के साथ रहूँ, तो माँ को छोडना पडे। परन्तु उस वक्त यह बात नही सूझी कि सब लोग एक साथ क्यो न रहें ? कोई मार्ग नही सूझ पडा, इसलिए 'जी' के प्रति मेरी करुणा वही शान्त हो गयी। परन्तु 'जी' के साथ का रिश्ता तो मालूम हो गया।

(९) माँ के मरने के बाद मुझे कई बार मौसी के घर या 'जी' के घर रहना और खाना पडता। 'जी' हमेशा आग्रह करके एक-दो रोटी अधिक खिलाती। हमारी मान्यता थी कि 'जी' के हाथ की रोटियाँ चाहे कितनी ही खा लें, तो भी हजम हो जाती हैं। यह बात भी सही है कि मौसी के या 'जी' के घर हम कभी बीमार नही पडे, यद्यपि 'जी' के यहाँ उनके आग्रह से और मौसी के घर बराबरी के लडके से होड लगाकर मौसी की रोटी खतम करने बैठ जाने और खूब खा जाते। अधिक खा जाने का एक कारण शायद यह भी था कि वहाँ प्रसाद की ऐसी भरती नही होती थी। हमारे घर पर तो प्रसाद के निमित्त से लगभग दिनभर हमारी मुँह की चक्की चलती ही रहती और वह आरोग्य के लिए बाधक होती।

(१०) बचपन से हमें माला फेरने और पूजा-पाठ करने की आदत थी। 'जी' की बहन के यहाँ सबको इस पर आश्चर्य होता। हर कोई पूछता—"अरे अभी से माला फेर रहा है ? माला तो बुढापे में फेरी जाती है। कितनी मालाएँ रोज फेरता है ?" ऐसे प्रश्न कई बार पूछे गये होंगे। इनके जवाब में हम—अर्थात् जगुभाई और मैं—कहते "कही बचपन में ही मर गये, तो फिर बुढापे में माला कैसे फेर सकेंगे ?" हमारे मुँह से मरने की बात बार-बार सुनकर ये

लोग बडे चिढते। वे कहते—"मरने की बातें क्यों करते हो?" उन्हें और अधिक चिढाने के लिए कई बार हम कहते कि हम तो जल्दी मरनेवाले है।

(११) 'जी' के यहाँ जानू नाम का एक पहाडी था। वह उन्हीके यहाँ नौकरी करते-करते बूढा हो गया था। उससे हम खूब कहानियाँ सुनते। महाराष्ट्र के साधु-सन्तों, कृष्ण की बाल-लीला आदि की बाते वह बडे मनोरजक ढग मे कहता।

(१२) स्त्रियो और खास तौर पर भाभियों के प्रति अरुचि प्रकट करना मैं ठेठ बचपन से सीख गया था। घर का सारा काम करना तथा बडी स्त्रियों की सेवा करना भाभियो का परम धर्म है, ऐसा मैं मानता था। जो भाभियाँ अपने इस परम धर्म का पालन करने में आना-कानी करती मुझे दिखाई देती, उन्हें सजा देकर रास्ते पर लाना एक देवर की हैसियत से मेरा परम धर्म है—ऐसा मैं मानता था।

(१३) भोजन के समय उगलियाँ खराब न होने पायें, इसलिए मैं दाल चावल खाता ही नही था। रोटी भी दाल में उतनी ही डुबाता, जिससे उगलिया में दाल न लगने पायें। काफी बडा होने तक अपने हाथ से खाना नही खाता था। पिताजी या नौकर खिलाते, तब खाता। ऐसे खेल भी पसन्द नहीं करता था, जो कपडे बिगाडनेवाले होते थे।

(१४) मौसी के यहाँ हम रहते थे, तब एक बार होली की लीला देखने के लिए हम हवेली (मदिर) पर गये थे। लाल बाबा की हवेली में मैंने जो बीभत्स घटनाएँ देखी, उनसे मेरे मन पर ऐसा भारी आघात पहुँचा कि उन मदिरो और उनके भक्तो पर से मेरी श्रद्धा एकदम उठ गयी। उसके बाद मैंने लालजी की हवेली में कभी कदम नही रखा।

(१५) हम अग्रेजी स्कूल में पढते, तब हमें दोपहर में जलपान करने के लिए दो-दो पैसे मिलते थे। इन पैसा को खर्च करने के बजाय हम इनमें से कुछ बचा लेते। इस बचत में से हमने एक एक शिक्षापत्री (स्वामी नारायण-सम्प्रदाय का एक बोधग्रन्थ), एक रगो की पेटी (वॉटर कलर बॉक्स), एक एट-लस, तोते के लिए एक पिजडा, हॉलोबे के पशुपक्षी के चित्रो का एक पैकेट—ये चीजें खरीदी थी, ऐसा याद आ रहा है। बालूभाई (सबसे बडे भाई) को यह

पसन्द नही था। उनकी राय यह थी कि तुम्हें खाने की जरूरत रहती है, इसलिए ये पैसे दिये जाते है। इसमें से बचत करना ठीक नही है। अगर तुम्हें खाने की जरूरत नही हो, तो पैसे लेने ही नही चाहिए। फिर बचे हुए पैसो से भी बगैर इजाजत के तुम्हे कुछ नही खरीदना चाहिए। किन्तु हम तो समझते थे कि दो पैसे लेने और उनका जिस तरह हम चाहें उपभोग करने में हमें रूढि-प्राप्त अधिकार है।

(१६) मोटा बापा (ताऊ) के साथ की एक घटना मुझे याद रह गयी है। जगुभाई और मै मलाड में उनके यहाँ रहता था। हमारा कादावाडीवाला मकान कर्ज करके खरीदा गया था। मैं इतना समझने लग गया था कि भाई तथा बाल्रूभाई को इस कर्ज की चिन्ता रहा करती है। मोटा बापा भी मलाड में बँगला बनवा रहे थे। शायद इसमें भी उनका अन्दाज से अधिक खर्च हो गया या कर्ज लेना पडा। इस कारण उनको भी चिन्ता रहा करती। एक दिन चाय पीते समय मोटा बापा ने कुछ उदगार प्रकट किये। बडो के बीच में बोलने की बुरी आदत मुझे थी। उसके अनुसार मैंने भी कहा—"देखिये न, भाई (पिताजी) को भी मकान के बारे में चिन्ता करनी पडती है।" इस पर मोटा बापा ने कहा—"मैं आधा मूर्ख हूँ और तेरा 'भाई' पूरा मूर्ख है।" 'भाई' के विषय में इस तरह तूकारात्मक और अपमानभरी भाषा सुनकर मैं वहाँ से चुपचाप उठ गया। थोडी देर बाद जगुभाई और मै घूमने गया। मेरे मन में यह बात घूम ही रही थी। इसलिए मैंने कहा—"मोटे बापा 'भाई' के बारे में कैसा खराब बोले!" इस पर जगुभाई ने कहा—"तू तो पागल है। इसमें क्या हो गया? मोटा बापा तो 'भाई' के बारे मे ऐसा कह सकते है। क्योंकि वे 'भाई' के बडे भाई हैं। इसमें कोई गाली देने का हेतु थोडे ही था! बाल्रूभाई या मै क्या तुझे मूर्ख नही कहता?" मैं इतना तो जानता था कि मोटा बापा हमारे ताऊ होते हैं। परन्तु यह दर्शन नही हुआ था कि भाई से उनका सम्बन्ध इतना ही निकट का है, जैसा मेरा और बाल्रूभाई या जगुभाई का है। जगुभाई की दलील मै समझ गया। फिर भी मेरी तब की समझ के अनुसार भाई को दी गयी गाली का दुख मेरे दिल पर बहुत दिन तक रहा। कल्पना से बहुत पहले ही हम मलाड से बम्बई चले गये। इस कारण यह घटना मेरी स्मृति में रह गयी।

बाद में मेरे मन में इस बात का कोई असर नही रहा। हम कई बार मलाड में रहने के लिए जाते। उस समय मेरी उम्र ग्यारह वर्ष की रही होगी।

(१७) मोटा बापा कुछ समय जाति के पटेल भी रहे। इस कारण उनके छोटे-बडे कई शत्रु भी हो गये थे। मशरूवाला-परिवार वडा था। फिर पुरानी बम्बईवालों का उन्हें अच्छा समर्थन होने के कारण मोटा बापा का पक्ष जाति में अच्छी तरह सफल होता रहता। परन्तु मुझे याद नही कि इससे लाभ उठाकर उन्होंने कभी अपना कदम पीछे हटाया हो अथवा किसीको तग किया हो।

(१८) सवत् १९६० की बात है। बिरादरी में कही जीमने जाना था। फागुन का महीना था। जगुभाई को और मुझे बिरादरी में कही जाना अच्छा नही लगता था। बहुत आग्रह करने पर कभी कही जाते। परन्तु उस दिन बगैर अधिक आग्रह के जगुभाई जाने के लिए तैयार हो गये। उन दिनो लडके भी जेवर पहनकर जीमने जाते। उस दिन जगुभाई जरा बन ठनकर 'जी' के घर से रवाना हुए। 'जी' के घर के नीचे ही गाधी की दूकान के चबूतरे पर एक बेंच पर बैठ गये और दूसरे लडको की राह देखने लगे। दूकान के आदमी परिचित थे। एक ने पूछा—"ओहो जगुभाई, आज तो तू खाना खाने जा रहा है! अब तेरी शादी कब हो रही है।" जगुभाई ने कहा—"मै अपनी शादी में ही तो जा रहा हूँ।" उसने कहा—"अच्छा! किससे शादी हो रही है?" जगुभाई ने कहा— चितागीरी के साथ।" इस पर वह आदमी चिढ गया। खाना खाकर लौटते ही जगुभाई हमारे घर पर सोने चले गये। उस समय बम्बई मे बडे जोरो का प्लेग फैला था। मै मौसी के घर सोया था। सभव है कि हमारे घर में रोग की छूत आ गयी हो, इसलिए जगुभाई का घर पर सोना खतरनाक साबित हुआ। कुछ समय से व्यायाम आदि करके जगुभाई ने अपना शरीर अच्छा बना लिया था। बचपन में वे रोगी रहते थे। उन्हे पढने लिखने का भी कोई खास शौक नही था। परन्तु पिछले एक वर्ष में वे बिलकुल बदल गये थे। डेढ महीने में छह महीने की पढाई करके मैट्रिक के दर्जे मे भरती हो गये थे।

सवेरे उठकर मै घर पर गया और देखा तो जगुभाई बुखार में पडे है। नानाभाई उनकी शुश्रूषा कर रहे थे। नानाभाई ने और मैंने निश्चय किया कि

जगुभाई को मौसी के घर ले जाना चाहिए। वहाँ जाकर डॉक्टर को बुलाया। दवा दी गयी, उलटियाँ भी हुईं। रात को फिर डॉक्टर को बुलाया। उसने एनिमा दिया। जितना पानी दिया गया था, वह बाहर भी नहीं निकल सका। उस समय एनिमा एक नई चीज थी और लोग मानते थे कि यह एक राक्षसी उपाय है। जब बीमारी बहुत ही गंभीर होती है, तभी एनिमा दिया जाता है— ऐसा भी एक वहम लोगों में था। डॉक्टर ने कहा कि प्लेग की आशंका है और पिताजी को तार करने की सलाह दी। तार मिलते ही पिताजी अकोला से रवाना हो गये। मौसी ने जगुभाई की खूब सेवा-शुश्रूषा की। चार-पाँच दिन में डॉक्टरों और दवाओं पर कोई तीन सौ रुपये खर्च हो गये। परन्तु यह सब बेकार साबित हुआ। संवत् १९६०, फागुन वदी दशमी के दिन शुक्रवार को दोपहर के तीन बजे जगुभाई के प्राण-पखेरू उड़ गये। उस समय वे अपना सत्रहवाँ वर्ष पूरा करने को थे।

उनकी मृत्यु से दो-तीन घण्टे पहले मैं उन्हें देखकर आया था। तब वे होश में थे, परन्तु बोल नहीं सकते थे। दाहिना हाथ भुजा के नीचे से सूज गया था। अपनी पूजा की मूर्ति (मणिया के स्टैण्ड पर रखी सहजानन्द स्वामी की मूर्ति) पर उनकी नजर गड़ी हुई थी। उसके चरण छूना चाहते थे। परन्तु दाहिना हाथ उठाने की शक्ति नहीं थी। पिताजी ने कहा कि बायें हाथ से चरण-स्पर्श करने में भी कोई हर्ज नहीं है। तब बायें हाथ से चरण स्पर्श करके प्रणाम किया। साधु-ब्रह्मचारियों को भी बुलाया गया था। बायें हाथ से ही उन्हें भी प्रणाम किया और धोतियाँ अर्पित कीं। यह सब देखकर मुझे लगा कि यह मृत्यु पवित्र है, इसके बाद मुझे 'जी' के घर भेज दिया गया। हाँ, उन्हें श्मशान ले जाने से पहले नानाभाई ने आकर हमें उनकी मृत्यु के समाचार सुना दिये थे। अपनी समझ के अनुसार यह सुनकर मुझे खुशी हुई। मुझे लगा कि भाई भगवान के घर चले गये और सुखी हो गये। परन्तु दूसरे बच्चे अपने स्वभाव के अनुरूप बहुत रोये। जमना बहन ने मेरी प्रसन्नता पर मुझे फटकारा। अपनी बुद्धि के अनुसार मैंने उसे अपनी श्रद्धा समझायी। मेरी श्रद्धा को बुद्धि से तो वे मान्य कर सकीं, परन्तु हृदय से नहीं। भाई जैसा भाई चला गया और उसकी मृत्यु पर भी मुझे दुःख नहीं हो रहा है—यह देखकर

उसे आश्चर्य हो रहा था। परन्तु मुझे तो—यह भाई ईश्वर के धाम में गया है—इतना ध्रुव और निश्चित सत्य लग रहा था, मानो मैं उसे स्वयं ले जाकर वहाँ छोड़ आया था। स्नान करने के बाद शाम को हम बच्चों ने जितने भजन और आरतियाँ हमें जबानी याद थी, सब गायीं।

दूसरे दिन पिताजी तथा बालूभाई के साथ मैं अकोला गया। जून महीने में मैं अकोला से बम्बई वापिस आया। रेल में भी अकेले आना पड़ा और शाला में पढ़ने के लिए भी अकेले ही जाना पड़ा। मृत्यु के दर्शन से और वह विलाप सुनकर जो वेदना उस समय नहीं हुई थी, वह अब शाला में अकेले जाने-आने में होने लगी। अब मुझे प्रत्यक्ष भान होने लगा कि मैं सचमुच अकेला रह गया। जगुभाई का नाम जुगल था और मेरा नाम किशोर। सब रिश्तेदार जुगल-किशोर की जोड़ी कहकर पुकारते। अब यह जोड़ी टूट गयी—ऐसा भी बार-बार कहते। शाला जाते समय जोड़ी टूटने का भान मुझे भी हुआ और जुगलभाई के वियोग पर पहली बार आँखों में आँसू आये। ● ● ●

विद्याभ्यास : ६ :

हम देख चुके है कि किशोरलाल भाई की प्राथमिक शिक्षा अनेक भिन्न-भिन्न शालाओ में हुई। पिताजी को वर्ष में छह महीने अकोला में और छह महीने बम्बई में रहना पडता था। इसलिए किशोरलाल भाई को वर्ष में दो शालाएँ बदलनी पडती थी। फिर बम्बई में हमेशा उसी शाला में उन्हें प्रवेश नही मिल पाता था। माताजी के देहान्त के बाद शालाओं में कुछ स्थिरता आ सकी। फिर भी अग्रेजी की पाँचवी कक्षा के बाद ही शालान्तर किये बगैर उनकी पढाई हो सकी।

प्राथमिक शिक्षा पूरी होने पर उन्हें न्यू हाईस्कूल की पहली एलिमेंटरी में भरती करवाया गया। यहाँ पर उन्हें दो आजीवन मित्र मिले—मगलदास विट्ठलदास देसाई तथा उनके छोटे भाई गोरधनदास। तीनो एक ही कक्षा में थे। मगलदास पढने में बहुत तेज थे। कक्षा में उनका नबर पहला-दूसरा रहता। गोरधनदास का भी चौथा-पाँचवा नम्बर रहता। किशोरलाल भाई ने लिखा है—"पढने में ऊँचा नम्बर लेने की इच्छा मुझे सदा रहती, परन्तु मैं दस से ऊपर शायद ही कभी आ सका। मेरा नम्बर प्राय दस और बीस के बीच रहता। इस कारण मगलदास और गोरधनदास मेरे लिए उपास्य विद्यार्थी थे। परन्तु हमारे बीच गाढी मित्रता होने का कारण तो दूसरा ही था।"—यह हम अगले प्रकरण में देखेंगे।

अग्रेजी की तीसरी कक्षा पास करने तक जगुभाई और किशोरलाल भाई न्यू हाईस्कूल में पढे। न्यू हाईस्कूल की अपेक्षा गोकुलदास तेजपाल हाईस्कूल में फीस कुछ कम थी। उस समय यह कुटुम्ब बडे आर्थिक सकट में था। इसलिए बडो ने इन दोनो भाइयों को गोकुलदास तेजपाल हाईस्कूल में भेजने का निश्चय किया। किशोरलाल भाई कहते है कि "न्यू हाईस्कूल छोडते समय मुझे अतिशय दुःख हुआ। इस स्कूल के प्रति मेरे मन में अतिशय आदर और भक्ति थी। इस दुःख का एक अन्य कारण प्रिय मित्रो का वियोग भी था।" उस समय न्यू हाईस्कूल बम्बई के अच्छे-से-अच्छे हाईस्कूलो में गिना जाता था। उसके दो

प्रिन्सिपल मर्जबान और भरडा बहुत विख्यात शिक्षक थे। नीचे की कक्षाओं के वर्ग भी वे लेते। गो० ते० हाईस्कूल में किशोरलाल भाई केवल दो ही महीने पढे। उस समय उन्हें मलेरिया बुखार आने लग गया था, इसलिए बालूभाई इन्हें अपने साथ आगरा ले गये। वहाँ उन्हें सेन्ट जान्स कालिजियेट स्कूल में भरती कराया गया वहाँ चौथी और पाँचवी कक्षा पास की। आगरा में हिन्दी के अतिरिक्त कुछ उर्दू भी पढी। बम्बई लौटने पर एस्प्लेनेड हाईस्कूल की अंग्रेजी की पाँचवी जूनियर कक्षा में भरती हुए। दो महीने बाद वहाँ के प्रिन्सिपल ने इनकी योग्यता देखकर इन्हें सीनियर वर्ग में ले लिया। इस तरह एक सन की बचत हो जाने से मैट्रिक के लिए पूरा एक वर्ष बच गया। नवम्बर १९०५ में वे मैट्रिक पास हुए। वर्ष बचाने के लोभ से मगलदास गोरधनदास तथा अन्य कितने ही विद्यार्थी न्यू हाईस्कूल छोडकर एस्प्लेनेड हाईस्कूल में आकर अंग्रेजी छठी में भरती हो गये। तब से लेकर एल-एल० बी० तक किशोरलाल भाई और मगलदास ने साथ-साथ ही अध्ययन किया। एस्प्लेनेड हाईस्कूल का ध्येय-मत्र Perseverance (निरन्तर प्रयत्न) था। किशोरलाल भाई कहते हैं कि शाला के इस ध्येय-मत्र को मैंने दिल से अपना लिया था।

मैट्रिक कर लेने के बाद वे विल्सन कॉलेज में भरती हुए। यह कॉलेज पसन्द करने का केवल एक कारण था—वह यह कि वहाँ छात्रवृत्ति मिलने की कुछ आशा थी। जाति के कोष से छात्रवृत्ति प्राप्त करने के लिए भी उन्होंने अर्जी दे दी थी और २५) मासिक की छात्रवृत्ति उन्हें मिल भी गयी। परन्तु जाति की छात्रवृत्ति लेने में हमारी कुछ हेठी है—ऐसा कुटुम्ब में सबको लग रहा था। इसलिए दो महीने बाद जाति की छात्रवृत्ति लेना उन्होंने बन्द कर दिया। उन्हें कालेज की छात्रवृत्ति मिल गयी। यदि वह न मिली होती, तो कुटुम्ब की स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे अपनी पढाई जारी रख सकते, तब तो शायद कहीं नौकरी ढूँढनी पडती।

किशोरलाल भाई कहते थे कि कॉलेज में उन पर बाइबल के नये करार तथा मिशनरी प्रोफेसरों के व्याख्यानों का काफी असर पडा। सस्कृत के अध्यापक भडकमकर के प्रति उनके मन में सबसे अधिक पूज्य भाव था। दूसरे अध्यापकों का भी उन पर प्रेम था। अपनी कॉलेज की पढाई के बारे में किशोरलाल भाई लिखते हैं

"शाला में मैं शायद ही कभी दसवें नम्बर से ऊपर गया हूँगा। परन्तु कॉलेज में मैं दूसरी या पहली श्रेणी मे ही आता। इसका मुझे आश्चर्य होता। इटर में मैं पहली श्रेणी में पास हुआ और अपने कॉलेज में मेरा नम्बर पहला था। इसी प्रकार एल-एल० बी० के दूसरे वर्ष में भी मैं पहली श्रेणी में ही पास हुआ। पहले वर्ष मे एक विद्यार्थी के साथ मैंने पढने में खूब होड की थी। उसके वाद को किसी परीक्षा के लिए मैंने इतनी मेहनत नही की थी—ऐसा लगता है। परन्तु बाद की परीक्षा का परिणाम अधिक अच्छा रहा। इसका कारण यह मालूम होता है कि इटर में मुझे पढने की सही पद्धति सूझ गयी थी। लॉ-प्रीवियस मे जिस विद्यार्थी के साथ मेरी और मगलदास की होड लगती थी, उसे अपने परिश्रम की तुलना में कभी फल नही मिला, क्योंकि उसकी पद्धति ही गलत थी। उसकी आदत थी, विषयो की वार-बार आवृत्ति करना, अर्थात् पाठ्य पुस्तकें बार-बार पढना। प्रीवियस में हमने उसीका अनुकरण किया था। परन्तु इण्टर के वाद हमने अभ्यास की पद्धति एकदम बदल दी। हमने इस तरह पढना शुरु किया कि विषय की भाषा भले ही जवान पर न आये, परन्तु विषय को बुद्धि अच्छी तरह समझ ले। सामान्यत किसी चीज को मुखाग्र करने में मैं बडा कच्चा हूँ। भजनो को छोडकर शायद ही किसी विषय की लगातार चार-छह पक्तियाँ मुझे याद होगी। गद्य तो जरा भी याद नही रहता। इस कारण यह वात सही ह कि भाषा पर मेरा बहुत प्रभुत्व नहीं है, परन्तु विषय की तह में उतरकर उसका पृथक्करण करके उसे बुद्धि द्वारा अच्छी तरह समझ लेने की मुझे टेव है। इस कारण तुलना मे कम श्रम उठाकर मैं पढाई कर सकता था—ऐसा मेरा खयाल था। जव तक केवल परीक्षा ही ध्येय था, तब तक विषय का प्रतिपाद्य क्या है—यह इस तरह समझ लिया करता। वाद में खयाल आया कि अमुक विषय में लेखक का अभिप्राय क्या है—केवल इतना ही जान लेना काफी नही। यह तो पोथी-पाण्डित्य हुआ। असल में यह समझ लेना जरूरी है कि किस मनोदशा के परिणामस्वरूप अथवा जीवन की किस बुनियाद को स्वीकार करने पर हम इस अभिप्राय पर पहुँचते है—यह भी खोज करके हर वात को समझ लेने की जरूरत है। इससे हम किसी अनिरूपित विषय पर भी लेखक के विचारो का पता लगा सकते है। इसके अतिरिक्त उसने जिस चीज को मूल समझकर पकड़ रखा है,

वह सही है या गलत, यह जान लेने के कारण हम फिर यह भी समझ सकते हैं कि उसके अभिप्रायों में विचार-शुद्धि अथवा विचार-दोष कहाँ तक है। हाँ, यह तो निश्चित है कि जिसे स्वतंत्र रूप से विचार करने की आदत है अथवा जिसे अपने लिए विचार की कोई निश्चित दृष्टि मिल गयी है, वही यह कर सकता है।"

सन् १९४९ में किसीने किशोरलाल भाई से पूछा कि "जिन्दगीभर से यह दमे की बीमारी आपके पीछे लग गयी है, फिर भी आप काम कर सकते हैं और बुद्धि की तेजस्विता कायम रख सकते हैं, इसका रहस्य क्या है? आप किस चीज का पालन करते है, जिससे यह सभव हुआ है।" इसका उन्होंने निम्नलिखित उत्तर दिया है। अध्ययन करने की अपनी जिस पद्धति का उन्होंने ऊपर उल्लेख किया है, उसके साथ इसकी तुलना देखने योग्य है -

"जिसे लोग मेरी बुद्धि की तेजस्विता या कुशाग्रता समझते है, वास्तव में वह तेजस्विता है ही नही। मेरे विषय में यह एक निरा भ्रम है। मैं बुद्धिवादी हूँ—इस तरह मेरी व्याजस्तुति भी की जाती है। परन्तु वस्तुत मैं बहुत बुद्धिमान नही हूँ। सीधी-सादी बातों में मेरी बुद्धि जरूर काम करती है। परन्तु राजनीति मे, कूटनीति में, अकों और शास्त्रीय शोधों की गुत्थियों में, शास्त्रो और साहित्य के अर्थ लगाने में, काव्यकला आदि की खूबियों की जाँच में—ऐसे-ऐसे अटपटे विषयों में मेरी बुद्धि बहुत कम अथवा धीरे धीरे चलती है। मेरा खयाल है कि मेरे भीतर कोई असामान्यता नही है। यह मेरे किसी विशिष्ट आहार-विहार के कारण भी नही है। मै एक ऐसे कारीगर के समान हूँ, जो केवल अपनी नजर से सीधे-टेढे की पहचान नही कर सकता, बल्कि हाथ में फुट-पट्टी लेकर ही यह देख सकता है। परन्तु हाँ, वह फुट-पट्टी सही हो।

"जिसे लोग मेरी बुद्धि की सूक्ष्मता अथवा कुशाग्रता समझते हैं, वास्तव में वह मेरी बुद्धि की सूक्ष्मता नही है, बल्कि मुझे सद्भाव की एक सही-सही फुट-पट्टी मिल गयी है, उसके उपयोग के कारण है। जिसे आप मेरी बुद्धि की विशेषता समझते हैं, उसे अगर सूक्ष्मता से देखेंगे, तो उसके अन्दर आपको अत में सहृदयता, नीति के प्रति आदर और अनीति तथा सकीर्णता—तग दिली—के प्रति असहिष्णुता ही मिलेगी।

"वस्तुत मैं ज्ञान का उपासक हूँ। इसलिए उसे यहाँ-वहाँ सर्वत्र ढूंढता रहता

हूँ; परन्तु मैं बुद्धिमान पडित नही हूँ। भक्ति मुझमें स्वभाव से ही है। इसलिए मुझमें उसका बाह्य स्वरूप अथवा कोई खास उपासना नही दिखाई देती। इस कारण मुझे लोग बुद्धिवादी समझ लेते हैं।

"यह बात मैं झूठी नम्रता से नही कह रहा हूँ। अपनी वास्तविक योग्यता से कम बताना सत्य की उपासना में शोभा नही दे सकता। इसलिए अपने बारे में मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सही है—ऐसा ही समझें।"

किशोरलाल भाई के भतीजे भाई नीलकण्ठ ने उनके कितने ही सस्मरण मुझे लिख भेजे हैं। उनमें वे लिखते हैं·

"पूज्य काकाजी का सबसे पहला सस्मरण तब का है, जब वे बम्बई में कादा-वाडीवाले मकान मे रहते थे। उस समय वे किशोर थे। विल्सन कॉलेज में पढते थे। उन्हें सादी किन्तु व्यवस्थित पोशाक पहनने की शुरू से ही आदत थी। सफेद लम्बी पतलून, लम्बा पारसी कोट, बगलोरी टोपी तथा बूट-मोजे। इकहरे शरीर पर इस पोशाकवाली उनकी मूर्ति आज भी मेरी आँखो के सामने खडी हो जाती है। वे वकील हो गये और अकोला में वकालत करने लगे। बल्कि १९१७ में आश्रम में गये तब तक भी वे यही पोशाक पहनते थे। इसी तरह की व्यवस्थित पोशाक हम बच्चों—मुझे तथा मेरे भाई-बहनों—को भी पहननी चाहिए—ऐसा उनका आग्रह था। कोई भी बच्चा बगर कुरता पहने अथवा बगैर लडकी फ्रॉक पहने घूमे, इसे वे पसन्द नही करते।

"मेज के सामने कुरसी पर बैठकर अथवा बरामदे में टहलते हुए जोर से शुद्ध उच्चारण करते हुए वे पढते। वे हमेशा कहते कि जोर से पढने से हमारा ध्यान उसीमें रहता है और पढी हुई चीज याद भी रह जाती है। अपने कमरे में वे कभी-कभी अकेले मानो भाषण करते अथवा धीरे-धीरे प्रवचन देते। मुझे याद है कि एक बार केवल अग्रेजी वर्णमाला के 'ए' से लेकर 'जेड' तक के अक्षरो को भिन्न-भिन्न भावों के अनुसार उन्होने इस तरह न्यूनाधिक भार देकर बोलना शुरू किया, मानो कोई भाषण कर रहे हो। यह सुनकर पडोस के कई मित्र समझे कि सचमुच कोई भाषण हो रहा है और उसे सुनने के लिए एकत्र हो गये। करीब पाँच-सात मिनट तक उनका यह भाषण जारी रहा। फिर पूछने लगे—"क्यों भाषण कैसा रहा ?" और वे स्वय तथा दूसरे भी हँसने लग गये।

"कादावाडी के मकान की दूसरी बात मुझे जो याद आ रही है, वह है वहाँ की चर्चा का वातावरण। हमारे कुटुम्ब मे दो पक्ष थे। एक का झुकाव तिलक की ओर था तथा दूसरे का गोखले की ओर। मेरे पिताजी गोखले का पक्ष लेते, तो मेरे ताऊजी तिलक के विचारो को पसन्द करते थे। पू० किशोरलाल काका का झुकाव पहले से गोखले की ओर था। परन्तु बाद में स्थिति पलट गयी। फिर हमारे घर में तिलक या गोखले के प्रति विशेष आग्रह नहीं रहा। तीनो भाई दोनो नेताओ को आदर की दृष्टि से देखने लग गये। इससे पहले भी उनके मन मे किसी भी नेता के प्रति कडवाहट तो नही ही थी। परन्तु पीछे तो उनके प्रति समभाव उत्पन्न हो गया। तीनो भाइयो ने पहले से ही राष्ट्रीय कार्यों में रस लिया। परन्तु ज्यो-ज्यो बापूजी के साथ सम्बन्ध बढता गया, त्यो-त्यो तीनो ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उनका काम किया। सारे घर का वातावरण उससे भर गया।

"इग्लैड की पार्लमेंट के विवरण भी समाचार-पत्रो मे आते। उन पर भी हमारे घर में बातचीत तथा चर्चाएँ होतीं। पडोस के मित्र भी इन चर्चाओ में भाग लेते। लिबरल, कन्जरवेटिव, ग्लैडस्टन, चर्चिल इत्यादि शब्द मै समझ तो नही सकता था, परन्तु इनके उच्चारणो को मैंने तभी से पकड लिया। चर्चाएँ गुजराती मे और अग्रेजी में भी चलती। हमारा कुटुम्ब स्वामी नारायण-सम्प्रदाय को मानता था। दूसरे कितने ही मित्र आर्यसमाज को माननेवाले थे, अथवा धर्म के विषय में उदासीन थे। पू० किशोरलाल काका को वे पुराने विचारवाले मानते या पता नही क्यो उनके मित्र उन्हें 'भद्र भद्र' कहते। बाद में उन्हें वे केवल 'श्री' कहकर पुकारने लगे।

"स्वामी नारायण के मदिर मे दर्शन के लिए जाने का नियम हमारे घर में था। किशोरलाल काका बम्बई में कॉलेज में पढते समय तथा उसके बाद भी बहुत दिनों तक इस नियम का पालन बराबर करते थे। सन् १९१०–११ में मैं और काकाजी पू० दादा के साथ वडताल में कितने ही दिन तक साथ-साथ रहे। उन दिनो स्वामी नारायण के प्रसाद से अनुगृहीत प्रत्येक स्थान उन्होंने मुझे साथ ले जाकर बताया और प्रत्येक स्थान पर महाराज ने क्या प्रसगलीला की—यह भी सुनाया। पूरे भक्तिभाव के साथ उन्होने यह सारा वर्णन किया।"

अब हम प्रस्तुत विषय पर फिर आयें। ऐच्छिक विषय के रूप में पदार्थ-विज्ञान (फिजिक्स) तथा रसायनशास्त्र (केमिस्ट्री) लेकर किशोरलाल भाई ने नवम्बर १९०९ में बी० ए० किया। सन् १९१३ के जून-जुलाई में उन्होने वकालत पास की। बी० ए० पास करने के बाद एल-एल० बी० पास करने में देर लगने का कारण यह था कि उनकी छोटी बहन गिरिजा उर्फ रमणलक्ष्मी विधवा हो गयी। इसका इनके शरीर पर बहुत असर हुआ। वे इसके कारण लगभग आठ महीने बीमार रहे। उन्हें मद ज्वर तथा खाँसी आती रही। डॉक्टरो को भय हो गया कि इसमें से कही क्षय न पैदा हो जाय। इसलिए एल एल० बी० के दूसरे वर्ष की परीक्षा देने का विचार परीक्षा के दो महीने पहले छोड देना पडा। कमजोरी बढती ही जा रही थी। हवा बदलने के लिए जलगाँव, अकोला आदि स्थानो पर गये, परन्तु कोई फल नही निकला। अत में वडताल गये। वहाँ एक वैद्य का इलाज किया। उसने सवा महीने तक दूध और गन्ने का प्रयोग किया। इससे बुखार और खाँसी दोनो चले गये।

एल एल० बी० की शर्ते पूरी कर रहे थे, इसी बीच उन्होने १९१० के मार्च महीने में मेहता और दलपतराम सॉलिसिटर्स की फर्म में आर्टिकल्ड का काम ले लिया। इस फर्म के वे पहले ही आर्टिक्ल्ड क्लर्क थे। इसलिए दोनो सॉलिसिटर्स उनकी ओर पूरा ध्यान देते और काम-काज सिखाने में खूब परिश्रम करते। उन्हें मैनेजिंग क्लर्क का काम भी सौंप दिया गया। किशोरलाल भाई लिखते हैं

"मेहता सेठ कडे मिजाज के आदमी माने जाते थे। एक एफिडेविट लिखने में मैंने भूल कर दी। दो मुकदमो में लगभग एक-से नाम थे। गफलत से दूसरा ही नाम इस एफिडेविट में लिख दिया। ऐसी गफलत सॉलिसिटर्स के धन्धे में कभी नही चल सकती। इस विषय में उन्होने मुझे इतना कडा उलहना दिया कि तीन घण्टे तक मैं अपना रोना रोक नही सका था। उन्होने मुझे यह काम सिखाने में जो परिश्रम किया, वह आगे चलकर वकालत के धन्धे में मेरे लिए बहुत मददगार साबित हुआ।"

मार्च १९१३ में आर्टिक्ल्ड क्लर्क की हैसियत से सॉलिसिटरी की उम्मीदवारी उन्होंने पूरी की। फिर जून में एल-एल० बी० की परीक्षा दी और उसमें प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए।

• • •

बाल-मित्र

: ७ :

किशोरलाल भाई ने अपने बालमित्रो की चर्चा अपने परिवार की श्रुति-स्मृति के साथ ही कर दी है। वह उन्हीके शब्दो में इस प्रकार है :

"अकोला में हमारा एक बूढा मजदूर था—आपा। उसका बडा लडका दादा लगभग बालूभाई की उम्र का था और दूसरा लडका हरि लगभग मेरी उम्र का था। मराठी शाला में यह मेरे वर्ग में था। आपा के रहने के लिए हमने अपने कम्पाउण्ड के पिछले भाग में जगह कर दी थी; इसलिए कह सकते है कि वह हमारे साथ ही रहता था। हरि मेरा बाल-मित्र था। हम दोनो के बीच गाढा स्नेह था। बम्बई से अकोला पहुँचते ही सबसे पहले मैं गोशाला में जाता और नये जनमे हुए बछडो को देखता और उनसे जान-पहचान करता। हरि प्राय वही मिलता। यदि वहाँ वह न मिलता, तो मेरा दूसरा काम उसे ढूंढकर मिलना था। आपा के मरने के बाद हरि की माँ उसे लेकर दूसरी जगह रहने चली गयी थी। बाद में हरि अपने बडे भाई दादा के साथ रहने के लिए आ गया। यद्यपि दादा अपने लिए अलग झोपडी बनाकर दूसरी जगह रहता था, फिर भी जब कभी मैं अकोला जाता, हरि मुझसे मिलने के लिए आये बिना न रहता। मैं अंग्रेजी पढ गया और सेठ का लडका था, इसलिए बाद में हरि मेरे साथ अदब के साथ पेश आने लगा। परन्तु उसके प्रति मेरा प्रेम तो पहले जैसा ही था। ऊँच-नीच के सस्कारो से मैं ऊपर नही उठा था और सस्कार-हीन गिने जानेवाले लोगो से मैं अनायास नही मिल सकता था। फिर भी हरि और मेरे बीच ऐसा कोई परदा नही था। बडे होने पर हरि ने अपने बाप का—कुली का पेशा दादा के साथ शुरू कर दिया था। उसका शरीर बडा मजबूत और कुश्तीबाज था। वकालत करने के लिए अकोला जाने पर मैंने वहाँ होलिका-सम्मेलन की प्रवृत्ति शुरू कर दी थी। इस सिलसिले में एक बार दगल किया गया था। सबसे अच्छे कुश्तीबाज को एक पगडी देने का निश्चय किया गया था। दगल समाप्त होने पर पहले नबरवाले पहलवान का नाम पुकारा गया, तो

क्या देखता हूँ कि हरि मेरे पैरो पर पडा है। मेरा बाल मित्र पहला रहा, इस पर तो मुझे बहुत आनद हुआ। परन्तु मेरा यह लगोटिया दोस्त मेरे पैरो पर पडा है–यह देखकर मुझे अपने पर बडी लज्जा आयी। मेरे लिए यह असह्य हो गया। इसके कुछ ही दिन बाद हरि का मुझसे सदा के लिए वियोग हो गया। अकोला में प्लेग फैल गया। इसलिए दादा तथा हरि–मजदूरो के लिए खोले गये–दूर के शिविर में रहने के लिए चले गये। वहाँ हरि को प्लेग की गिल्टी निकल आयी। उसकी बीमारी के समाचार मुझे मिले। मैं उसे देखने गया। उससे पहले ही उसने शरीर छोड दिया था। दूसरे दिन दादा मेरे पास आकर बहुत रोने लगा। इस पर से मुझे अपने मित्र की मृत्यु का समाचार मिल गया।"

दूसरे मित्र थे—मगलदास और गोरधनदास। उनके बारे में बहुत कुछ तो विद्याभ्यासवाले प्रकरण में आ ही गया है। किशोरलाल भाई ने और भी लिखा है

"न्यू हाईस्कूल के पीछे की तरफ एक दरवाजा था। वह हमेशा बन्द रहता था। उसके सामने बैठने के लिए दो-तीन सीढियाँ थी। उन पर दो तीन लडके बैठ सकते थे। एक दिन मगलदास, एक दूसरा विद्यार्थी और मैं दोपहर की छुट्टी में इन सीढियों पर बैठा था। बच्चो को महत्त्वपूर्ण मालूम होनेवाली अपने सुख-दुख की बाते हम कर रहे थे। मगलदास ने अपने जीवन की बातें शुरू की। उसके माता-पिता बचपन में ही मर चुके थे। बचपन में ही माता-पिता का मर जाना मुझे अतिशय करुण और आघातजनक लगा। उसकी उस दिन की बात का मुझ पर इतना असर हुआ कि जिसकी कल्पना मगलदास को भी नही हुई होगी। बुद्धिमान विद्यार्थी की हैसियत से इन दोनो भाइयो का मैं पहले से ही आदर कर रहा था। इस दुर्भाग्य के कारण ये दोनो भाई मेरी करुणा और प्रेम के अत्यधिक पात्र बन गये। मैंने मन में निश्चय कर लिया कि वे तो मेरे ही हैं। अपने भाइयों से भी अधिक मैं उन्हें मानने लगा। धीरे-धीरे इन भाइयों ने मेरे मन पर इतना अधिकार कर लिया कि सहजानद स्वामी, मेरे पिताजी तथा ये दो मित्र—इनमें से किसके प्रति मेरे मन में अधिक भक्ति है, यह मैं निर्णय नही कर सकता था।

'बीच के दो-तीन वर्ष छोड दें, तो वकालत पास करने तक मगनलदास और मैं साथ ही रहा। मगनलदास ने मुझे अपने सुख-दुःख की बातों का भागीदार बनाया, इसलिए यह स्वाभाविक है कि इन दो भाइयों में मगनलदास मेरा अधिक निकट का मित्र हो गया। मेरे हृदय में भी इसके प्रति बराबरी का और गोरधनदास के प्रति गुरुजन जैसा भाव है। मेरे सुख-दुःख की बातों का यह पहला श्रोता और भागीदार बनता। सन १९०७-८ में हमारा कुटुम्ब अत्यधिक कष्ट में था। चारों ओर से आर्थिक संकट उमड पडे थे। उन दिनों मेरे लिए अपने दिल को हलका करने का स्थान केवल मगनलदास ही था। अपने शरारती और उमंगभरे स्वभाव से वह मुझे प्रसन्न रखने का यत्न करता और मेरे हृदय में आशा और उत्साह भरता रहता। बचपन में यदि मुझे ऐसे शुद्ध मित्र का लाभ न होता, तो बडा होने पर अनेक लोगों के साथ जो हार्दिक मित्रता मैं कर सका हूँ, वह कर सकता या नही, इसमें मुझे शंका है।'

इन दोनो भाइयों के साथ किशोरलाल भाई की यह गाढ़ी मित्रता आजीवन रही। मगनलदास आजकल बम्बई हाईकोर्ट में बैरिस्टर हैं। कुछ समय के लिए हाईकोर्ट के जज भी हो गये थे। गोरधनभाई सर हरकिसनदास अस्पताल के प्राणरूप संचालक हैं।

किशोरलाल भाई की मैत्रीभावना के विषय में भाई नीलकण्ठ ने लिखा है

'मित्रता करना, उसे चालू रखना और निभाना, इसकी एक ऐसी तरकीब उनके हाथ लग गयी थी कि पहले कुटुम्ब के आदमी, उसके बाद पडोस के और शाला के साथी, अनन्तर अकोला का वकील-मंडल, और अन्त में सार्वजनिक कार्य के सिलसिले में अनेक व्यक्तियों के साथ उनका स्नेह हो गया। उन सबसे साथ वे सम्पर्क रखते। प्रसंगोपात्त उनसे मिलते रहते, जिनसे मिलना नहीं हो पाता, उनके समाचार वे पत्रों द्वारा मँगाते। यह सब वे इतने प्रेम और उत्साह के साथ करते कि उनके हमेशा के अस्वास्थ्य के लिए यह वस्तु कुछ अंश में भाररूप भी बन जाती। परन्तु उन्होंने कभी इसे भार नहीं समझा। यही उनके जीवन की एक परम खुराक और सुगन्ध थी।' • • •

गृहस्थाश्रम

किशोरलाल भाई की सगाई का निश्चय करने में उनकी मौसी ने बहुत बड़ा भाग लिया। उन्होंने किशोरलाल भाई के लिए गोमतीबहन को पसन्द किया। ऐसा लगता है कि किशोरलाल भाई विवाह नहीं करना चाहते थे। परन्तु इस विषय में उन्होंने कोई पक्का निश्चय कर लिया हो—ऐसा नहीं जान पड़ता। किशोरलाल भाई पद्रह वर्ष के हो गये थे। कॉलेज के पहले वर्ष में वे रहे होंगे। उस समय एक दिन मौसी ने किशोरलाल भाई को अपने पास बिठाकर गोमतीबहन के गुणों का वर्णन शुरू किया। लड़की काली नहीं है। उम्र में छोटी है, तेरी पढ़ाई में हर्ज नहीं करेगी—इस प्रकार माँ के-से लाड़-प्यार और कोमलता से उन्होंने अपनी बात रखी और विवाह के बारे में इनकार न करने को समझाया। किशोरलाल भाई लिखते हैं—"मैं मौसी के लाड़ में आ गया और अविवाहित रहने के अपने मनोरथ को छोड़कर मैंने अपनी सम्मति दे दी।" परन्तु बालूभाई ने सम्बन्ध का निश्चय करने में आपत्ति की। उन्होंने कहा—"पिताजी की स्वीकृति के बगैर मैं यह जिम्मेवारी नहीं ले सकता। मैं उन्हें लिखूंगा और उनका जवाब आ जाने के बाद हम बातचीत करेंगे।" मौसी ने तो गोमतीबहन की माँ से मिलकर तिलक का मुहूर्त भी निश्चित कर लिया था। परन्तु बालूभाई की इस आपत्ति के कारण निश्चित मुहूर्त पर तिलक नहीं हो सका। इसके बाद यह बात एक वर्ष आगे टल गयी। इस बीच गोमतीबहन की माताजी अपना मनोरथ पूरा होने से पहले ही गुजर गयी। गोमतीबहन के पिताजी तो पहले ही गुजर चुके थे। अंत में संवत् १९६३ (ई० स० १९०७) के माघ महीने में किशोरलाल भाई की सगाई पक्की हुई। उसके बाद चैत्र सुदी ८ के दिन यह सम्बन्ध पक्का कराने में उत्साह रखनेवाली उनकी मौसी भी शान्त हो गयी। उनके बारे में किशोरलाल भाई ने लिखा है—"हमारे लिए तो मौसी ने माँ का स्थान निष्ठापूर्वक संभाला था। हमारे और उनके बच्चों के बीच किसी प्रकार भी भेदभाव रखा गया हो, ऐसा हमें कभी नहीं लगा।"

यह सगाई लगभग छह वर्ष तक रही। किशोरलाल भाई के मन में इस तरह का भ्रम हो गया था कि वे केवल बीस इक्कीस वर्ष ही जीवित रहनेवाले है। इसलिए गोमतीबहन के प्रति कही जरा-सा भी प्रेम उत्पन्न हो गया, तो फिर उनका भावी जीवन एक पतिनिष्ठ नही रह सकेगा—ऐसा उनका खयाल बन गया था। इसलिए वे गोमतीबहन की तरफ देखते भी नही थे। बातचीत करना तो दूर की बात थी।

किशोरलाल भाई लिखते है

'सवत् १९६९ के फागुन वदी ८ के दिन हमारा विवाह हुआ। सॉलिसिटर की उम्मीदवारी से मै १६-३-१९१३ को मुक्त हुआ और मार्च की ३० तारीख को हमारा विवाह हुआ। एल एल० बी० की परीक्षा देना बाकी था। वह जून में होनेवाली थी। मेरी इच्छा थी कि परीक्षा के बाद शादी होती, तो अच्छा होता, जिससे यह न कहा जा सकता कि अध्ययन-काल के बीच में ही गृहस्थ बन गया। परन्तु मैं अपनी इच्छा पूरी नही कर सका। मैंने आशा की भी कि परीक्षा पूरी होने तक तो गामती नैहर में रह सकेगी। परन्तु वह अपेक्षा भी गलत साबित हुई। विवाह के दूसरे या तीसरे ही दिन मैने गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर दिया। विवाह के एक या दो सप्ताह के अन्दर ही मुझे इन्फ्लूएँजा हो गया। यद्यपि इसका स्वरूप घबडा देने लायक नही था। परन्तु डॉ० दलाल ने बडी कडी सूचनाएँ दी। उन्होने कहा कि मैं उठकर बैठूँ भी नहीं, बिस्तर तो छोडना ही नही चाहिए, और राप्टी फ्लाजिस्टीन (अब तो मेरे सीने से यह लेप बहुत परिचित हो गया है। परन्तु उस समय तो इसका नाम पहले-पहल ही सुना था) तो लगाये ही रहूँ। इन सब सूचनाओ के कारण पिताजी, गामती तथा अन्य निकट के लोगो का खयाल हो गया कि बीमारी गभीर है और वे सब बडे चिन्तित हो गये। परन्तु करीब नौ-दस दिन में ही मै अच्छा हो गया और अपनी पढ़ाई में लग गया।

'शादी के पहले मै हमेशा विवाहित जीवन का निषेध करता। मैं कहता था कि यह आदर्श स्थिति नही है। बापूभाई के एक मित्र मेरे इन विचारो का बदलने के लिए मेरे साथ खूब चर्चा करते। तब मै कहता कि "मैं आप सबके जीवन को देखता हूँ। उसमें मुझे कोई आकर्षक तत्त्व नही दीखता। मैंने आज

तक कोई आदर्श दम्पति नही देखे।" मेरे इन विचारो में बाद के अनुभव से कोई फर्क नही पडा। जिस मनुष्य को समाज के काम के लिए सेवामय जीवन व्यतीत करना है, उसे विवाह का मोह छोड देना चाहिए—ऐसा मैं मानता हूँ। मेरी यह सलाह बहुत से माता-पिताओं को अच्छी नही लगती। वे कहते हैं—"क्या शादी करने पर मनुष्य देश की सेवा नही कर सकता? गाधीजी और आप सब शादी करके भी देश की सेवा कर ही तो रहे हैं।" परन्तु मेरे मन को हमेशा लगता रहा है कि अगर इन सबने विवाह न किया होता, तो वे अधिक कीमती सेवा कर सकते। इससे उलटी दूसरी बाजू का भी मुझे अच्छा अनुभव है। अविवाहित देश-सेवकों में मैंने एक दोष देखा है। अगीकृत कार्य के प्रति जिम्मेदारी की भावना तथा उसमें लगे रहने की दृढता मेरे देखने में बहुत कम आयी है। यह भी अनुभव आया है कि लम्बे समय तक चलनेवाले काम उनके भरोसे नही छोडे जा सकते। इसी प्रकार विविध स्वभाववाले मनुष्यो के साथ हिलमिल कर रहने की योग्यता भी इनमें कम पायी जाती है। कई बार इनमें केवल व्यक्तिगत स्वार्थ देखने की ही आदत होती है। ये सारे दोष कितने ही अविवाहित सेवकों में अवश्य पाये जाते हैं। परन्तु मेरा यह खयाल अभी गया नहीं है कि गृहस्थ के गुणोवाला मनुष्य अविवाहित रहे, तो अधिक अच्छा काम कर सकता है।

"गोमती को हमेशा यह इच्छा रही है कि वह अधिक विद्या प्राप्त कर ले। परन्तु उसकी यह इच्छा अपूर्ण ही रही। प्रारम्भ में पढने-पढाने के प्रयत्न अवश्य हुए। परन्तु जिस प्रकार मेरा व्यायाम करने का कार्यक्रम कभी बराबर नही चल सका, उसी प्रकार उसका भी पढने का कार्यक्रम कभी निर्विघ्न रूप से नही चल सका। इसके लिए उसने अपने प्रति लापरवाही दिखाने के आरोप हमेशा मुझ पर लगाये हैं। इसके विरुद्ध मेरा उलटा यह आक्षेप रहा है कि प्रारम्भ में गलत खयाल के कारण उसे पढाने के मेरे सारे उत्साह को उसीने तोड दिया। अब वह जो विषय सीखना चाहती है, उन्हें सीखने के लिए उसे जो श्रम करना पडेगा, उस मात्रा में उसे जो ज्ञान मिलेगा, उससे उसके जीवन का कोई उत्कर्ष नही हो सकेगा। उन विषयो को वह न भी पढे, तो उसके कारण उसका उत्कर्ष रुकेगा नही—ऐसी मेरे मन की प्रतीति है, फिर भी उसकी इच्छा से मैं

इसलिए करते ही रहते। हमारे घर में एक पुराना रिवाज था—शौच जाने पर स्नान करना। इसलिए कभी-कभी तो गरमी के मौसम में भी हम भर दोपहरी में स्नान करने के लिए नदी पर जाते। इस बात पर आश्रम के छोटे-बडे सभी हम पर हँसते। बाद में पू० काका पू० नाथजी के सपर्क में आये और उन्होने जब समझाया कि इस तरह स्नान करना धर्म का अग नही है, तब यह सब एकदम छोड दिया गया और धीरे-धीरे घर के अन्य लोगो ने भी इसे छोड दिया। मुझे नही लगता कि ऐसा करने से हमारे घर में कोई अस्वच्छता आ गयी। मुझे तो लगता है—और पू० काका भी कई बार कहते—कि नहाने की झझट के कारण हम कई बार शौच जाने में आलस कर जाते। वह अब चला गया, इसलिए इससे लाभ ही हुआ।"

सन् १९२५ के बाद वे साबरमती आश्रम में एक साथ अधिक दिनो तक नही रहे। उसके बाद दोनो का स्वास्थ्य भी अच्छा नही रहा। इस कारण काम-काज में उन्हें दूसरे की मदद लेनी पडी। इसलिए तब से ऊपर के जैसे दृश्य भी दीखने बद हो गये।

उनके गृहस्थाश्रम का मुख्य अग अतिथि-सत्कार और परस्पर की सेवा-शुश्रूषा रहा है।

दोनो हमेशा बीमार रहते। फिर भी दोनो ने अपना हँसमुख और विनोदी स्वभाव कायम रखा। किशोरलाल भाई तो अतिशय वेदनाओं में भी कई बार अपनी कीमत पर विनोद करने मे नही चूकते थे। इनके घर मेहमानो को कभी परायापन नही लगता था। यह इस कुटुम्ब की अपनी पुरानी परम्परा रही है।

मिलने आनेवालो का वे हमेशा बडे प्रेम से सत्कार करते। इस विषय में भाई नीलकण्ठ लिखते है

"कोई भी परिचित व्यक्ति मिलने आता, तब यदि वह उम्र में बडा होता, तो वे अवश्य उठकर खडे हो जाते और उसे लिवाने के लिए आगे जाते। तबीयत अच्छी न होने पर भी जाते समय उसे पहुँचाने जाते। सातांक्रुज मे जब घर पर रहते, तब खेर, मुरारजी भाई, वैकुण्ठ भाई, रामेश्वरदास बिड़ला आते या उनके कोई पुराने मित्र अथवा परिवार में से ही कोई आता, अथवा कोई छोटा-बडा बिलकुल नवीन व्यक्ति आता, तो वे यह सब विधि किये बिना न

इसमें जो श्रम होता, उसके कारण उन्हें कई बार बाद में बड़ा कष्ट भी उठाना पड़ा है। स्वामी आनद, काका साहब या महादेवभाई में से कोई मिलता तो बड़े प्रेम से गले मिलते। बापूजी, नाथजी या बड़े भाई आते, तो उनके पैर छूते। पुराने लोगों की भाषा में कहें, तो ये दृश्य देवदुर्लभ होते थे। छोटों में मुझे अथवा चि० शाता को वे आशीर्वाद देते। कई बार छाती से भी लगा लेते। उस समय उनसे हमें जो गरमाहट और निश्चिन्तता मिलती, वह कभी भुलायी नही जा सकती।"

"बम्बई में हमारे यहाँ एक पुराना नौकर था रामभाऊ और सुन्दरीबाई नाम की एक दाई थी। मुरब्बी गोरधनभाई के यहाँ रामा नाम का एक नौकर था और एक रसोइया भी था। इन सबसे वे बड़े प्रेम के साथ मिलते और उनके कुशल-समाचार पूछते। बचपन में घर के नौकर-चाकरो को वे नीची दृष्टि से देखते थे—ऐसा कई बार ये लोग कहते। परन्तु बाद में उन्होंने इन सारी भूलो को धो डाला था और मानवमात्र के प्रति समान भाव रखने का पूरा प्रयत्न किया।"

कभी दूसरे के घर अतिथि के रूप में जाते, तो दोनो इस बात का बहुत ध्यान रखते कि आतिथेय को कम-से-कम कष्ट हो। यही नही, बल्कि गोमतीबहन का तो इस ओर विशेष ध्यान देने का स्वभाव रहा है कि आतिथेय की सुविधाओं की ओर भरपूर ध्यान रखा जाता है या नही।

एक बार गोमतीबहन ने बापू की देख-रेख में पद्रह दिन का उपवास किया था। उस समय किशोरलाल भाई उनकी जो सेवा करते थे, वह दृश्य अदभुत था। स्वय किशोरलाल भाई को एक बार बुखार आया, तब बापू ने उनसे उपवास करवाया। उससे बुखार तो एक हफ्ते में चला गया, परन्तु कमजोरी इतनी आ गयी कि लगभग आठ महीने तक वे पहले की भाँति काम करने लायक न हो सके। उपवास के इस अनुभव के बाद दोनों इस नतीजे पर पहुँचे थे कि प्राकृतिक उपचार धनवानो के ही बूते की चीज है। गरम पानी के स्नान, बारबार मिट्टी के लेप करना, और बीमार का लम्बे समय तक आराम करना—यह सब साधारण स्थिति के मनुष्य की शक्ति के बाहर की बातें है। इनकी बीमारी के लिए बापू कई बार प्राकृतिक उपचार करने को कहते। परन्तु जो बातें

आसानी से हो सकती, उनको छोडकर वे कभी प्राकृतिक उपचार का आश्रय नही लेते थे।

दोनो एक-दूसरे की सेवा करते। परन्तु अधिकतर मौको पर गोमतीबहन ही किशोरलाल भाई की सेवा करती। सेवा करते-करते वे एक प्रशिक्षित नर्स के समान अपने काम में कुशल बन गयी। बीमार कोई चीज माँगे, उससे पहले ही उसकी जरूरत को समझकर वह चीज हाजिर कर देना, समय पर भोजन अथवा दवा देना—यह सब करने का उन्हें खूब अभ्यास हो गया। कभी-कभी सारी रात जागरण करना पडता। यह सारा कष्ट उठाते हुए भी उनका चेहरा हमेशा हँसमुख ही रहता। इस सेवा के अलावा दूसरे कामो में भी वे किशोरलाल भाई की मदद करती रहती। किशोरलाल भाई जब बीमार रहते, तब उनकी डाक पढकर सुनाती, वे जो उत्तर लिखाते, सो लिख देती। कागजो की नकल कर देती, कागजो को फाइल करती। मतलब यह कि एक मंत्री का पूरा काम करती। इसके अतिरिक्त किशोरलाल भाई के विकास करनेवाले विचारो को समझ करके उनका अनुसरण करने का भी वे प्रयत्न करती। इस प्रकार वे सच्चे अर्थ में सहधर्मचारिणी थी। किशोरलाल भाई ने अपनी पुस्तक 'गाधी-विचार-दोहन' गोमती बहन को अर्पण करते हुए लिखा है—"जिसकी चिता-भरी शुश्रूषा के बगैर इस पुस्तक का लिखना और उसे पूरा करना बहुत कठिन था, उस प्रिय सहधर्मचारिणी को यह अर्पित है।" यह बिलकुल सही है। किशोर-लाल भाई के एक घनिष्ट मित्र ने बात-बात में एक बार कहा था कि "सचमुच यह जोडी सवेरे उठकर पैर छूने योग्य है।" ◆◆◆

वकालत

एल-एल० बी० पास करने के बाद किशोरलाल भाई के सामने दो मार्ग थे। एक तो पढ़ाई-जारी रखकर सॉलीसिटर की परीक्षा देना अथवा अकोला जाकर वकालत शुरू कर देना, और वकालत करते-करते सॉलीसिटर की परीक्षा के लिए अध्ययन जारी रखना। अभी कुटुम्ब की आर्थिक कठिनाई दूर नहीं हुई थी। अकोला और बम्बई के दोनों घरों का बोझ बालूभाई पर था। किशोरलाल भाई सोच रहे थे कि यदि अकोला में वकालत अच्छी चल निकले, तो बालूभाई का बोझ हलका हो सकता है। उन्हें यह भी आशा थी कि वकालत करते-करते अपने अध्ययन के लिए भी वे समय निकाल सकेंगे। करीब डेढ़ वर्ष तक उन्होंने सॉलीसिटर की परीक्षा देने का विचार नहीं छोड़ा और परीक्षा की दृष्टि से अपनी पढ़ाई जारी रखी। परन्तु ज्यों-ज्यों वकालत का काम बढ़ने लगा, त्यों-त्यों परीक्षा की तैयारी जारी रखना उन्हें असंभव लगने लगा। इसलिए सॉलीसिटर बनने का विचार छोड़ दिया।

पहचान के व्यापारियों और आढतियो के केस उनके पास आने लग गये। इसके अलावा वे अपने मुवक्किलो को भी सतोष दे सकते थे। इस कारण उनकी वकालत अच्छी चल निकली। इनके द्वारा तैयार किये गये दावों के मसविदा की प्रशसा वकीलो और जजो के बीच भी होने लगी। किशोरलाल भाई लिखते है—"बड़े वकील मुझे अपने साथ खुशी-खुशी रखते। वहाँ एक अग्रेज बैरिस्टर —श्रीवाल्श था। उसके मातहत वकील की हैसियत से काम करने की व्यवस्था पहले से ही कर ली गयी थी। इसके अतिरिक्त वहाँ के एक बडे प्रमुख वकील के साथ भी काम करना पडता था।"

वकालत के साथ-साथ अकोला की सार्वजनिक प्रवृत्तियो में तथा कितने ही सेवा-कार्यो में भी वे काफी भाग लेते रहते थे। वकालत शुरू करने के कुछ ही दिनो बाद दक्षिण अफ्रीका मे गाधीजी द्वारा जारी किये गये सत्याग्रह की मदद के लिए कोष एकत्र करने के सम्बन्ध में माननीय श्रीगोखले ने अपील जारी की। यह कोष एकत्र करने में किशोरलाल भाई ने उत्साह पूर्वक भाग लिया। श्रीमती बेसेंट की होमरूल लीग में तथा जिला काग्रेस के कामो में भी वे काफी भाग लेते रहते। अकोला में उन्होने होलिका-सम्मेलन की प्रवृत्ति शुरू की थी। आज से पैतीस-चालीस वर्ष पहले होली का त्यौहार कितने भद्दे ढग से मनाया जाता था—इसका स्मरण पुराने लोगो को होगा ही। इस बारे मे भाई नीलकण्ठ लिखते है

"हम स्वामी नारायण सम्प्रदायवाले है। इसलिए हमारे यहाँ भगवान की मूर्ति पर अबीर-गुलाल अथवा टेसू के फूलो के पानी के अतिरिक्त और कुछ नही डाल सकते थे। उत्सव के प्रसाद के रूप में भोजन मे मिष्टान्न बनता। परन्तु अपशब्द बोलने या गन्दे खेल खेलने जैसी कोई बात नही होती थी। किशोरलाल काका का यह आग्रह था कि सर्वत्र इसी तरह से होली मनायी जानी चाहिए। इसलिए उन्होने तथा वहाँ के एक-दो मारवाडी सज्जनो ने होलिकोत्सव मनाने का निश्चय किया। अपशब्द तथा गन्दे खेलो का त्याग करने की सूचनाएँ तथा ध्वजा-पताकाएँ लेकर वे जुलूस निकालते और मर्दाने खेलो का कोई कार्यक्रम बनाते। सारे समाज पर, मजदूरो और कुलियो पर भी इसका अच्छा असर हुआ।"

किशोरलाल भाई की वाणी में कभी कटुता नही आती थी—इसका अनुभव तो अब बहुतो को हो गया है। ऐसा भी देखा गया है कि वे कई बार सच्ची परन्तु

कडवी बात नही कह सकते थे। फिर भी उनमें इतनी खालिसत थी कि वे कटु सत्य इस तरह कह जाते कि सुनकर आश्चर्य होता, साथ ही सुननेवाले के मन पर यह असर हुए बिना न रहता कि उसके पीछे उनका हेतु सद्भाव शुद्ध ही होता था। किसीको वे भले ही उसके मुँह पर कडवी बात कह जाते, फिर भी उनके मन में उसके प्रति कभी द्वेष नही रहता था। इसके विपरीत जब वह आदमी उनके सद्भाव को पहचान जाता, तब वह इनका मित्र बन जाता।

कितने ही मजिस्ट्रेटों और मुन्सिफो का उन्होने बडा विरोध किया। परतु उन्हीमें से कितने ही लोगो के साथ उनकी मित्रता भी हो गयी। एक मुन्सिफ (सब-जज) के विषय में किशोरलाल भाई तथा दूसरे बहुत से वकीलो का यह खयाल बन गया था कि वह महाराष्ट्रियों और बडे वकीलो को अधिक सहूलियतें देता है और छोटे वकीलों की बात भी अच्छी तरह से नही सुनता—किशोरलाल भाई ने अपनी यह राय मुकदमे की बहस के दौरान में ही उस सब-जज को सुना दी। यह सुनते ही वह एकदम गरम हो गया। बहुत से वकीलो को लगा कि अब इस अदालत में कदम रखना भी किशोरलाल भाई के लिए कठिन हो जायेगा। परन्तु वह सज्जन अतिशय प्रामाणिक और सच्चे दिलवाले थे। उन्होने किशोरलाल भाई के निःस्पृह और सत्य कथन की उचित कद्र की। किशोरलाल भाई लिखते हैं :

"इस अदालत में मेरे तो रोज मुकदमे होते और बडे-बडे मुकदमे होते। फिर भी इस घटना के बाद उनके और मेरे बीच कभी झगडा होने का कारण उत्पन्न नही हुआ। यही नही, बल्कि मैंने जब वकालत छोडी, तब वे और एक अन्य मजिस्ट्रेट मेरे यहाँ भोजन करने भी पधारे। उसके बाद उन्हें बम्बई आना पडा, तब भी मेरे घर पर वे पधारे थे और अपनी बेटी का इलाज डॉ० जीवराज मेहता से करवाना चाहते थे, सो वह काम मुझे सौंप गये थे।"

एक दूसरा किस्सा अकोला के त्र्यंबकराव बापट वकील का है। उनके विषय में किशोरलाल भाई ने लिखा है :

"वे कट्टर तिलक पक्ष के थे। मेरी होलिका-सम्मेलन वाली प्रवृत्ति के उत्पादक थी देवधर आदि गोखले के पक्ष के थे। इसलिए इनकी इस प्रवृत्ति से थी बापट का तीव्र विरोध था। इसको लेकर एक बार उन्होंने मुझसे बडा झगड़ा किया था। परन्तु मैंने जान लिया था कि वे एक प्रामाणिक आदमी हैं।

इसके बाद तो वे मेरे घनिष्ट मित्र बन गये। हम लोग म्युनिसिपैलिटी में गये। उनके दोषो को दूर करने के विषय में अनेक बार हमारा विचार-विनिमय होता। गांधी स्वभाव और क्षयरोग के कारण उनकी मृत्यु जवानी में ही हो गयी, नही तो वे अकोला के एक अच्छे नेता बन जाते।"

अकोला के डिप्टी कमिश्नर के साथ घटी एक घटना के बारे में किशोरलाल भाई लिखते है:

"मेरे वकालत छोडने के कुछ ही समय पहले अकोला में ऐसे चिह्न दिखाई देने लगे कि यहाँ जोरो का प्लेग फैलेगा। पिछले वर्ष प्लेग फैला था और उसने गजब ढा दिया था। इस वर्ष डिप्टी कमिश्नर ने सोचा कि प्लेग की रोकथाम के लिए पहले से ही कडी काररवाई करनी चाहिए। इसमें जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए उन्होने नागरिको की एक सभा की। सरकार की ओर से नागरिको के सहयोग की माँग करनेवाली यह शायद पहली ही सभा थी। उपस्थिति अच्छी थी। परन्तु डिप्टी कमिश्नर ने लोगो को ढाढस बँधानेवाला और मार्गदर्शक भाषण करने के बदले अपनी सत्ता और अधिकारो का बयान करनेवाला भाषण दिया और कहा कि सूचित सावधानी की हिदायतो का लोग पालन नही करेंगे, तो उन्हें दडित होना पडेगा। यह सुनकर मुझे बहुत बुरा लगा और मैंने खडे होकर डिप्टी कमिश्नर के भाषण में जो उद्धतपन था, उस पर खेद प्रकट किया। मैंने कहा कि जिस समय समाज पर सकट आया हुआ है, उस समय उसे हिम्मत दिलाने और मदद करने की जरूरत है। उसके बदले इस तरह का रुख प्रकट करने से लोगो का सभभाव बिगड जायगा और उनका सहयोग सरकार नही प्राप्त कर सकेगी। मै बोल रहा था कि एक प्रमुख नागरिक ने मुझसे भाषण वन्द करने के लिए कहा। परन्तु मुझे कहना पडेगा कि डिप्टी कमिश्नर ने मुझे बगैर रुके अपनी बात पूरी तरह से कह लेने दी और मेरा जवाब देते हुए कहा—"वर्षों से हम लोग सत्ताधारी रहते आये है, इसलिए हमारी भाषा ही ऐसी हो गयी है। वास्तव में हमारा उद्देश्य यह नही है।" परन्तु बाद में श्रीवाल्श द्वारा मुझे कहलाया गया कि "अब आगे कभी इस तरह का बर्ताव करोगे, तो चक्कियो का मुकावला करना होगा। याद रखना।" परन्तु अकोला के लोगो ने मेरी हिम्मत पर मेरा अभिनन्दन किया।

कितने ही मित्रों ने यह भी कहा कि वकालत छोड़ने का तुम लगभग निश्चय कर चुके हो, इसी कारण ऐसा भाषण कर सके। शायद यह बात भी सही हो।"

अब कुटुम्ब की आर्थिक स्थिति सुधरने लग गयी थी। बालूभाई के भाग्य-चक्र ने फिर जोर मारा। उन्हें जापानी कम्पनियों का काम मिलने लग गया था। इसी वर्ष उनका परिचय जमनालालजी के साथ हुआ। उन्होंने भी अपना काम बालूभाई को देने का आश्वासन दिया। बालूभाई ने ईश्वरदास की कम्पनी के नाम से दलाली और जुगलकिशोर घनश्यामलाल के नाम से मुकद्दम का काम—इस तरह दो-दो काम शुरू कर दिये। ये दोनों काम बालूभाई को इतने लाभदायक प्रतीत हुए कि सन् १९१६ में किशोरलाल भाई से उन्होंने आग्रह किया कि वे वकालत छोड़कर उनकी मदद के लिए बम्बई चले आयें। पिताजी को यह पसन्द नहीं था, फिर भी किशोरलाल भाई वकालत छोड़कर बम्बई चले गये।

किशोरलाल भाई ने कुल तीन वर्ष वकालत की। जिस समय उन्होंने वकालत छोड़ी, उस समय वकील-मण्डल ने उनके प्रति बड़ा प्रेम प्रकट किया। जजों ने भी उसमें भाग लिया। उनका पहले से ही यह स्वभाव था कि जो चीज उनके सामने आती, उसे वे अच्छी तरह समझ लेते। इस विषय में भाई नीलकण्ठ लिखते हैं:

"कॉलेज की पढ़ाई पूरी करके एल-एल० बी० का अध्ययन करते हुए, गॉलीमिटर्स के यहाँ आर्टिकल्ड क्लर्क के रूप में रहे, तब तथा वकालत के दिनों में भी वे प्रत्येक पुस्तक और अपने मुकदमे खूब एकाग्र होकर पढ़ते और उस पर मनन करते। इसी प्रकार अपनी किताबें, कागजात और फाइलें बहुत व्यवस्थित रखते। उन्होंने लगभग तीन वर्ष तक वकालत की। इस समय इनके पास जो दो क्लर्क थे, वे बहुत खुश रहते; क्योंकि वे स्वयं बहुत व्यवस्थित रीति से काम करते और क्लर्कों से भी इसी प्रकार काम लेते। जो मुवक्किल आते, उन्हें ऐसा नहीं लगता कि वकील साहब कोई गैर आदमी हैं, बल्कि ऐसा लगता कि ये घर के ही अपने आदमी हैं। इस गुण का उन्होंने उत्तरोत्तर उत्कर्ष ही किया है। उनके पास जो आता, वह उनका आदमी बन जाता। उनकी प्रेमभरी मन्द मुसकुराहट पर वे हर आदमी को, मित्रों को, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को और अन्त में स्वामिभाव को [illegible] लेती। उनसे जो सिखने अथवा सलाह लेने आते, वे भी [illegible] जाते।"

• • •

दमे की बीमारी : १० :

किशोरलाल भाई के पिताजी सूरत छोडकर बम्बई जाने के बाद नारण-दास राजाराम की फर्म में नौकरी करने लगे। यह फर्म एक अग्रेजी फर्म की आढ़त करती और अलसी, गेहूँ आदि वस्तुएँ भारत से खरीदकर विदेशो को भेजने का काम करती। इसलिए जहाँ-जहाँ इन वस्तुओ का मौसम शुरु होता, वहाँ-वहाँ खरीददारो को भेजना पडता। तदनुसार पिताजी को वर्ष में लगभग आठ महीने भारत के भिन्न-भिन्न भागो में जाना पडता। इसी दौड-धूप में एक बार उन्हे गुलबर्गा में लम्बी और सख्त बीमारी भोगनी पडी। इससे उन्हे बहुत दिनो तक बडी कमजोरी रही और फेफडो को भी कुछ हानि पहुँची। कुटुम्ब में ऐसी मान्यता है कि पिताजी की इस बीमारी के बाद जितने भी बच्चे पैदा हुए, उनके फेफडे कमजोर ही रहे। इस प्रकार नानाभाई और किशोरलाल भाई की फेफडो की कमजोरी उन्हे पिताजी से विरासत में मिली थी।

किशोरलाल भाई वकालत छोडकर बम्बई चले तो गय, परन्तु वे बालूभाई की कोई आर्थिक मदद नही कर सके। उनके शरीर और स्वभाव दोनो के लिए रूई बाजार का काम अनुकूल नही पडा। बम्बई जाने से पहले अकोला में ही उन्हें दमा और दम घुटने के दो दौर आ चुके थे। किशोरलाल भाई लिखते हैं .

"घर के भीतर बडी गरमी महसूस हो रही थी, इसलिए मैं रात के साडे आठ बजे के करीब बाहर खुले में बेंच पर पडा था। थोडी देर के लिए आँख लग गयी थी कि एकाएक मेरी नीद खुल गयी। मैंने देखा कि मैं साँस नही ले सकता। दम घुट रहा था। दमे का मेरा यह पहला अनुभव था। मुझे कॉफी पिलायी गयी और छाती पर अजवाइन रखी गयी। इससे यह दौर आधे-पौन घण्टे के भीतर समाप्त हो गया। परन्तु कुछ दिन बाद फिर ऐसा ही दौर आया। उसके बाद अकोला में दौर नही आया। परन्तु बम्बई आने पर मालूम हुआ कि दमा अब हमेशा का साथी बन गया है। दमे के शुरु-शुरु के दौरो में बहुत अधिक दम घुटता था। कई बार तो मैं जोर-जोर से रोने लग जाता और उसमें कुछ

हल्कापन भी मालूम होता। अंगरेजी में जिसे Anaphylaxis pangs कहते हैं उस तरह का यह दमा था—ऐसा मुझे लगता है। इसका असर कुछ ही घण्टे रहता था। ऐंठन चली जाने के बाद लगता था कि कुछ नहीं हुआ। परन्तु बम्बई में रुई बाजार की धाँस के कारण तथा भारी वर्षा के कारण मुझे स्थायी रूप से सर्दी रहने लग गयी। इसमें से श्लेष्मायुक्त श्वासनलिका के सकुचन और जठरद्वार (डायाफ्राम) की जडतावाले दमे ने धीरे धीरे मेरे शरीर में अपना घर कर लिया।'

दमे के कुछ सादे उपचारों की बातें बहुत प्रचलित रहती है। कोई कहता कि अमुक मनुष्य की दवा का सेवन केवल एक बार किया और दमा चला गया। अब इस कुटम्ब में दमे के तीन मरीज हो गये थे। नानाभाई उनका बडा लडका शान्ति और किशोरलाल भाई। उन्होंने किसीसे सुना कि झाँसी के पास ओरछा नाम का एक स्टेशन है। उसके पास के एक गाँव में एक राजपूत हर रविवार को दमे की दवा देता है। उसे केवल एक बार लेने से और एक महीने के पथ्य-पालन से दमा चला जाता है। किशोरलाल भाई लिखते है

'अकोला के स्टेशन मास्टर को दमे की शिकायत थी। उसने इस दवा का सेवन किया था और वह इसकी तारीफ करता था। हम और अकोला के एक दूसरे वकील लालच में आकर वहाँ गये। गोमती और एक नौकर हमारे साथ था। रास्ते में नानाभाई दमे से बहुत परेशान हुए। उन्हें उठाकर प्लेटफार्म बदलना पडता। ओरछा स्टेशन से एक डोली में डालकर उन्हें उस गाँव में ले जाना पडा। वहाँ उसने कुछ जडें पीसकर उसका एक छोटा-सा गोला बनाया और उस पानी में घोलकर उन्हें पिला दिया। उस दिन के भोजन में गाय के घी में पकायी पूडियाँ मीजकर घी-गुड के साथ उनका चूर्मा लेना था। दूसरे दिन सवेरे के भोजन के लिए पहले दिन ही चावल पकाकर उसमें जल डालकर उसे रातभर बाहर रख दिया गया था। दिसम्बर का महीना था। सवेरे चार बजे के करीब पडोस के एक कुएँ पर जाकर स्नान करने के लिए हमें कहा गया। नानाभाई के ऊपर तुरत ही दवा का इतना असर हुआ कि वे चलने फिरने लग गये। यही नहीं, बल्कि सवेरे वहाँ जाकर स्नान करने का साहस भी उनमें आ गया। नहा लेने के बाद उस पके हुए भात में से पानी निकालकर उसमें गाय का दही

मिलाकर सबको खाने के लिए दिया गया। छह-साढ़े छह बजे तक यह सब निपट गया और हमें छुट्टी मिल गयी। नानाभाई स्टेशन तक अर्थात् लगभग चार मील पैदल चले आये। एक महीने तक गाय का घी, दूध, ब्रह्मचर्य और दूसरे कुछ पथ्य पालन करने के लिए कहा गया था। दवा के लिए हम तीनो से तीन-तीन आने धर्मादाय के रूप में रखवाये गये। परन्तु सेकेण्ड क्लास का रेल-किराया और अन्य खर्च—इस तरह कुल मिलाकर कोई दो सौ रुपये हमारे खर्च हो गये। दवा का लाभ केवल शीतकाल भर रहा। उसके बाद हमारी स्थिति 'जस-की-तस' हो गयी।" आगे के वर्णन में आश्रम के प्रति आकर्षण के बीज अनजान में किस तरह पड गये, इसका वर्णन है।

"झाँसी से लौटने के बाद गोमती के साथ मैं वापस बम्बई चला गया। उसके कुछदिन बाद गोमती, मै, नीलू और निर्मला (बालूभाई के पुत्र और पुत्री) गढडा जाने के लिए निकले। वापस लौटते हुए वे सारंगपुर, अहमदावाद, खेडा (किशोरलाल भाई के चाचा के पुत्र श्रीवरजीवनदास वहाँ सिविल सर्जन थे), उमाण, बडताल आदि स्थानो पर होते हुए लगभग सवा महीने में बम्बई लौटे। अहमदावाद में उस समय कोचरब में सत्याग्रहाश्रम था, वहाँ भी गये। दूसरे आश्रमो और मदिरो में पाँच-दस रुपये भेट रखते आये थे, उसी प्रकार यहाँ भी पांच रुपये भेंट के रूप में रख दिये।

"बम्बई लौटने के कुछ दिन बाद खेडा में मुरब्बी वरजीवन भाई बीमार हो गये। इसलिए फिर वहाँ गया। वहाँ मैं महीना-सवा महीना रहा। वहाँ मुझे समाचार मिला कि श्री चदूलाल काशीराम दवे आश्रम में रहने के लिए गये हैं। वे तो केवल दो-चार दिन के लिए ही वहाँ गये थे, परन्तु मैं समझा कि वे आश्रम में शामिल हो गये है। वे मेरे मित्र थे। इसलिए मैंने आश्रम के उद्देश्य, नियम, ध्येय आदि के विषय में उनसे जानकारी मँगायी। वह उन्होने भेजी। मुझे ऐसा लगा करता था कि मैं बम्बई में नीरोग नही रह सकूँगा। इसलिए एक तरफ तो ऐसे विचार उठते कि अकोला जाकर मुझे फिर वकालत शुरू कर देनी चाहिए और दूसरी तरफ मन में राष्ट्र का काम करने की अभिलाषा भी जाग गयी थी!"

परन्तु इसके लिए तो एक स्वतत्र प्रकरण लिखना होगा। ♦♦♦

पिताजी के कुछ संस्मरण

किशोरलाल भाई के नानाजी ने अपनी लडकियाँ मशरूवाला कुटुम्ब में दी, तो अपने मन में यह निश्चय कर लिया कि प्रत्येक लडकी को बम्बई में एक मकान खरीदने के लिए कुछ दिया जाय। तदनुसार अपने मृत्यु-पत्र में इस काम के लिए प्रत्येक लडकी को उन्होंने पद्रह हजार देने की व्यवस्था कर दी। सूरत की नौकरी से पिताजी को सन्तोष नही था। उन्हें स्वभाव से ही नौकरी प्रिय नहीं थी। इसलिए सूरत छोडकर वे बम्बई जाकर वस गये, यद्यपि वहाँ भी कुछ वर्ष तो उन्हें नौकरी करनी ही पडी। जान पडता है कि पिताजी की भाँति अन्य सब चाचा भी बम्बई में जाकर वस गये। हाँ, वे सब एक साथ गये हो—ऐसा नही लगता। एक के बाद एक गये और जैसे-जैसे वहाँ पहुँचे, अलग-अलग मकान लेकर रहने लगे। जब आत्माराम काका और पिताजी बम्बई गये, तब नानाजी ने दोनो के लिए एक-एक मकान लेकर रख लिया था।

हम जानते है कि बम्बई में पिताजी ने नारणदास राजाराम की फर्म में नौकरी कर ली थी। इस नौकरी में उन्हें बहुत अधिक घूमना पडता था, इसलिए उन्हें यह पसन्द नही थी। अत उन्होंने सोचा कि कोई अनुकूल स्थान ढूँढकर वहाँ अपना कोई निजी धन्धा शुरू करना चाहिए। अपने दौरो के बीच इस काम के लिए उन्हें अकोला उपयुक्त जान पडा और वहाँ जाकर वे बस गये। यह घटना किशोरलाल भाई के जन्म के एकाध वर्ष पहले या बाद की होनी चाहिए। वहाँ उन्होंने शुरू में नारणदास राजाराम की फर्म के आढतिया के तौर पर काम शुरू किया। परन्तु कुछ समय बाद आढत छोड दी और जुगलकिशोर घनश्यामलाल के नाम से स्वतत्र रूप से काम शुरू कर दिया। किसान आसपास के गाँवो से अपना माल अकोला की मण्डी में बेचने के लिए लाते। उसे वे बाजार में बिकवा देते और उसकी कीमत चुकवा देते। इसके मेहनताने के रूप में वे दलाली ले लेते। इन लोगों के साथ उन्हें थोडा-सा लेन-देन का व्यवहार भी करना पडता।

किशोरलाल भाई ने अपने विवरण में लिखा है: "लेन-देन में अथवा आढत में पिताजी से जिन-जिन का सम्बन्ध हुआ, पिताजी की प्रामाणिकता के कारण उनका इस कुटुम्ब के साथ आजतक उसी प्रकार का घरेलू सम्बन्ध बना हुआ है। पिताजी ने यह काम पन्द्रह-सोलह वर्ष तक किया। परन्तु इस बीच एक बार भी उन्होंने अदालत में कदम नही रखा। इस कारण उनका बहुत-सा पैसा डूब भी गया। परन्तु ऐसे भी बहुत-से उदाहरण है, जिनमें कर्जदारो ने मियाद के बाहर का कर्ज भी ईमानदारी के साथ चुका दिया। मेरी वकालत में इनमें से कितने ही आदमियों ने मेरी मदद की है। इसी कारण मेरी वकालत जल्दी जमने लगी थी। धार्मिक और चारित्र्यवान पुरुष के रूप में अकोला मे पिताजी की प्रतिष्ठा प्रथम पक्ति के पुरुषो मे थी। नानाभाई ने इस प्रतिष्ठा में खासी वृद्धि की। उनके असामियो में एक अपढ मुसलमान किसान था। पिताजी का उसके साथ निजी मित्र जैसा सम्बन्ध था, जो अत तक कायम रहा। वह मुसलमान था, तथापि उसकी सज्जनता, प्रामाणिकता, निर्मलता आदि गुणो के कारण पिताजी के दिल में उसके बारे में कभी भेदभाव पैदा नही हुआ।"

किशोरलाल भाई ने अपने सस्मरणा में लिख रखा है

"अकोला में पिताजी ने प्रारम्भ से ही एक निर्भय व्यक्ति के रूप में ख्याति प्राप्त कर ली थी। यूरोपियन फर्मों के गोरे मैनेजर कई बार केवल अपनी चमडी के रग के कारण अधिक सहूलियतें प्राप्त करने में सफल हो जाते। परन्तु अन्य व्यापारियो के साथ उनका व्यवहार तिरस्कारपूर्ण होता। पिताजी के मन में गोरी चमडी के प्रति तिरस्कार तो नही था, परन्तु उन लोगो से वे रत्तीभर भी दबते नही थे। उनके साथ भी वे दूसरो के समान ही व्यवहार रखने का आग्रह रखते। दूसरे व्यापारी 'साहबो' से डरते और उनसे झुककर रहते। राली भदसी के यूरोपियन मैनेजर ने पिताजी को बहुत तग और परेशान करने का यत्न किया। परन्तु पिताजी ने उसकी एक न चलने दी। अत में उसे पिताजी के साथ समझौता करना पडा और वह उनका मित्र बन गया। पिताजी ने इसके साथ जो टक्कर ली, उसके कारण लोग उन्हें 'अकोला का शेर' कहने लगे थे।

"अत तक उनका स्वभाव तेज रहा। वे असत्य को कभी बरदाश्त नही कर

सकते थे। मैत्री की सदा इच्छा करते, परन्तु खुशामद कभी न करते। बालूभाई ने बम्बई जाते ही वहाँ के बाजार पर अपना प्रभाव डाला। इसी प्रकार नीलकण्ठ (बालूभाई के बड़े पुत्र) द्वारा जापान में प्राप्त प्रतिष्ठा और नानाभाई तथा उनके चिरजीव शान्ति द्वारा अकोला में प्राप्त प्रतिष्ठा में पिताजी के उपर्युक्त गुणो की ही विरासत है।

"शाम को भोजन के बाद दो-चार गानेवाले हरिजन भजनीक तथा घर के लोग एकत्र होते। इस मण्डली में पिताजी वचनामृत सुनाते, निर्गुणदासजी की बातें बताते, और *भक्तचिन्तामणि अथवा पुरुषोत्तम-चरित इत्यादि* ग्रन्थो में से कुछ पढकर सुनाते। इसके बाद भजन गाते और अत में आरती करते। आरती के बाद 'चेष्टा' के पद गाये जाते। बहुत दिन तक उन्हें यह अभिलाषा रहा करती कि अक्षर धाम में जाकर श्रीजी की पसन्दगी के पक्वान्न बनवाने के काम में लग जाऊँ। ठाकुरजी की पूजा-सेवा के हर काम में स्वाद और कला-कुशलता का उन्हें बडा ध्यान रहा करता था।

"पिताजी का स्वभाव सामान्यत शात था, फिर भी कभी-कभी उन्हें बडा क्रोध आ जाता। परन्तु इस क्रोध पर बाद में उन्हें बहुत पश्चात्ताप होता। तीव्र क्रोध आने पर भी किसीके साथ दुश्मनी कर लेना, उनके स्वभाव के बाहर की बात थी। नौकरो और गुमास्तों पर वे अपने बच्चो के समान प्रेम करते। नौकरो के प्रति पिताजी जो आत्मीयता प्रकट करते और उन्हें जितनी आजादी देते थे, उसे सहने लायक निरभिमानता मुझमें नही थी। उस समय मेरे विचार ही ऐसे थे कि नौकर को नौकर होने का खयाल रखना चाहिए और अपनी मर्यादा का ध्यान रखकर बर्ताव करना चाहिए। इसलिए पिताजी के बर्ताव से मेरे मन में असन्तोष होता और मैं उसके प्रति अपना विरोध भी प्रकट करता। कभी-कभी अपना रोष प्रकट करने के लिए मैं नौकरो का अपमान भी कर देता। परन्तु इस पर मुझे पिताजी का उलहना सुनना पडता। मुझे वे हमेशा कहते कि 'नौकर' के मानी 'गुलाम' नही समझना चाहिए। अपने घर के आदमियों की तुलना में उन्हें हम नीचा क्यो समझें? नौकरो के प्रति मेरी असभ्यता पर कई बार पिताजी उनसे क्षमा भी माँगते। यह सब सहने की [illegible]
नही थी। इसलिए मै निश्चय करता कि जब तक वहाँ ये [illegible]

अकोला नही जाऊँगा। परन्तु बाद में अपनी गलती समझ गया और जिन नौकरों पर नाराजी प्रकट की थी, उन्हीको मैंने बम्बई में फिर रख लिया।

"पिताजी की इस समभाव की वृत्ति के कारण उनमें वर्ण या जाति का अभिमान नही था। ब्राह्मणो के प्रति उनके मन में स्वाभाविक आदर था। परन्तु नीची गिनी जानेवाली जातियों के प्रति जरा भी तिरस्कार की भावना नही थी। हमारे असामी कुनबी या मुसलमान होते और मजदूरो में ईसाई, मराठे, अछूत आदि। अछूत का पेशा करनेवाले को छू लेने पर नहाने का सस्कार अभी कुटुम्ब से गया नही था। परन्तु उन्हे छोडकर शेष सब लोग चौके के दरवाजे तक आ सकते थे। ठाकुरजी के सामने अथवा आस-पास एकत्र होकर वे भजन गाते और गवाते। पुराने ढग का पक्तिभेद तो माना जाता था, परन्तु किसी भी नीची जाति के मनुष्य के प्रति अपमान की भावना नही होती थी। एक वढई का कण्ठ मधुर था। भजन गाने के लिए पिताजी उसे ठाकुरजी के सामने बैठाते। हमारे कई मित्र देशी ईसाई थे और अभी तक हैं। वे घर में आजादी से घूम-घाम सकते थे। पिताजी के पास काम करनेवाले मजदूरो, मालियो आदि के प्रति वे वात्सल्यभाव रखते। हमारे अहाते में झोपडे बनाने के लिए पिताजी ने उन्हें जगह दे रखी थी। यह पद्धति आज तक जारी है। इनमें अगर कोई बीमार होता, तो पिताजी फौरन दौडकर उसका समाचार लेने जाते और दवा आदि का प्रबन्ध कर देते। यह उनका स्वभाव ही था। ईसाई मिशनरियो के लम्बे सहवास और देशाटन में बहुत अधिक समय बीतने के कारण भी शायद उन पर ये सस्कार पडे हो।

"नौकरो, आश्रितो और निराधारो के प्रति पिताजी के दिल मे जहाँ दयादृष्टि थी, वहाँ सत्सगियो के प्रति उनके मन में बधुदृष्टि थी। किसी सत्सगी को यदि आश्रय की जरूरत होती, तो वह उसे उनसे अवश्य मिलता।

"अनेक तरुणो ने उनसे व्यापार की तालीम पायी। कुछ समय अकोला में यह प्रशिक्षण प्राप्त करके वे शाखाओं में चले जाते और दो-चार वर्ष काम करके नारणदास राजाराम कपनी के स्थायी गुमाश्ते बन जाते अथवा किसी अन्य व्यापारी के यहाँ नौकरी कर लेते। इन युवको को पिताजी के पास धार्मिक सस्कार और शुद्ध व्यवहार की तालीम मिलती। इसके अतिरिक्त उनके सरल

सकते थे। मैत्री की सदा इच्छा करते, परन्तु खुशामद कभी न करते। बालूभाई ने बम्बई जाते ही वहाँ के बाजार पर अपना प्रभाव डाला। इसी प्रकार नीलकण्ठ (बालूभाई के बडे पुत्र) द्वारा जापान में प्राप्त प्रतिष्ठा और नानाभाई तथा उनके चिरजीव शान्ति द्वारा अकोला में प्राप्त प्रतिष्ठा में पिताजी के उपर्युक्त गुणो की ही विरासत है।

"शाम को भोजन के बाद दो-चार गानेवाले हरिजन भजनीक तथा घर के लोग एकत्र होते। इस मण्डली में पिताजी वचनामृत सुनाते, निर्गुणदासजी की बातें बताते, और भक्तचिन्तामणि अथवा पुरुषोत्तम-चरित इत्यादि ग्रन्थो में से कुछ पढकर सुनाते। इसके बाद भजन गाते और अत में आरती करते। आरती के बाद 'चेष्टा' के पद गाये जाते। बहुत दिन तक उन्हें यह अभिलाषा रहा करती कि अक्षर धाम में जाकर श्रीजी की पसन्दगी के पक्वान्न बनवाने के काम में लग जाऊँ। ठाकुरजी की पूजा-सेवा के हर काम में स्वाद और कला-कुशलता का उन्हें बडा ध्यान रहा करता था।

"पिताजी का स्वभाव सामान्यत शात था, फिर भी कभी-कभी उन्हें बडा क्रोध आ जाता। परन्तु इस क्रोध पर बाद में उन्हें बहुत पश्चात्ताप होता। तीव्र क्रोध आने पर भी किसीके साथ दुश्मनी कर लेना, उनके स्वभाव के बाहर की बात थी। नौकरो और गुमाश्तो पर वे अपने बच्चो के समान प्रेम करते। नौकरो के प्रति पिताजी जो आत्मीयता प्रकट करते और उन्हें जितनी आजादी देते थे, उसे सहने लायक निरभिमानता मुझमें नही थी। उस समय मेरे विचार ही ऐसे थे कि नौकर को नौकर होने का खयाल रखना चाहिए और अपनी मर्यादा का ध्यान रखकर बर्ताव करना चाहिए। इसलिए पिताजी के बर्ताव से मेरे मन में असन्तोष होता और मैं उसके प्रति अपना विरोध भी प्रकट करता। कभी-कभी अपना रोष प्रकट करने के लिए मैं नौकरो का अपमान भी कर देता। परन्तु इस पर मुझे पिताजी का उलहना सुनना पडता। मुझे वे हमेशा कहते कि 'नौकर' के मानी 'गुलाम' नही समझना चाहिए। अपने घर के आदमियो की तुलना में उन्हें हम नीचा क्यो समझें? नौकरो के प्रति मेरी असभ्यता पर कई बार पिताजी उनसे क्षमा भी मांगते। यह सब सहने की उदारता मुझमें नही थी। इसलिए मैं निश्चय करता कि जब तक वहाँ ये नौकर होंगे, मैं

अकोला नही जाऊँगा। परन्तु बाद में अपनी गलती समझ गया और जिन नौकरो पर नाराजी प्रकट की थी, उन्हीको मैंने बम्बई में फिर रख लिया।

"पिताजी की इस समभाव की वृत्ति के कारण उनमें वर्ण या जाति का अभिमान नही था। ब्राह्मणो के प्रति उनके मन में स्वाभाविक आदर था। परन्तु नीची गिनी जानेवाली जातियो के प्रति जरा भी तिरस्कार की भावना नही थी। हमारे असामी कुनबी या मुसलमान होते और मजदूरो में ईसाई, मराठे, अछूत आदि। अछूत का पेशा करनेवाले को छू लेने पर नहाने का सस्कार अभी कुटुम्ब से गया नही था। परन्तु उन्हें छोडकर शेष सब लोग चौके के दरवाजे तक आ सकते थे। ठाकुरजी के सामने अथवा आस पास एकत्र होकर वे भजन गाते और गवाते। पुराने ढग का पक्तिभेद तो माना जाता था, परन्तु किसी भी नीची जाति के मनुष्य के प्रति अपमान की भावना नही होती थी। एक बढई का कण्ठ मधुर था। भजन गाने के लिए पिताजी उसे ठाकुरजी के सामने बैठाते। हमारे कई मित्र देशी ईसाई थे और अभी तक है। वे घर में आजादी से घूम-घाम सकते थे। पिताजी के पास काम करनेवाले मजदूरो, मालियो आदि के प्रति वे वात्सल्यभाव रखते। हमारे अहाते में झोपडे बनाने के लिए पिताजी ने उन्हें जगह दे रखी थी। यह पद्धति आज तक जारी है। इनमें अगर कोई बीमार होता, तो पिताजी फौरन दौडकर उसका समाचार लेने जाते और दवा आदि का प्रबन्ध कर देते। यह उनका स्वभाव ही था। ईसाई मिशनरियो के लम्बे सहवास और देशाटन में बहुत अधिक समय बीतने के कारण भी शायद उन पर ये सस्कार पडे हो।

"नौकरो, आश्रितो और निराधारो के प्रति पिताजी के दिल में जहाँ दया-दृष्टि थी, वहाँ सत्सगियो के प्रति उनके मन में बधुदृष्टि थी। किसी सत्सगी को यदि आश्रय की जरूरत होती, तो वह उसे उनसे अवश्य मिलता।

"अनेक तरुणो ने उनसे व्यापार की तालीम पायी। कुछ समय अकोला में यह प्रशिक्षण प्राप्त करके वे शाखाओ में चले जाते और दो-चार वर्ष काम करके नारणदास राजाराम कपनी के स्थायी गुमाश्ते बन जाते अथवा किसी अन्य व्यापारी के यहाँ नौकरी कर लेते। इन युवको को पिताजी के पास धार्मिक सस्कार और शुद्ध व्यवहार की तालीम मिलती। इसके अतिरिक्त उनके सरल

स्वभाव और प्रेमभरे बर्ताव की छाप इन युवकों पर पड़े बिना नहीं रहती। हर तरुण हमारे यहाँ उतनी ही आजादी, प्रेम और शाति का अनुभव करता, जितनी अपने माता पिता के पास उसे मिलती। यही नहीं, बल्कि वह अपने घर पर रहने की अपेक्षा हमारे यहाँ रहना अधिक पसन्द करता। पिताजी के समय हमारे घर का वातावरण ऐसा रहता था। यह वातावरण विचार-पूर्वक अर्थात् प्रयत्नपूर्वक रक्खा जाता हो, ऐसी बात नहीं। पिताजी का तो यह स्वभाव ही था। बाहर के इतने आदमी हमारे घर में रहते, और आजादी से घूमघाम सकते थे कि इसे देखते हुए घर के वातावरण में जो पवित्रता पायी जाती थी, उसे आश्चर्यजनक ही मानना चाहिए।

"शिक्षापत्री की स्पष्ट आज्ञाओं और समाज की मर्यादाओ के पालन में पिता जी अत्यत सावधान थे। किसी भी युवक को पर-स्त्री के साथ माँ, बहन अथवा लडकी के साथ भी एकातवास नहीं करना चाहिए—इस आज्ञा का वे अक्षरश पालन करते और कराते थे। चौदह वर्ष की मेरी एक छोटी बहन जिस कमरे में थी, वहाँ एक परिचित पुरुष चला गया, तो वह स्वय उठकर बाहर नहीं चली गयी—इस भूल पर पिताजी ने उससे उपवास कराया था। विधवा स्त्री से कभी स्पर्श हो जाता, तो वे एक बार का भोजन छोड देते थे।

"माँ की मृत्यु के बाद पिताजी का जीवन विशेष उदासीन बनता गया, ऐसा लगता है। तब से अनेक कौटुम्बिक आपत्तियाँ आरम्भ हो गयी। जवान लडके लडकियो की मृत्यु, धन्धे का बन्द होना, खर्च तथा कर्ज का बोझ—इन सबने पिताजी को चिंता और दु ख मे डाल दिया। सन् १८९८ से लेकर १९१४ तक के लगभग सोलह वर्ष पिताजी तथा बालूभाई के लिए अत्यत सकट और सघर्षों के वर्ष थे। पिताजी का उद्वेग शान्त था। इन विपत्तियो को ईश्वराधीन और दैवाधीन समझकर शायद वे उदासीन से हो गये थे। विषाद और चिन्ता बालू-भाई को भी थी, परन्तु वे अत्यत पुरुषार्थी और प्रयत्नशील रहे। इसलिए अत में नाव किनारे लग गयी।

'सवत् १९७३ (ई० स० १९१६) की कार्तिक वदी सप्तमी को पिताजी ने शरीर छोडा। इसके आठ महीने पहले वे प्राय बिस्तर पर ही पडे रहे। रोग किसी प्रकार का नहीं था—ऐसा लगता था, परन्तु शरीर का प्रत्येक अग मानो

ढीला हो गया और प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति क्षीण हो गयी। मृत्यु के पहले-वाले माघ या फागुन में मैं पिताजी को अकोला से बम्बई ले आया। मेरा खयाल है कि उस रोज टोपीवाला की विल्डिंग में पिताजी को कुर्सी पर बैठाकर जो ऊपर की मजिल में ले गये, सो फिर वे जीवित अवस्था में नीचे नही उतरे।

"अगस्त १९१६ में मैंने वकालत छोडी और गोमती तथा मैं बम्बई आये। बम्बई में पिताजी की शुश्रूषा का काम ही मुख्य हो गया। वे प्राय मेरे हाथ से ही भोजन करते। परन्तु अपनी लोभवृत्ति के कारण उनके अतिम दिनो में उनकी सेवा करने के लाभ को मैंने गँवा दिया। अकोला में मेरे दो मुकदमे बाकी रह गये थे। उनके लिए मुझे वहाँ बार-बार जाना पडता था। दिवाली के तुरन्त बाद मैं अकोला गया। उस समय पिताजी की स्थिति गभीर तो थी ही, परन्तु बीमारी ऐसी नही थी कि दो-तीन दिन के लिए बाहर न जा सकूँ। मैंने सोचा था कि मैं दूसरे ही दिन वापिस लौट आऊँगा। परन्तु मुकदमा ऐसा रुक रुककर चलता रहा कि पद्रह-सत्रह दिन अकोला में ही बीत गये। बम्बई से जो समाचार आते, उनसे बीमारी की गभीरता का ठीक-ठीक अनुमान नही हो पाया। मेरे अकोला में पडे रहने पर गोमती मुझे बराबर दोष देती रहती। मुकदमे की जिस दिन आखिरी पेशी थी, उस दिन बम्बई से एकाएक तार आया कि पिताजी की अतिम घडी आ गयी। मैं अदालत में गया। जज से बातचीत की और दूसरे वकीलो को सूचना दे रहा था कि इतने में घर से आदमी मुझे बुलाने के लिए आ गया। मै समझ गया। घर पर मृत्यु के सम्बन्ध में दूसरा तार पहुँच गया था। (कार्तिक वदी[1] ७ स० १९७३ ता० १७-१२-१९१६) इस प्रकार धनलोभ के कारण अतिम समय में मै पिताजी की सेवा से वचित रह गया।"

एक डायरी में नीचे लिखी टिप्पणी मिलती है

'दूसरे दिन सबेरे मैं बम्बई पहुँचा। अभी तक मन शान्त था। परन्तु घर पहुँचने ही जीना चढते-चढते हृदय भर आया और रोना आ गया। परन्तु पूरी शान्ति नहीं हुई। अभी भी मन में लग रहा है कि जी भरकर रो लूँ, तो अच्छा हो। परन्तु कौन जाने क्या हो गया है, दिल में एक अजीब कठोरता आ गयी है।

[1]उत्तरप्रदेश और राजस्थान के अनुसार अगहन वदी

"आज दसवाँ दिन है। इच्छा न होते हुए भी खाना खा लिया। सगे-सम्बन्धी आये हैं। तेरहवीं के दिन किन-किन को बुलाना चाहिए—इस विषय में सलाह हो रही है। मृत्यु का भी उत्सव मनाने की प्रथा हमारे देश में पता नही किस प्रकार पड गयी है। हिन्दू-वैराग्य की यह परिसीमा तो नही ? जो भी हो, मेरा मन तो नही मानता। भीतर आग-सी जल रही है। दस दिन से मन में उद्वेग ही भरा हुआ है। शान्ति नही मिल रही है।"

और भी लिखा है :

"मैंने पिताजी के हाथ की मार काफी खायी है। फिर भी मैं उनका अत्यत लाड़ला बेटा था। माँ जीवित थी, तब भी मैं माँ की अपेक्षा पिताजी के साथ ही अधिक लगा रहता था। माँ का दूध न मिलने के कारण ठेठ बचपन से ही मैं माँ से कुछ अलग-सा पड गया था। मेरी कितनी ही आदतें इसी प्रेम के कारण पिताजी ने पूरी की। इसलिए उनके बिना मेरा काम बहुत कम चलता। पाच-छह वर्ष का होने तक हाथ बिगडने के डर से मैं अपने हाथ से खाना नही खाता था। जब पिताजी न होते, तब नौकर मुझे खाना खिलाते। परन्तु जब वे होते, तब तो उनके हाथो से ही खाने के लिए मैं जिद करता। मुझे अपने हाथ से खाने की आदत डालने के लिए पिताजी को काफी प्रयत्न करना पडा। रोटी का टुकडा हाथ में लेकर उसे एक सिरे पर इस तरह पकडता कि उसका दूसरा सिरा दाल में डुबोते हुए हाथ में वही दाल लग न जाय। मुँह में रखते समय भी यही घ्यान रखता कि उगलियाँ खराब न होने पावें। दाल-चावल तो दूसरा कोई खिलाता, तभी खाता। यही बात साग-सब्जी की भी थी। बहुत से साग तो मुझे अच्छे ही नही लगते थे। लगभग तीस वर्ष की उम्र तक गिनती के साग ही मैं खाता था। दो-तीन साल बाद मैंने सब तरह के साग खाने शुरू किये। मुझसे छोटी बहनें अपने हाथ से खा लेती और मैं पिताजी के हाथो से खाता। इस पर मेरी बडी हँसी होती। कहते है कि लाडला बेटा बहुत तकलीफ देता है। तदनुसार मैं पिताजी को बहुत तग करता। इससे चिढकर पिताजी कभी-कभी मुझे मार भी बैठते। उस समय मैं महसूस करता कि अपराध मेरा ही है और मन में पश्चात्ताप भी होता। मैं मन ही मन निश्चय करता कि पिताजी को खुश कर लूँगा। अपने को सुधारने के लिए

ठाकुरजी की प्रार्थना भी करता। परन्तु आदत कही जाती है ? मैं फिर अपने स्वभाव पर आ जाता। मेरा स्वभाव इतना मानी था कि उलहना और मार मुझे अपमानजनक लगते और हृदय में घाव हो जाता। आज भी यदि कोई मुझे कडी बात कहता है, तो मेरे दिल में घाव-सा हो जाता है। पिता हो, गुरु हो या अन्य कोई गुरुजन हो, किसीका भी शब्द मैं सहन नही कर सकता था। इसलिए मैं यह भी प्रकट किये बिना नही रहता कि मुझे बडा बुरा लगा है। खुद मेरी गलती होती, तो भी मैं रूठकर बैठ जाता और खाना खाने से इन्कार कर देता। मुझे दुख पहुँचानेवाला ही जब मुझे मनाने आता, तभी मैं मानता और खाना खाता। इस तरह कितनी ही बार मैं दोपहर के एक एक दो-दो बजे तक भखा रहता। स्नेह के कारण पिताजी यह सब नही सह सकते थे। इसलिए अत में वे मुझे मनाते। सच पूछिये तो कितनी ही बार मैं जानता था कि मुझे ही माफी माँगनी चाहिए, परन्तु बचपन में यह नही समझता था कि इस तरह माफी माँगना मेरा कर्तव्य है। ठाकुरजी के सामने पश्चात्ताप करके मैं माफी माँगता। परन्तु माफी मंगवाता दूसरा से ही। इतना होने पर भी इसी कारण पिताजी और मेरे बीच प्रेम बढा।

"पिताजी की मृत्यु तक उनके प्रति मेरा आकर्षण और मेरे प्रति उनकी विशेष प्रेमवृत्ति बनी रही। वे मेरा बडा खयाल रखते। जिन दिनो मैं वकालत करता था, उन दिनो शाम को जब मैं कचहरी से लौटता, तो वे चबूतरे पर आराम-कुर्सी पर बैठे हुए मेरी राह देखते रहते और दूर से आता हुआ देखते ही अदर जाकर मेरे लिए चाय बनाने को कहते। इसी प्रकार यदि मुझे कही दूसरे गाँव जाना होता या मैं कही बाहर से आता, तो खुद पहले उठ जाते और सारा प्रबन्ध करवा देते।

"बचपन में मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता कि मेरे मन में किसके प्रति अधिक भक्ति है—सहजानद स्वामी के प्रति, पिताजी के प्रति या मेरे मित्र मगलदास के प्रति ? बुद्धि से मैंने निश्चय कर लिया था कि भक्ति इष्टदेव के प्रति ही अधिक होनी चाहिए। परन्तु हृदय में ऐसा विश्वास नही होता था। इसलिए अनेक बार मैं ठाकुरजी के सामने बैठकर प्रार्थना करता कि मैं समझ नही पा रहा हूँ कि मैं आपकी सच्ची भक्ति कर रहा हूँ या नही। यदि आज जितनी

समझ मुझमें उस समय होती, तो शायद मै अपनी भक्ति को पिताजी और मित्र की ओर निःशंक भाव से बहने देता। उससे इष्टदेव के प्रति मेरी भक्ति भी अधिक शुद्ध और दृढ हो जाती। हुआ यह कि पिताजी और मित्र के प्रति अपने नैसर्गिक प्रेम को मैंने अपनी बुद्धि से मोह मान लिया। इसलिए इस प्रेम को वहाँ से हटाकर सहजानदस्वामी के प्रति जबरदस्ती मोडने का प्रयत्न करता रहा। अर्थात् दूसरे की भक्ति में अपने-आपको भुला देने के बदले अपने स्वत्व को बढाने में ही मेरा सारा प्रयास होने लगा। इस भूल से उत्पन्न कई दोष हमेशा के लिए मुझमे बने रहे। उस समय पिताजी और मित्र के लिए अपने-आपको अर्पण कर देने की जो शक्ति मुझमें थी, वह आज उस प्रमाण में मैं अपने अन्दर नही पा रहा हूँ। पिताजी अगर जीवित होते, तो सार्वजनिक काम में पडने के लिए मैं आश्रम में गया होता या नही--यह प्रश्न मेरे मनमें जब उठता है, तो ऐसा निश्चित उत्तर नही मिलता कि मै अवश्य ही चला गया होता। यह तो निश्चित है कि उनके मन को जरा-सा भी दुःख होता, तो मैं नही जाता। बापू का अवलंब लेने में मैंने देखा कि पिताजी की कमी की पूर्ति हो रही है और मुझे लगता है कि अंत में यही निर्णायक कारण बन गया।

"यह भी संभव है कि परोक्ष इष्टदेव के प्रति और प्रत्यक्ष पिताजी और मित्र के प्रति इस प्रकार मेरी भक्ति बँट गयी, सो लाभदायक ही हुई। इष्टदेव के प्रति मेरी भक्ति इतनी तीव्र न होती, तो शायद पिताजी का वियोग मुझे मूढ बना देता और संसार में प्राणीमात्र के भाग्य में लिखा वियोग सहने की शक्ति मुझमें न आ पाती। परन्तु इष्टदेव की भक्ति और उनके धाम में श्रद्धा—इन दोनों ने मुझे ऐसा बल दिया कि मैं बचपन से ही किसी भी स्नेही की मृत्यु को सह सकता था। यही भक्ति सगुण साकार के स्थान पर निर्गुण निराकार के प्रति होती तो? यह प्रश्न विचार करने योग्य है। मैंने इसका विवेचन अपनी 'जीवन शोधन' नामक पुस्तक में किया है।

"बचपन से मेरा यह दैनिक कार्यक्रम था कि जब हम एक साथ होते, तो मैं पिताजी के साथ ही उठता, खाता-पीता और सब काम करता। प्रायः मैं उन्हींके साथ सोकर उठता, उनके साथ ही नहाता और उन्हींके साथ पूजन भी करता। मंदिर में, रिश्तेदारों के यहाँ अथवा बाजार में भी उन्हींके साथ जाता।

वडताल भी दो-तीन बार उन्हीके साथ गया। भोजन के समय भी अपना पाटा उन्हींके पास रखवाता। वे न होते, तब भी मैं उन्हीकी थाली में भोजन करने की जिद करता और उसे अपना हक समझता। पिताजी जब कही दूसरी जगह जाते, तब मैं अपना यह हक मानता कि सबको काम-काज के बारे मे मुझसे ही सूचनाएँ लेनी चाहिए। इस तरह मैंने अपने-आपको पिताजी का उत्तराधिकारी बना लिया था। अनेक छोटी-बडी बातो में मैं पिताजी का अनुकरण किया करता। उनकी बहुत सूक्ष्म आदतें भी मै अपने में लाने का यत्न करता। उन्हें जो भजन कण्ठस्थ होने, उन्हें मैं भी कण्ठस्थ कर लेता। पिताजी मदिर में झूला बाँधने जाते, तो उनके साथ मैं भी जाता। उन्होने एक बार यह नियम किया कि जब तक 'चेष्टा' के भजन पूरे न हो जायें तब तक मन्दिर में ही रहें। मैं भी इसमें उनके साथ रहा। इस तरह सभी बातो में पिताजी का साथ देने में कई बार मेरी पढाई में बाधा पड जाती।

"दो-तीन बातो में पिताजी की और मेरी रुचि में भेद था। नौकरो के प्रति व्यवहार के बारे में मै कह चुका हूँ। दूसरी बात खाने-पीने के स्वाद की है। पिताजी के स्वाद सुसस्कृत और सूक्ष्म थे। मुझे स्वाद में बहुत रुचि न थी। उन्हें सागो और नमकीन आदि का शौक था। तरह-तरह की भजियाँ, मूठिया, पातरा आदि उन्हें बहुत पसन्द थे। मुझे ये सब अच्छे न लगते थे। मुझे मीठा अधिक पसन्द था। पिताजी तबला आदि वाद्यो के साथ भजन करवाना बहुत पसन्द करते। अकोला में भगवानजी महाराजको एक घण्टा भजन करने के लिए रख लिया था। शुरू में ऐसे भजनो के प्रति मेरा विरोध था। बम्बई में मैं हिण्डोला, एकादशी आदि के उत्सवो में पिताजी के साथ अवश्य जाता था। परन्तु यह शोर मुझे घर पर अच्छा नही लगता था। एक दो भजन होने के बाद मैं हठ करता कि अब इन्हें बन्द करके कथा शुरू करें। कथा में भी वचनामृत का वाचन मुझे शुष्क लगता। निर्गुणदासजी की बातें, भक्तचिन्तामणि आदि कहानियोवाली पुस्तकें मै पसन्द करता और आग्रह करता कि वे ही पुस्तकें पढी जायँ। इसका कारण मेरी छोटी उम्र ही थी। बाद में तो भजन और वचनामृत भी मुझे अच्छे लगने लगे।

"पिताजी के बिना घर मुझे सदा सूना लगता रहता। कितने ही लोगो

को बच्चों के बिना घर सूना लगता है। मुझे घर में कोई वृद्ध पुरुष हो—जिनकी थोड़ी-बहुत सेवा करनी हो—तो प्रसन्नता होती है। वृद्धों के प्रति मेरे मन में जो भाव है, उनका परीक्षण करने पर मुझे ऐसा लगता है कि उसमें दो तरह की भावनाएँ हैं। एक तो मैं उनके सामने अपने-आपको बच्चे के रूप में देखता हूँ। दूसरी यह कि वे मानो मेरे सामने बच्चे के समान हैं और मैं उनके सुख-सुविधा की चिन्ता करनेवाला कोई बुजुर्ग हूँ। मैं शिक्षक का काम करता था और बच्चा का सहवास मुझे प्रिय था, फिर भी मैं बच्चों को अपने अधिक निकट नहीं ला सका था। इसी प्रकार बच्चों के बिना मुझे बहुत सूना-सूना लगा हो—ऐसा भी अनुभव मैंने नहीं किया। परन्तु पिताजी के बिना मुझे बहुत बुरा लगता। आज उनके अभाव में वृद्धों तथा गुरुजनों के प्रति मेरी वृत्ति एक प्रकार से पिता के समान ही है। कोई भी वृद्ध पुरुष मेरी कोई छोटी-बड़ी सेवा करते हैं, तो मुझे लगता है मानो वे मुझे दोष में डाल रहे हैं।

"मुझ पर पिताजी का जो प्रेम था, उसका वर्णन मैं कैसे करूँ? मैं उनका लाडला बेटा था और उनके बगैर मैं कुछ भी नहीं कर सकता था। एक बार इलाज के लिए मैं एक डेढ महीना वडताल में रहा। तब पिताजी मेरे साथ रहने के लिए वडताल आये। उस समय मेरे लिये उन्हें जो चिन्ता हो रही थी, उसका वर्णन करना कठिन है। प्रत्येक पितृभक्त पुत्र को अपने पिता के बारे में ऐसा ही लगता होगा। फिर भी मुझे ऐसा ही लगता है कि शायद ही किसी के पिता ऐसे होंगे। उनके वियोग के कारण मैं घर की तरफ से उदासीन हो गया और उनकी जगह को भरने के लिए मैंने बापूजी का सहारा लिया। उन्होंने इसे पूरा भी किया। इसमें भी सन्देह नहीं कि पिता की योग्यता में बापूजी मेरे पिताजी को भी बहुत पीछे छोड देते हैं। बापूजी और मेरे बीच विचार-भेद तथा दृष्टि-भेद तो है ही। परन्तु रुचि-भेद नहीं अथवा नहीं के बराबर ही समझिये।"

सार्वजनिक सेवा-क्षेत्र में : १२ :

हम देख चुके हैं कि सार्वजनिक प्रवृत्तियों के प्रति उत्साह तथा सत्य और न्याय के लिए लड़ने और कष्ट सहने की तैयारी—ये गुण किशोरलाल भाई को अपने कुटुम्ब से विरासत में ही मिले थे। प्रारंभ में वे जातिसेवा का कार्य भी करते थे। भाई नीलकण्ठ लिखते हैं:

"बम्बई में आरोला जाति का एक विद्योत्तेजक फण्ड था। उसके इनाम देने के समारम्भों की योजना का सारा काम पू० किशोरलाल भाई करते। जाति का जो भी विद्यार्थी परीक्षा में पास होता, उसका नाम मँगाया जाता। उसे इनाम में दी जानेवाली पुस्तकों का निश्चय करना, उन्हें रस्सी से व्यवस्थित रीति से बाँधना, समारम्भ के लिए निमन्त्रण-पत्रिकाएँ भेजना, अध्यक्ष खोजना, यह सारा काम प्रायः वे अकेले ही करते। एक बार ऐसे समारम्भ के अध्यक्ष श्री किसनलाल गणेशजी अजारिया हुए, जो उन दिनों शिक्षा-विभाग में इन्स्पेक्टर थे। मुझे याद है कि उन्होंने काकाजी की व्यवस्था-शक्ति की बहुत प्रशंसा की थी।"

किशोरलाल भाई को राष्ट्र के काम में रुचि कैसे पैदा हुई, राष्ट्रीय नेताओं की ओर वे किस प्रकार आकर्षित हुए तथा उनके संपर्क में आये और बापूजी के पास सत्याग्रह किस प्रकार गये, इस सम्बन्ध में किशोरलाल भाई ने खुद ही लिख रखा है:

'मुझे ऐसा लगता है कि देशभक्ति और स्वदेशाभिमान के संस्कार बचपन से ही मेरे मन में पुष्ट हुए हैं। सन् १९०५ में बंगाल के टुकड़े किये गये। इसे लेकर देश में स्वदेशी का आन्दोलन खड़ा किया गया। उसका असर हम सभी भाइयों पर पड़ा। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और तिलक महाराज के भाषण पढ़-सुनकर हमारे सारे कुटुम्ब ने स्वदेशी की प्रतिज्ञा ली। यह प्रतिज्ञा केवल कपड़ों तक ही सीमित नहीं थी। जीवन के लिए जितनी भी चीजें आवश्यक हों, वे सब स्वदेशी ही खरीदें और यदि ऐसी चीजें स्वदेशी न मिल सकें, तो उनके बगैर काम

चलायें—ऐसी हमारी प्रतिज्ञा थी। कठोर आग्रह के साथ वर्षों तक हमने इस प्रतिज्ञा का पालन किया। पुराने कपड़ो के बदले कभी-कभी काँच के प्याले जैसी चीजें यदि घर में खरीदी जाती, तो हम उन्हें फोड़ डालते।

"दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोखले आदि को मैं साधु-सन्तों के समान पूज्य मानता। जिस प्रकार अपने सम्प्रदाय के प्रसिद्ध और पवित्र साधु-सन्तों के सत्संग के लिए मैं प्रयत्न करता, उसी प्रकार इन लोगों का सत्संग और संपर्क पाने की भी मुझे बड़ी अभिलाषा रहा करती थी। परन्तु बापूजी से पहले ऐसे किसी प्रथम पंक्ति के नेता के परिचय में आने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हो सका। देश की सेवा में अपना जीवन समर्पित करनेवालों में सबसे पहले मेरा परिचय श्री देवधर से हुआ। उनके बाद भारत-सेवक-समाज (सर्वेण्टस् ऑफ इण्डिया सोसायटी) के अन्य सेवकों से भी मेरा परिचय हुआ।

"साम्प्रदायिक साधुओं में ब्रह्मचारी श्री मुनीश्वरानंदजी, अनंतानंदजी, स्वामी श्री हरचरण दासजी, रघुवीरचरण दासजी, रामचरण दासजी आदि के उपदेशों का मुझ पर बड़ा गहरा असर पड़ा है।

"अकोला में मैं वकालत करता था, तब माननीय श्री गोखले और सर फिरोज-शाह मेहता की मृत्यु हो गयी। गोखले की मृत्यु से मुझे अतिशय दुःख हुआ। मैं कभी उनके सीधे संपर्क में नहीं आया था। कॉलेज के दिनों में केवल एक बार मैंने उनका अराजनैतिक विषय पर भाषण सुना था। परन्तु उसीसे मेरे मन में उनके प्रति अत्यधिक पूज्यभाव पैदा हो गया। मुझे लगा कि उनकी मृत्यु से भारत अत्यंत अभागा हो गया। पिताजी को किसी प्रकार मेरे इन विचारों का पता लग गया। उसके बाद वे बम्बई गये। वहाँ से उन्होंने इतना ही लिखा कि 'यदि सेवा में ही जीवन अर्पण करना है, तो धर्म के द्वारा—अर्थात् स्वामी नारायण-सम्प्रदाय की सेवा में—जीवन अर्पण करने के विचार का पोषण करना'। इस आदेश को मैंने अपने हृदय में धारण कर लिया। पिताजी की सहानुभूति मेरे लिए कोई ऐसा वैसा—सामान्य-बल नहीं था। नानाभाई की तो ऐसी बात में सहानुभूति थी ही। बालूभाई की भी हमदर्दी रहती। परन्तु आर्थिक कठिनाइयाँ और इनकी चिन्ता उन्हें एक विचार पर स्थिर नहीं रहने देती थी। उनका मन हमेशा दुविधा में रहा करता।

'पिताजी की मृत्यु ने कुटुम्ब के साथ मुझे बाँध रखनेवाले एक बन्धन को तोड दिया। वकालत छोडकर मैं बम्बई आया, तब भारत-सेवक-समाज का दफ्तर हमारे पडोस में ही था। उसके साथ मेरा सपर्क बढ गया। मैं बी० ए० में था, तभी से श्री देवधर मुझे ललचाते रहते थे। अकोला से बम्बई आने के बाद मैं ठक्कर बापा के सपर्क में आने लगा।* इदुलाल याज्ञिक भारत सेवक समाज में गये, तब मैं अकोला में वकालत करता था। परन्तु वे एक वर्ष नागपुर में रहे। इस कारण एक दो बार वे मुझसे मिलने के लिए आये थे। वे मेरे पुराने मित्र थे। इस प्रकार भारत-सेवक-समाज के प्रति मेरा बहुत आकर्षण था। परन्तु बाद में मेरा उसके प्रति यह मोह कुछ कम हो गया। अकोला में और बम्बई में मुझे एक अजीब अनुभव हुआ। तिलक और गोखले के अनुयायी ऐसा मानते थे कि दूसरे पक्ष की निन्दा किये बिना या उससे लडे बिना अपने पक्ष की और देश की सेवा नही हो सकती। मैं गोखले की पूजा अवश्य करता था, परन्तु मेरे मन में तिलक के प्रति भी बहुत भारी आदर था। अकोला में इनके अनुयायी भी मेरे मित्रो में थे। जिस प्रकार गोखलेपक्ष के श्री महाजनी के साथ मैं काम करता, उसी प्रकार तिलकपक्ष के श्री बापट के साथ भी अच्छी तरह काम कर सकता था। इस कारण मुझे लगा कि भारत सेवक समाज के साथ मेरी पटेगी नही। इसके अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में काम करने का पिताजी का आदेश तो था ही। भारत-सेवक-समाज में देश के लिए त्याग करने की भावना अवश्य थी, परन्तु मुझे लगता था कि मेरी कल्पना के अनुकूल धर्म भावना का उसमें सर्वथा अभाव है।"

' पियारेलाल भाई ने बापू का नाम पहले-पहल कब सुना और वे उनके प्रत्यक्ष परिचय में कैसे आये—इस सम्बन्ध में उन्होने लिखा है

"बम्बई के हाईस्कूल में मैं अगरेजी की पाँचवी कक्षा में पढता था। उस समय मेरी उम्र लगभग १३ वर्ष की रही होगी। तभी मैंने पहले-पहल बापू का नाम सुना। बापू के सबसे बडे लडके हरिलाल गाधी मेरे ही वर्ग में पढते थे। एक बार हमारे सस्कृत शिक्षक विद्यार्थियो से दूसरी बातें कर रहे थे। तब हरिलाल ने कहा था कि वे शीघ्र ही शाला छोड देनेवाले हैं क्योकि उन्हें दक्षिण अफ्रिका जाना है। वहाँ उनके पिता बैरिस्टर हैं। वे वहाँ अगरेजी,

गुजराती, तमिल आदि तीन चार भाषाओं में एक साप्ताहिक चला रहे हैं। ---यह बात वही रह गयी।

"इसके बाद दस वर्ष बीत गये। मैं वकील बनकर अकोला गया। उस समय दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह की लडाई अपनी आखिरी मजिल पर थी। वहाँ की खबरो से अखबार भरे रहते थे। स्वर्गीय गोखलेजी ने तथा भारत के उस समय के वाइसराय ने उनका पक्ष लिया था। जगह-जगह सभाएँ हो रही थी और लडाई की सहायता के लिए चन्दा भी इकट्ठा किया जा रहा था। एक उत्साही नौजवान के रूप में मैंने भी उसमें हाथ बँटाया था। गाधीजी के साथ मेरा यह दूसरा परिचय था।

"इसके बाद फिर चार वर्ष बीत गये। मैं बम्बई में था। गिरमिट-प्रथा का विरोध करने के लिए एक सभा हो रही थी। वक्ताओं में गाधीजी का भी नाम था। मैं तथा मेरे बडे भाई ऐसी सभाओं में जाना नही भूलते। हम दोनो वहाँ गये। गाधीजी का भाषण मैंने पहली बार सुना। वे अगरेजी में तथा गुजराती में भी बोले थे। गुजराती ठेठ काठियावाडी थी। सभा समाप्त होने पर गाधीजी समुद्र के किनारे घूमने के लिए चले गये। मैं तथा मेरे बडे भाई भी उनके पीछे-पीछे हो लिये। श्री पोलक गाधीजी के साथ थे। समुद्र के किनारे से वे गावदेवी में श्री रेवाशकर जगजीवनराम के घर गये। हमें भी अपने घर लौटना था। इसलिए उन्हें प्रणाम कर हम भी चले आये। इस समय श्री पोलक ने हमें सकेत करके कहा---The faithful two---दो श्रद्धालु।

"हम घर पहुँचे और भोजन किया। इतने में ठक्कर बापा का सन्देश आया कि गाधीजी भारत-सेवक समाजवाले मकान में आनेवाले हैं। अगर तुम लोग आना चाहो, तो आ जाओ।" हम तुरन्त वहाँ गये। गाधीजी, ठक्कर बापा, श्री शकरलाल बैंकर तथा अन्य एक दो व्यक्ति वहाँ थे। हम भी पीछे की कुर्सियो पर जाकर बैठ गये। आश्रम के मकान बनाने के बारे में बातें चल रही थी। गाधीजी की राय थी कि एकदम कच्चे झोपडे बनायें जायँ। ठक्कर बापा 'सर्वेण्ट्स् ऑफ इण्डिया सोसाइटी' में शरीक हो गये थे, फिर भी अपना इजीनियरी का धन्धा भूले नही थे। उनकी दलील यह थी कि कच्चे मकानों की बार-बार मरम्मत करनी पडती है। इसलिए अत में जाकर वे पक्के मकानो

के समान ही महँगे पड जाते हैं। फिर सार्वजनिक मकान जहाँ तक सभव हो, मजबूत होने चाहिए। गाधीजी की राय यह थी कि भले ही पाँच-दस वर्ष में मकान फिर से नया बनाना पडे, तो भी सस्ते मकान बनाना अधिक अच्छा। शकरलाल बैंकर की भूमिका एक दूसरी ही थी। उनकी दलील यह थी कि भारतीय हमेशा के लिए झोपडा में ही रहें—यह वे पसन्द नही करते। उनकी महत्वाकाक्षा यह थी कि प्रत्येक भारतीय को अच्छा और पक्का मकान मिले। इसलिए गाधीजी को सस्ते मकान बनवा करके खराब मिसाल नही पेश करनी चाहिए। अन्त में आश्रम के मकान तो पक्के ही बन। गाधीजी सेवाग्राम गये, तब झोपडा में रहने की अपनी अभिलाषा पूरी कर सके।

'मुझे याद नही कि उस दिन बापू स मेरा परिचय कराया गया या नही। बडे भाई को तो परिचय की जरूरत भी नही थी। अगली काग्रेस में वे बापू के साथ ही ठहरे थे। उस काग्रेस में बापू का चश्मा खो गया था और बालूभाई का चश्मा उन्हें लग गया। इसलिए बालूभाई ने उन्हें वह दे दिया। उस समय बालूभाई का क्या पता था कि व आगे चलकर अपने भाई को ही अर्पण कर देंगे और अत में वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा सपूर्ण 'परिवार' बापू को अर्पित हो जायगा।

'दो एक दिन बाद भारत-सेवक-समाज के मकान में कुछ भगियों की एक खानगी सभा बापू से मिलने के लिए रखी गयी थी। ठक्कर बापा ने सूचना भेज दी थी। इसलिए हम तीनो भाई इस सभा में गये और भगिया के साथ मिलकर बैठे। हमारे लिए यह कुछ नया ही अनुभव था। 'कुछ' इसलिए कह रहा हूँ कि ईसाई हरिजना के साथ तो हम अकोला में मिलते थे। मेरे पिताजी तथा मँझले भाई का स्थानीय मिशनरिया के साथ काफी सम्बन्ध था और अपने कारखाने में वे हरिजना को रखते भी थे। परन्तु हिन्दू भगिया के साथ सटकर बैठने का यह पहला ही प्रसग था। घर लौटने पर हमारे सामने यह प्रश्न खडा हुआ कि हमें नहाना चाहिए या नही? बालूभाई को अभी पूजन करना था। इसलिए उन्होने तो नहाने का निश्चय किया। नानाभाई ने कहा कि मैंने तो भोजन भी कर लिया है। इसलिए केवल कपड़े बदल लूँगा। मैंने हाथ पैर धोकर सतोष कर लिया।

"इसके बाद एक दिन फिर भारत-सेवक-समाज के ही कार्यालय में ठक्कर बापा से मेरी भेंट हो गयी। उस समय बापू चंपारन में थे। वहाँ स्वयंसेवक भेजने के बारे में ठक्कर बापा के पास बापू का एक पत्र आया था। वह उन्होंने मुझे पढ़ने के लिए दिया, और पूछा कि मैं वहां जा सकूँगा? मैंने तुरन्त 'हाँ' कह दिया। फिर दफ्तर गया और बालूभाई से इजाजत माँगी। उन्होंने कुछ आनाकानी की। परन्तु इजाजत दे दी। फिर घर जाकर गोमती से बात की। अगर मैं उसे भी साथ ले जाऊँ, तो चम्पारन जाने में उसे आपत्ति नहीं थी। परन्तु मुझे अकेला जाने देने के लिए वह तैयार नहीं थी। हम दोनों जाना चाहते हैं—यह ठक्कर बापा से कहने में मुझे बड़ा संकोच हो रहा था और बापू से यह बात पुछवाने की तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। उस रात हमारे बीच कुछ कहासुनी भी हुई। परन्तु मैं अपनी बात पर अड़ा रहा। गोमती ने राजी-खुशी अपनी संमति नहीं दी। फिर भी मैं सबेरे की गाड़ी से बेतिया जाने के लिए रवाना हो गया।

"मुझे दिन में दो-बार चाय पीने की आदत थी, यद्यपि खाने-पीने में अब तक मैं पुरानी परम्परा का बड़ा आग्रही था। सभा-सम्मेलनों में जाता, तो वहाँ फल भी नहीं लेता था। फिर भी स्टेशनों पर और होटलों में दूसरों के जूठे प्यालों में बिकनेवाली 'ब्राह्मणी' चाय पीने की आदत डाल ली थी। बेतिया जाते हुए बड़े स्टेशनों पर चाय बेचनेवालों को ढूंढ़ा। परन्तु, युक्तप्रदेश में गरमी के दिनों में बड़े स्टेशनों पर भी 'ब्राह्मणी' चाय बेचनेवाले नहीं मिले। मुझे रात को लखनऊ में ठहरना था। गाड़ीवाला मुझे एक हिन्दू लॉज में ले गया। रात हो गयी थी। खाना-खाने की इच्छा नहीं थी। इसलिए चाय मँगायी। होटलवाले ने मेरे लिए खास तौर पर चाय बनवायी। गुजरात काठियावाड़ में तो छोटा-से-छोटा गाँव भी बिना चायवाला नहीं मिलेगा। इसलिए मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि लखनऊ जैसे बड़े शहर के एक प्रतिष्ठित माने जानेवाले होटल में चाय कैसे नहीं मिल सकी। वहाँ के लोग चाय बनाना भी क्या जानें? मुझे जो चीज पीने के लिए दी गयी थी, वह चाय के नाम पर कोई काढ़ा जैसा था। वह पीकर मैं सो गया। मैंने यह तो मान ही लिया था कि बेतिया में चाय नहीं मिलेगी और मुझे तो इसकी आदत हो गयी थी। चाय न मिलती,

तो मुझे कुछ भी नही सूझता, सिर चढ जाता। फिर भी वह छूटती नही थी।

'दूसरे दिन सवेरे दस बजे वेतिया पहुंचा। बापू से मिला। नहाने-धोने के बाद बापू ने मुझे बुलाया और पूछा—' चन्दूलाल दवे के भेजे पत्र के लेखक आप ही है ?" मैंने कहा—'जी हाँ'। इसके बाद उन्होने स्वामी नारायणीय ब्रह्मचर्य के विषय में कुछ चर्चा की। उसका मेरे विचारों पर कोई असर नहीं पडा। परन्तु परिचय न होने के कारण मैंने अधिक चर्चा नही की। इस चर्चा की मैंने अपेक्षा भी नही की थी और न मैं उसके लिए तैयार ही था। फिर मेरे स्वास्थ्य को देखकर बापू ने यह आशका प्रकट की कि मैं चपारन में काम नही कर सकूंगा। उन्होने सुझाया कि यदि आपको राष्ट्रीय काम करना ही है तो आप आश्रम पर जायें। वहाँ एक राष्ट्रीय शाला है। उसमें काम करें। फिर आश्रम की शाला के विषय में सक्षेप में सारी बात समझायी। घर की स्थिति के बारे में पूछताछ की। यदि मैं अपने खर्च से शाला में काम कर सकूं तो अच्छा, नही तो निर्वाह-व्यय देने की बात भी कही। वहाँ क्या खर्च लगेगा, इसकी कल्पना मुझे नही थी। बापू ने कहा कि तीन जना के लिए मासिक ४०) काफी होगे। कुछ भोदू तो बना ही परन्तु सोचा कि गुजरात में जीवन सस्ता होगा। बापू को मैंने एक धार्मिक पुरुष और इसलिए भोला भक्त जैसा समझ लिया था। परन्तु उन्होने जिस बारीकी के साथ मेरी जाँच की, उसे देखकर मेरे विचार एकदम बदल गये। मैं जान गया कि उन्हें भोला समझने में मेरा अपना भोलापन था। मुझे यह भूलना नही चाहिए था कि वे बनिया और वकील दोनों थे। परन्तु इससे बापू के प्रति मेरे मन में आदर जरा भी कम नहीं हुआ, उलटे बढ़ ही गया। भोले नही है इसलिए चालाक और धूर्त हैं— ऐसा मुझे जरा भी नही लगा।

"बापू ने मुझसे आग्रह किया कि मुझे आश्रम पर जाकर राष्ट्रीय शाला में काम करना चाहिए। उन्हें लगा कि चम्पारन में काम करने के लायक मेरा शरीर नहीं है। इसलिए उन्होंने सुझाया कि मैं पहली ही गाडी से रवाना हो जाऊँ। इससे मुझे निराशा तो हुई, परन्तु उनकी आज्ञा शिरोधार्य करने के सिवा कोई चारा नही था। दोपहर में बालूभाई का पत्र भी बापू के पास पहुँच

गया। उसमें उन्होंने मेरे स्वास्थ्य के बारे में चिन्ता दिखायी थी और गोमती को भेजने की इच्छा भी प्रकट की थी। इससे तो बापू का निर्णय अब और भी पक्का हो गया। मैं यह भी कह सकता हूँ कि उन्होंने मुझे लौट जाने की आज्ञा दे दी। मैंने उनसे कहा कि आश्रम की शाला में काम करने के विषय में विचार करके मैं अपना निर्णय बम्बई से आप को सूचित करूँगा, परन्तु उन्होंने मुझे अपने जाल में तो पूरी तरह खींच ही लिया था।

"दूसरे दिन दोपहर में मैं लौटा। रास्ते में एक रात छपिया में मैं ठहरा। सहजानंद स्वामी की जन्मभूमि की यात्रा की। वहाँ से फिर लखनऊ होता हुआ वापिस बम्बई आ गया। लखनऊ में फिर उसी होटल में ठहरा। परन्तु इस बार चाय नहीं मँगायी। रास्ते में मैंने चाय छोड़ देने का निश्चय कर लिया था। उसके बाद कई वर्ष तक मैंने चाय नहीं ली। हाँ, इन्फ्लुएंजा की बीमारी के बीच कुछ दिन ली थी। उसके बाद १९२८ की लम्बी बीमारी में फिर चाय पीना शुरू किया। तब से लगभग नियमित रूप से पीता हूँ। चाय को पुनः शुरू करने में दो-तीन मनोवृत्तियों ने काम किया है। चाय छोड़ने से सवेरे और शाम को —खास तौर पर सवेरे का—कुछ गरम पेय लेना छूट गया, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मुझे अनुभव हुआ कि कुछ-न-कुछ गरम पेय लिये बगैर मेरा काम नहीं चल सकता। मसाले का काढ़ा, गेहूँ की काफी, गेहूँ के आटे की राब, बुन्द के बीजों की काफी—इस तरह एक के बाद एक कई प्रयोग किये गये। कुछ समय तक केवल दूध ही लेता रहा। परन्तु केवल दूध अनुकूल नहीं आया। बहुत दिन तक तो वह मुझे भाया भी नहीं। सभी पेय शारीरिक अड़चन अथवा तैयारी सम्बन्धी कोई-न-कोई असुविधा खड़ी कर देते। आसपास के जिन लोगों ने चाय छोड़ दी थी, उन्होंने प्रायः बुंद के बीजों की कॉफी लेना शुरू कर दिया था। यह भी खर्च की दृष्टि से सस्ती नहीं थी। फिर इसके विपरीत परिणाम चाय से किसी प्रकार कम नहीं दिखे। इससे पेट की खराबी और कब्ज़ शायद और भी अधिक होती थी और बीमारी में तो कॉफी की अपेक्षा चाय ही अधिक अनुकूल मालूम होती। चाय-बागानों में मजदूरों पर अत्याचार होते हैं। यह एक नैतिक पहलू अवश्य था, परन्तु यह तो कॉफी पर भी लागू होता है। इसलिए चाय और कॉफी के बीच भेद करना मुझे कोई सार नहीं लगा। दोनों को

ही छोडना हिताकर है। दोनो मुझे अखरते हैं। फिर भी किसी स्फूर्तिदायक पेय की आवश्यकता तो रहती ही है।

"बम्बई पहुँचने पर सबके साथ बातचीत की। वरजीवन भाई को भी लिखा। अगर साथ में ले जा सकूं, तो गोमती का विरोध तो था ही नही। परन्तु धन्धा छोडकर मेरा आश्रम जाना बालूभाई को नही जँचा। वरजीवन भाई की राय यह थी कि पहले एक वर्ष के लिए जाऊँ और देखू कि वह अनुकूल पडता है या नही। इस पर बालूभाई सहमत हो गये। यह भी तय हुआ कि बालूभाई का बडा लडका नीलकण्ठ हमारे साथ जाय। बाद में तो उनका छोटा लडका सुरेन्द्र भी वहाँ आ गया।

"अभी मैं वर्णान्तर-भोजन के लिए तैयार नही हो सका था। स्वय मुझे इसमें कोई अनीति नही मालूम होती थी, परन्तु मुझे ऐसा लगता था कि जो काम मैं खुलेआम नही कर सकता, उसे खानगी तौर पर करने में पाप है। फिर मैं उन दिनो यह भी निश्चयपूर्वक नही कह सकता था कि वर्णान्तर-भोजन में किसी प्रकार का भी दोष नही है। हाँ लोग दरगुजर कर लें—वह बात अलग है। इसलिए आश्रम में भोजन करने के लिए मैं तैयार नही था।"

किशोरलाल भाई आश्रम में किसीको नही जानते थे। परन्तु उनके एक परिचित मेरे भी परिचित थे। उन्होने किशोरलाल भाई के सामने मेरा उल्लेख करते हुए कहा कि मैं दो-एक महीने से आश्रम में आया हूँ। मैं उन्हें पत्र दूँगा। फिर मैंने किशोरलाल भाई को पत्र दिया कि आप आश्रम आयें, तब मेरे साथ ही रहें। मुझे आश्रम के चौके में भोजन करने में कोई आपत्ति नही थी। आश्रम पर गया, तभी से वहाँ भोजन करने लग गया था। परन्तु सुविधा की दृष्टि से मैंने तथा प्रो० साकलचन्द शाह ने—वे भी आश्रम की शाला में काम करने के लिए आये थे—आश्रम के पास ही एक स्वतत्र मकान किराये पर ले रखा था। किशोरलाल भाई जब आश्रम में आये, तब मेरे पास ही ठहरे और जब तक दूसरा घर नही मिला, तब तक हमारे साथ ही भोजन करते रहे। उन्हें देखकर और उनके साथ बातचीत करते ही मैं उनकी ओर आकर्षित हो गया और तभी से वे मेरे श्रद्धेय मित्र और मार्गदर्शक बन गये।

सत्याग्रह-आश्रम में शिक्षण : १३ :

आश्रम की राष्ट्रीय शाला में किशोरलाल भाई जिस समय शामिल हुए, उस समय उन्हें शिक्षण का कोई विशेष अनुभव नही था। और यों तो हम शिक्षकों में काकासाहब को छोडकर अन्य किसी भी शिक्षक को कोई अनुभव नही था। हमारी मुख्य महत्वाकाक्षा तो बापू के मातहत काम करने की थी। उन्होंने भारत में आकर राष्ट्रीय शिक्षण का प्रयोग शुरू किया और उसमें शरीक होने के लिए हमसे कहा। तब हमने सोचा कि अच्छी बात है। यदि इस प्रकार गाधीजी के साथ काम करने का अवसर मिलता है, तो यही सही। काकासाहब की स्थिति हम सबसे सर्वथा भिन्न थी। उन्होंने स्वय राष्ट्रीय शिक्षण के कई प्रयोग किये थे और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में काम करके विशेष अनुभव प्राप्त कर लिया था। इसलिए उनके पास राष्ट्रीय शिक्षण की एक निश्चित दृष्टि थी। हमारी शाला में आचार्य के स्थान पर प्रो० मावलचन्द शाह थे, तथापि शाला की नीति-निर्धारण का तथा शिक्षकों के मार्गदर्शन का, काम काकासाहब ही करते। विनोबा उन दिनों वेदों के अध्ययन के काम को पूरा करने के लिए, बापू से आज्ञा लेकर वाई गये थे। लगभग एक वर्ष बाद वे लौटे। तब नीति निर्धारण के काम में वे भी योग देने लगे। बापू अपनी ओर से इस प्रयोग में मुख्यतः काकासाहब को ही जिम्मेवार समझते थे। सगीत-शास्त्री पडित खरे, हरिहर भाई भट्ट, जुगतराम भाई तथा अप्पा साहब पटवर्धन शाला शुरू होने पर एक-डेढ वर्ष के भीतर ही उनमें शामिल हुए थे।

हमारी शाला के विषय में भाई नीलकण्ठ लिखते हैं :

"राष्ट्रीय शाला का काम आश्रम के पास के एक बँगले में चलता था। प्रभुदास गाधी, गिरिधारी कृपालानी, कान्तिलाल परीख, प्रीतमलाल मेहता और मैं, इस तरह पाँच बड़े विद्यार्थी और आश्रम-वासियों के दस-ग्यारह दूसरे बच्चे—इस तरह कुल पद्रह विद्यार्थी हमारी शाला में थे। श्री किशोरलाल

काका, नरहरि भाई, साकलचन्द शाह, काकासाहब तथा फूलचद भाई—हमारे शिक्षक थे। ऐसा याद पडता है कि काकासाहब तथा नरहरि भाई के साथ पू० काका शिक्षण के विषय में चर्चाएँ करते और धीरे धीरे अपने विचार भी स्थिर करते जाते। वहाँ से फिर आश्रम साबरमती चला गया। वहाँ प्रारम्भ में तो हम तम्बुओं में रहते थे। फिर झोपडियाँ बनाकर उनमें रहने लगे। लगभग डेढ वर्ष में मकान तैयार हो गये। तम्बुओं में रहते समय वर्षा होने पर सामान को उठाकर यहाँ से वहाँ रखना पडता। खाना पकाकर रखते, तो उसे कुत्ते खा जाते या बिगाड डालते। इन सब बातो से गोमती काकी बहुत तग आ जाती। तब काकासाहब उन्हें समझाते। सारा काम काज खुद ही करना पडता था। इसलिए काका दमे के दौर में भी काम करते जाते और हाँफते जाते। उनकी तबीयत अच्छी न रहती, फिर भी वे खेती की छोटी जगह में पानी देते, सबेरे जल्दी उठकर प्रार्थना में जाते। इस तरह का सारा काम वे आग्रहपूर्वक बिला नागा करते। मैं और चि० सुरेन्द्र उनके पास दो वर्ष रहे। हम भी उनके काम में यथाशक्ति सहायता करते। अपने लायक काम करते और पढते भी।"

किशोरलाल भाई अपने विषय में लिखते हैं

"मैं जब कॉलेज में था तभी से मेरा दिल प्राथमिक शिक्षा की ओर आकृष्ट हो गया था। इटर अथवा जूनियर बी० ए० में था, तब इस विषय पर मैंने एक निबन्ध भी पढा था और मुझे याद है कि उसमें मैंने पाठ्यक्रम की एक योजना भी बतायी थी। मातृभाषा के अतिरिक्त हिन्दी, धार्मिक शिक्षण, औद्योगिक शिक्षण और ग्रामजीवन का सुधार—ये विषय उसमें मैंने रखे थे। यह निबन्ध स्वभावत उन दिनो जैसी मेरी बुद्धि थी, उसीके अनुसार और रूढ मार्ग के अनुसार लिखा गया होगा—ऐसा मेरा खयाल है। शिक्षण का अनुभव तो था ही नही। इसलिए दूसरो के विचारो का दोहन अथवा तर्क द्वारा उसमें कुछ शोधन ही किया होगा। परन्तु शिक्षण के क्षेत्र में अपने जीवन को लगाने की अभिलाषा का पोषण उस समय से ही मन में होता रहा है। परन्तु यह कल्पना तो थी नही कि जीवन का प्रवाह इसी दिशा में मुडेगा। गाधीजी के सपर्क के कारण पुरानी अभिलाषाएँ जागृत हो गयी।"

किशोरलाल भाई आश्रम की शाला में शरीक हो गये, फिर भी स्वामी-

नारायण सम्प्रदाय के मार्फत सेवा करने के विषय में पिताजी के आदेश को वे भूले नहीं थे। एक वर्ष अथवा जरूरत हो, तो अधिक समय भी राष्ट्रीय शाला में काम करके, कुछ अनुभव प्राप्त करके सम्प्रदाय के द्वारा एक विद्यापीठ की स्थापना करनी चाहिए—इस तरह की भी अभिलाषा उनके मन में थी। परन्तु कुछ ही वर्षों में उन्होंने देख लिया कि सम्प्रदाय का वातावरण इस तरह की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है। सम्प्रदाय के साधुओं अथवा सम्प्रदाय के प्रमुख गृहस्थों में से उनका साथ देने के लिए कोई तैयार नहीं था।

स्वामीनारायण-सम्प्रदाय द्वारा नियत आचार के अनुसार किशोरलाल भाई नियमपूर्वक पाठपूजा आदि करते। कॉलेज में जाते समय भी तिलक लगाकर जाते और उसके बीच में पाई के आकार की कुमकुम की एक बिन्दी लगाते। आश्रम में आने पर भी उन्होंने यह प्रथा जारी रखी थी। पूजा करके वे ठाकुरजी के सामने नैवेद्य के लिए थाली रखते और कहते—

जमो थाल जीवन जाऊँ वारी ॥
धुओ कर चरण, करो त्यारी ॥ जमो० ॥
जेसो मेल्या बाजोठ ढाली ।
कटोरा, कंचन नी थाली ।
जले भर्या चबु चोखाली ॥ जमो० ॥

(हे भगवन् जीमिये, मैं आप पर निछावर हो रहा हूँ। हाथ-पैर धोकर तैयारी कीजिये। देखिये, आपके लिए पीढ़ा बिछा दिया है। इस पर विराजिये। सोने की थाली और कटोरे में भोजन परोसा है और स्वच्छ लोटे में जल भी रख दिया है।)

ये पंक्तियाँ वे ऊँचे स्वर में गाते। इन्हें सुनकर हमें कुछ तमाशा-सा लगता। दूसरी ओर किशोरलाल भाई जैसे तीव्र बुद्धि वाले पुरुष की इतनी भारी श्रद्धा देखकर आश्चर्य भी होता।

भोजन के विषय में पंक्तिभेद अभी उन्होंने छोड़ा नहीं था—यह तो पहले ही कहा जा चुका है। कोचरब में तो आश्रम के पास एक किराये के मकान में हम रहते थे। परन्तु उन दिनों अहमदाबाद और कोचरब में भी बहुत जोरों का प्लेग फैला था। इन्हीं दिनों साबरमती आश्रम के लिए बापू ने जमीन

खरीदी थी। उस समय वहाँ एक भी मकान नही था और न कोई जरे पेड। फिर भी गाधीजी ने चम्पारन से लिखा कि शहर में भयकर प्लेग फैला है, इसलिए आश्रम के सभी लोगो को नयी खरीदी हुई जमीन पर जाकर रहने लगना चाहिए। इसलिए जमीन साफ की गयी। कही से चार तम्बू लाये गये। उन्हें खड़ा करके हम सबने उनमें रहने का निश्चय किया। चौके के लिए सिरकी का एक मण्डप तैयार कर लिया। १९१७ के जुलाई या अगस्त मास में, जब वर्षा का खासा जोर रहता है, हम लोग वहाँ रहने के लिए गये। कोचरब में हम में से जो लोग अलग रहते थे, वे भी अब सयुक्त चौके में ही भोजन करने लगे। परन्तु किशोरलाल भाई तो हर किसी आदमी का पकाया हुआ भोजन खा नही सकते थे। एक तम्बू के चार कोनो में काकासाहब, किशोरलाल भाई, मैं तथा फूलचद भाई रहते थे। गोमतीबहन तबू के अपने कोने में अपना खाना अलग पकाने लगी। हम सबके पास सामान बहुत ही कम था। दोनो समय का भोजन वे सवेरे ही पका लेती। परन्तु शाम का भोजन सभालकर रखने का कोई साधन उनके पास नही था। इस कारण कई बार तो कुत्ते आ जाते और उनका भोजन खा जाते अथवा छूकर बिगाड देते। वर्षा आती तब सामान इधर से उधर रखना पडता।

पढाना हो, परन्तु आज क्या पढाना है, इसका वे पहले से विचार कर लेते और वर्ग में जो नयी-नयी जानकारी देनी होती, उसका निश्चय पहले से कर लेते। हमारे कितने ही विद्यार्थियो को ऐसी आदत थी कि वे शिक्षक से भिन्न-भिन्न प्रश्न पूछकर समय-पत्रक में निश्चित विषय को छोडकर दूसरी ओर खीच ले जाते। हम भी सोचते कि विद्यार्थी के मन में जिस समय किसी विषय की जिज्ञासा जागृत हो, उसे उसी समय तृप्त कर देना चाहिए। परन्तु इससे नियत विषय एक ओर रह जाता और अनेक बार सारा समय दूसरी ही बातो में चला जाता। परन्तु कोई विद्यार्थी किशोरलाल भाई को इस तरह दूसरी बातो में नही उलझा सकता था। विद्यार्थी के प्रश्न का उत्तर एक-दो वाक्यो में देकर वे तुरन्त प्रस्तुत विषय पर आ जाते और विद्यार्थियो को भी ले आते। इस कारण उनके वर्ग में कभी ऐसा नही हो पाया कि निश्चित पाठ्यक्रम पूरा न हो सका हो। विद्यार्थियो की कापियो को देखना होता, तो उन्हें देखकर वे अवश्य ही समय पर लौटा देते। उनकी इस नियमिता का असर विद्यार्थियो पर भी पडता। दिया हुआ काम पूरा किये बिना शायद ही कोई विद्यार्थी उनके वर्ग में जाता। विद्यार्थियो पर उनकी एक प्रकार की धाक रहती। परन्तु इसके साथ ही विद्यार्थियो के समग्र जीवन के विषय में और उनकी प्रगति के विषय में प्रेम-पूर्वक वे इतना ध्यान रखते कि वे विद्यार्थियो के विशेष प्रीतिपात्र बन जाते।

सन् १९१८ में अपनी शाला के सभी विद्यार्थियो के साथ हमने आबू की पैदल यात्रा की थी। जाते समय काकासाहब, मैं और विनोबा अपने साथ पद्रह विद्यार्थियो को लेकर साबरमती से पैदल आबू गये। किशोरलाल भाई तथा पडित खरे छोटे विद्यार्थियो और कुछ बहनो को लेकर ट्रेन द्वारा आबू गये। लौटते समय किशोरलाल भाई तथा गोमतीबहन पाँच विद्यार्थियो को साथ लेकर आबू से पैदल साबरमती आये थे। इस प्रवास में उन्होने विद्यार्थियो का जितना खयाल और उनकी सँभाल रखी, उससे सभी विद्यार्थी उन पर मुग्ध हो गये।

इतने पर भी किशोरलाल भाई को लगता रहता कि वे पढ़ाना नही जानते, क्योकि वे अपने को बहुश्रुत नही मानते थे अथवा उन्हें पढ़ाने की कला नही आती थी। अपने बारे में उन्होंने यह जो मत बना लिया था, उससे स्पष्ट है कि वे

कितनी कडाई से आत्म-परीक्षण करते थे और अपने लिए कितना ऊँचा नाप रखते थे। उनके दिल में यह बात बहुत गहरी पैठ गयी थी कि शिक्षक अथवा माता-पिता अपने बच्चों को सुधारना चाहते हैं, तो उन्हें सबसे पहले अपना जीवन सुधारना चाहिए और उन्हें सस्कारी बनाना चाहिए। 'केळवणीना पाया' (शिक्षण की बुनियाद) नामक अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है :

"आश्रम की शाला के प्रयोग के दिनो में हमने अपने कुटुम्ब के कुछ बालकों को साथ में रखा था। आश्रमवासियो के बच्चे भी थे। कुछ और लोगों ने भी अपने बच्चे हमें सौप दिये थे। मैंने देखा कि कितने ही पिताओ ने अपने बच्चों से तग आकर उन्हें आश्रम में भेज दिया था। उन्हें अपने बच्चों से सन्तोष नही था और वे चाहते थे कि हम उन्हें सुधारें। अभिभावको के साथ बातचीत करने पर मुझे ज्ञात हुआ कि बाप-बेटे के बीच जो असतोष था तथा लडकों में जो दोष थे, उनका असली कारण घर का वातावरण ही था। पिता का लडको की इच्छाओ, उमगों, खेल, मनोरजन आदि किसी बात से सहानुभूति नही थी। वे (अभिभावक) खुद *मनमाने ढग से रहते और जो जी में आता, सो करते रहते। मुँह* में जो आता, वह बक जाते और लडको का अपमान करते रहते। वे स्वय अव्यवस्थित रहते। वे अपने माता-पिता के प्रति भी जी में आता, वैसा बर्ताव करते। लडकों की उम्र की स्त्री से शादी कर लेते। अपनी रहन-सहन और कृति में किसी प्रकार भी सुधार करने की इच्छा उनमें न रहती। फिर भी वे आशा करते कि उनके बच्चे *अत्यत विनयी, परिश्रमी और सयमी तथा* ऐसे बनें कि आँखें जुडा जायें। वे कहते कि "हमारा जीवन तो-जैसा तैसा बीत गया। परन्तु इन बच्चो का जीवन सुधर जाय, ऐसी इच्छा है।" मुझे यह अपेक्षा विचित्र लगती। एक दो अभिभावको से मैंने कहा भी कि यदि आप अपने-आपको नही सुधारेंगे, तो आपके बच्चे भी नही सुधरेंगे। फिर भी मुझे यह आशा तो रहती ही कि ऐसा हो सकता है।

"परन्तु उस समय मैं यह नही समझ पाया था कि जो नियम बच्चों के पालकों को लागू होता है, वही मुझे भी लागू होता है। हम यह आशा नही रख सकते थे कि आश्रम में भेजे गये बालकों का जीवन केवल चार-छह महीने आश्रम में रह लेने से ही सुधर जायेगा। इसके लिए तो उनके अपने घर के वातावरण का भी सुधार

होना जरूरी है। उसी प्रकार जब तक मेरे अपने घर का वातावरण अच्छा नही होगा, तब तक मै यह आशा नही कर सकता कि मेरी देखभाल में रहनेवाले बालक भी मेरी अपेक्षा के अनुकूल अच्छे बन जायेंगे। परन्तु यह बात खुद मैं भी नही देख पाता था। इस कारण मेरे और मेरे घर के बच्चो के बीच भी समाधान का वातावरण नही हो पाया था। यदि हर दूसरे-तीसरे दिन अपनी पत्नी से मै झगड़ता रहूँ, किसी निश्चय पर पूरे एक महीने तक भी कायम न रह सकूँ, हर वस्तु उसके अपने स्थान पर रखने की आदत मुझे भी न हो, मेरी मेज हमेशा अव्यवस्थित स्थिति में ही रहती हो (आज भी वह ऐसी ही रहती है), दिन में बगैर भूख के दो-चार बार खाते रहने की आदत पड गयी हो और कोई रोकनेवाला न होने के कारण मै खाता भी रहूँ, फिर भी यदि मैं आशा करूँ कि मेरे भतीजे तग करनेवाले न हो, निश्चयी, व्यवस्थित और मिताहारी हो, तो यह कैसे सभव है ? मै जब देखता कि ऐसा नही हो रहा है, तो तग आकर अपने सिर का भार किसी दूसरे शिक्षक पर डाल देता। अर्थात् विद्यार्थियो के अभिभावको की भाँति मैं भी इस सिद्धान्त को मानता था कि अपने कान अपने ही हाथ से नही बीधे जा सकते।

"इसी प्रकार हमारी यह भी इच्छा थी कि हमारे विद्यार्थी निरे विद्या-व्यसनी ही नही, उद्योगशील भी बन जायें। वे मजदूरो की तरह मेहनत कर सकें। हम बार-बार प्रयोग करने कि समय-पत्रक में शरीरश्रम के लिए खास तौर पर अधिक समय रखा जाय। हम में से एक-दो शिक्षक बारी-बारी से उसमें हाजिर भी रहते। परन्तु शरीरश्रम का कितना ही गुणगान हम करते, फिर भी हमने तो यही देखा कि हमारे विद्यार्थियो में तो पठन-जीवन के प्रति ही प्रेम बढ रहा है। देखने में यही आया कि वे प्रेम से नहीं, बेगार समझकर ही शरीरश्रम करते है। इसका कारण क्या था यह इतना सब लिख जाने के बाद हर कोई समझ सकता है। परन्तु उस समय मैं नहीं समझ सका था।

"मै यह नहीं देख सका कि हमारा जीवन उद्योग-व्यसनी नहीं, विद्या-व्यासगी है। बच्चो के लिए हम शरीरश्रम का समय रखते अवश्य, परन्तु उस समय भी हमारा चित्त तो किसी पुस्तक में या साहित्य-चर्चा में ही रमता रहता। फिर बच्चो के साथ उपर्युक्त क्रिया में केवल एक-दो शिक्षक ही उप-

ऊपर से भाग लेते। जब कि अन्य शिक्षक सीधे-सीधे साहित्य की उपासना में ही लगे रहते। उधर साहित्य का खण्डन करते हुए भी हम प्रत्यक्ष रूप से साहित्य की ही उपासना करते रहते। परिश्रम का मण्डन हाथ-पैर द्वारा नही, अधिकतर लेखो और प्रवचनो के द्वारा चलता रहता। फिर भी हम यह आशा लगाये रहते कि जो चीज खुद हमारे पास नही है, उसे विद्यार्थी हमारे पास से प्राप्त कर लेंगे।

परन्तु शिक्षणशास्त्र के जिन सिद्धान्तो को हमने अपना रखा था, उनसे किशोरलाल भाई को धर्मविचार के साथ सबसे अधिक विरोध दीखता था और इस विषय में आपस में हमारी बहुत चर्चाएँ होती रहती। स्वय किशोरलाल भाई ने इस विरोध को इस प्रकार व्यक्त किया है

"धर्मशास्त्र कहते है कि भोग से विषय कभी शान्त नही होते। इसलिए इन्द्रियो का लाड नही लडाना चाहिए। मन को वश में रखो। वह जैसा कहे, वैसा मत करो। यम-नियमो का पालन करो। विषयासक्ति को कम करो। रागद्वेष से ऊपर उठो। फिर धर्मशास्त्र यह भी कहते है कि विद्यार्थियो, ब्रह्मचारियो और सयमशील मनुष्य के लिए सगीत, नृत्य, वाद्य वर्जित है। एक इन्द्रिय को भी खुला छोड देने से सभी इन्द्रियाँ काबू मे बाहर हो जाती है इत्यादि। उधर शिक्षणशास्त्र कहता है (और यह शास्त्र तो आश्रम के सयमी वातावरण को भी मान्य था) कि बच्चे की सभी इन्द्रियो का विकास करना चाहिए। सगीत के बिना शिक्षण अधूरा रह जाता है। कला राष्ट्र का प्राण है और साहित्य समाज का जीवन है। आप जो चाहते है, वह नही, बालक को जिस चीज की रुचि हो, वह उसे दें।, विषयो (पाठ्यवस्तु) को रसयुक्त बनाकर दें। इसके लिए बच्चो से नाटक करायें, रासो की रचना करें, शालाओ की सजावट करायें। बच्चो से 'राष्ट्र देवो भव' कहें और इसी दृष्टि से उन्हें इतिहास पढायें। उन्हें वही ज्ञान दें, जिससे उनके देश की संस्कृति का पोषण हो।"

इसमें वस्तुत कोई विरोध है या केवल ऊपर से देखने से विरोध का आभास होता है, यह प्रश्न विचारणीय है। किशोरलाल भाई ने अपनी 'केळवणीना पाया' नामक पुस्तक में इस प्रश्न पर सूक्ष्म विचार किया है। उन्होने लिखा है कि इन्द्रियो के विकास का अर्थ यह नहीं कि हम इन्द्रियो को

लाड लडायें या उन्हें निरकुश बना दें। उन्होंने इन्द्रियों की शुद्धि और इन्द्रियों की रसवृत्ति के बीच भेद बताया है। यदि मनुष्य की इन्द्रियां शुद्ध और सतेज नही होंगी, तो उनमें अधिक रसवृत्ति हो ही नही सकती। बहरे के सामने सगीत और अधा के सामने रूप-रग व्यर्थ है। इसलिए इन्द्रियां शुद्ध और सतेज तो होनी ही चाहिए। परन्तु यह शुद्धि और तेज प्राप्त करने के लिए इन्द्रियो का सयम आवश्यक है। इन्द्रियों को अपने विषयो के प्रति निरकुश रूप से छोड देते हैं, तो उनकी शक्ति क्षीण होती जाती है। इससे मनुष्य बीमार पडता और असमय ही मृत्यु का शिकार बन जाता है। आहार के बिना आरोग्य लाभ नही हो सकता, यह बात सही है। परन्तु साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अति आहार से अथवा स्वादों के अति सेवन से भी आरोग्य का नाश होता है। जीभ में तरह-तरह के स्वाद परखने की शक्ति होनी चाहिए। परन्तु यदि मनुष्य स्वादो के पीछे ही पड जाय, तो वह धीरे-धीरे अपनी स्वाद को परखने की शक्ति खोता जायेगा। यही बात हमारी सभी इन्द्रिया की है। जीभ के समान ही आँख, नाक और कान की भी बात है। हमारी सभी इन्द्रियां सशक्त तो अवश्य ही होनी चाहिए। उनका विकास तो इस बात पर निर्भर करता है कि हम उनका उपयोग किस प्रकार कर रहे हैं। बहुत बार तो इन्द्रियो का सयम—उनको काबू में रखना—ही आवश्यक और इष्ट होता है। इस सयम और निग्रह से सचित शक्ति को अच्छी और ऊँचे प्रकार की प्रवृत्तिया में लगाना मनुष्य का कर्तव्य है। इसीको इन्द्रियो का सच्चा शिक्षण कहते हैं। इन्द्रियों को अपने विषयो की ओर दौडने देने में तो किसी भी प्रयत्न अथवा शिक्षण की आवश्यकता नही है।

इसी प्रकार रसवृत्ति का भी समझना चाहिए। शिक्षण का उद्देश्य विद्यार्थी की रसवृत्ति को सहकारी और विशुद्ध बनाना है। इस प्रकार का शिक्षण देने पर ही मनुष्य में दया, समभाव, सार्वजनिक सेवा आदि उच्च मनोवृत्तियो का पोषण हो सकता है। जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ अपने विषयो की ओर दौडती रहती है, और जिसकी रस-वृत्ति सुसस्कृत नहीं है, हीन प्रकार की है, उसमें उच्च मनोवृत्तियो को पोषण नहीं मिलता।

यही न्याय कला को भी लागू होता है। कला की उपासना करने में मनुष्य यदि विवेक नहीं रखेगा, तो वह विनाश की ओर बढ जायगा। हमारी भावनाओं

में इन्द्रिया और रसवृत्ति के विकास के नाम पर मनोरजन के जो कार्यक्रम रखे जाते हैं, उनसे विलासिता और हीन रुचिया का पापण ही होता देखा जाता है। इनके विरुद्ध किशोरलाल भाई अवश्य ही अपनी आवाज उठाते । इस पर लोग उन्हें 'शुष्क सन्त' कहते। इसे भी वे सह लेते । हमारी शिक्षा-सस्थाओ में जीवन के लिए आवश्यक सयम का वातावरण नही दिखाई पडता और कई बार तो सयम की खिल्ली भी उड़ायी जाती है। लडके-लडकिया में कला एव सौदर्य की उपासना और रसिकता के नाम पर स्वच्छदता, नकली फैशन और चारित्र्य की शिथिलता ही पायी जाती है । इसका वे विरोध करत और उनका यह विरोध सर्वथा उचित भी था। इस वस्तु को लोग ठीक तरह से समझ लें, तो धर्म अर्थात् नीति और सदाचार के सिद्धान्तो और शिक्षण के सिद्धान्तो के बीच कोई विरोध नही रह जाता।

सौंदर्य, कला, लालित्य आदि विषया के प्रति किशोरलाल भाई की दृष्टि के विषय में भाई नीलकण्ठ लिखते हैं

"बहुत से लोगो का खयाल था कि पू० काका नीरस व्यक्ति थे और उनके जीवन में लालित्य नही था। परन्तु जिन्हाने उनके जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। वे जानते हैं कि यह बात कितनी गलत है। मुझे तो ऐसे अनुभव हुए हैं कि वे जरा भी शुष्क नही थे। कला और लालित्य के मर्म को वे जानते थे और वे *एक अत्यत उच्च भूमिका में विचरण करते रहते थे।*

"हाँ, जहाँ कला के नाम पर स्वच्छन्द विहार होता, अथवा मर्यादा को छोडकर शृङ्गारिक भाव प्रकट किये जाते अथवा सौंदर्य का प्रदर्शन किया जाता, वहाँ वे,अवश्य इनका विरोध करते। इन चीजो के पीछे लोग पागल हो जाते हैं। इसे वे बरदाश्त नही कर सकते थे। सौंदर्य की प्रतिस्पर्धा में लोग कला और सौंदर्य की पूजा के नाम पर अपनी स्थूल और हीन मनोवृत्तियो का ही पोषण करते हैं, ऐसा वे मानते थे। अपने आवश्यक कर्तव्यो को भुलाकर लोग इस तरह स्वेच्छाचार में पडे रहें इसके खिलाफ वे बराबर अपनी आवाज बुलन्द करते रहते।

"साहित्य के विषय में भी उनकी अभिरुचि इसी प्रकार उच्च कोटि की थी। उच्च भावनावाले काव्यो और साहित्य का रसास्वाद वे भरपूर ले सकते थे।

परन्तु इसके साथ ही मर्यादारहित शृगार का वे विरोध भी करते। 'साहित्य-संगीतकलाविहीन साक्षात् पशु पुच्छ-विषाणहीन'—इस उक्ति को वे नहीं मानते थे, क्योंकि उन्होंने कभी यह स्वीकार नहीं किया कि तथाकथित साहित्य, संगीत कला से अपरिचित मनुष्य अपना विकास कर ही नहीं सकता। अथवा इन वस्तुओं का मनुष्य के साथ ही सम्बन्ध होना ही चाहिए। जीवन के साथ स्वाभाविक रीति से ताने-बाने की भाँति जो कला और लालित्य एकरूप हो गये हैं, उन्हींको वे सच्ची कला और सच्चा लालित्य मानते। इसीलिए मैं कहता हूँ कि वे कला के मर्म को जानते थे। ऊपर से देखने पर यदि हमें ऐसा लगता था कि वे इनकी उपेक्षा करते हैं, तो इसका कारण केवल यही था कि इनकी अपेक्षा अधिक महत्त्व की बातों में उनका ध्यान लगा हुआ था। नहीं तो जो वाल्मीकि, कालिदास, रवीन्द्रनाथ, जिब्रान—जैसों के काव्यों को तथा ज्ञानेश्वरी, रामचरितमानस समझ सकते और मिल्टन, शेक्सपियर आदि का जिन्होंने रसपूर्वक अध्ययन किया, उनके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि वे शुष्क थे और कला को नहीं जानते थे?"

हमारी शाला के एक बडे विद्यार्थी भाई प्रभुदास गाधी ने किशोरलाल भाई के कुछ सस्मरण लिखकर भेजे है। उनमें से कुछ या है

चम्पारन में बापू के पास लडाई के काम में उनकी सहायता करने के लिए जब बम्बई से किशोरलाल भाई पहुँचे, तब उनके आगमन का समाचार मैंने ही बापू को सुनाया। बापू से मैंने इस तरह कहा

'बापू, बम्बई से एक भाई आये हैं। एकदम दुबले-पतले हैं। अकेले हैं। फिर भी पूरा बिस्तर, टिफिन-बॉक्स और काफी सामान साथ में लाये हैं। माथे पर तिलक है। पूरे वैष्णव जान पड़ते हैं। वे आपके पास क्या काम कर सकेंगे?' बापू ने मेरी बात सुनकर थोडी देर बाद अपना काम करके उठे और उनसे मिले। शाम के पहले ही किशोरलाल भाई फिर अपना बोरिया-बिस्तर लेकर लौट भी गये। मैंने अपने मन में सोचा कि ऐसे इस बम्बईवाले को बापू ने तुरन्त लौटा दिया—यह बहुत अच्छा किया। बेकार दूसरा के लिए उल्टे भाररूप बन जाते।" उन्हें लौटाते हुए बापूजी ने कहा था: 'यहाँ मेरे साथ चम्पारन में नहीं, परन्तु कोचरब के आश्रम में आवेंगे, तो वहाँ आपको

अच्छा लगेगा।" यह सुनकर भी मुझे लगा कि ऐसे वैष्णव भाई आश्रम में भी शायद ही टिक सकें। मुझे उस वक्त यह खयाल भी नही आया कि बापू ने उनके भीतरी गुणो को पहचानकर उन्हें आश्रम में आने के लिए कहा है।

"इस घटना के एक-सवा वर्ष बाद की बात है। साबरमती आश्रम चटाई के झोपडो में बस रहा था। वहाँ शिक्षको के झोपडो में एक झोपडा किशोरलाल भाई का भी खडा हो गया। राष्ट्रीय गुजराती शाला के विद्यार्थी के रूप में मैं अपना अधिक-से-अधिक समय किशोरलाल भाई के झोपडे में बिताने लगा। मेरे सहपाठी नीलकण्ठ मशरूवाला किशोरलाल भाई के भतीजे थे। उनके साथ उठना-बैठना और पढना मुझे अच्छा लगता। साथ में पूज्य गोमती बहन के वात्सल्य का तो लाभ मिलता ही। परन्तु अन्य शिक्षको की अपेक्षा किशोरलाल भाई से कम सकोच होता। उनके पास छोटे-बडे के भेद जैसा बर्ताव नहीं था। फिर भी हमारी पढाई में छोटी-से-छोटी बातो की ओर वे ध्यान देते और हमारे उत्साह तथा ज्ञान को बढाते। इसलिए उनके झोपडे में आना-जाना अधिक अच्छा लगता।

"हमारी राष्ट्रीय शाला नये ही ढग की थी। यह कहने की जरूरत तो होनी ही नही चाहिए कि वहाँ शिक्षक डण्डे का उपयोग नही कर सकते थे। यही नही, वहाँ तो शिक्षक उलहना भी नही दे सकते थे। जिसने गलती की हो, उसे चार लडको के सामने नीचा भी नही दिखा सकते थे। कम-अधिक नम्बर देकर नीचे-ऊपर भी नही कर सकते थे। सब शिक्षक मिलकर सलाह करते कि पढने में विद्यार्थियो को आनद किस प्रकार आ सकता है। इसलिए वे पढाने के नित्य नये तरीके काम में लाते। इन प्रयोगो के बीच किशोरलाल भाई ने रूखे और कठिन विषय अपने लिए पसन्द किये। अपने वर्ग के बारे में मुझे याद है कि किशोरलाल भाई ने भूमिति, बहीखाता, निबन्ध-लेखन और कठिन कविताओं का अर्थ—ये विषय लिये थे। भूमिति पढाने के लिए वे नये-नये पाठ गुजराती में लिखकर लाते और नयी-नयी परिभाषाएँ बनाकर पढाते। विषय को रसमय बनाने के लिए वे अपनी सारी कला लगा देते। परन्तु मैं और मेरे साथी भी ऐसे गुणहीन थे कि हम—खास तौर पर मैं—तो कभी इतनी मेहनत करते ही नही थे कि जिससे उन्हें सफलता मिल सके। फिर भी किशोरलाल भाई में कितना धीरज

था, इसका पता इन दो बातो से लग सकता है। गरमी के दिनो में दोपहरी में जब चटाइयो से छनकर झोपडो में जोर की लू आती, उस समय भूमिति का वर्ग रखा गया था। सवेरे संस्कृत जैसे वर्ग होते थे। दोपहर में भूमिति के पाठ तैयार करके किशोरलाल भाई उत्साहपूर्वक हमें पढाने के लिए बैठते और हम विद्यार्थी उस समय साबरमती में तैरने और गोते लगाने के लिए चले जाते। सारे वर्ग में कुल चार विद्यार्थी थे। उनमें मेरे जैसे दो-तीन गैरहाजिर रहते। जब हम वर्ग में पहुँचते, तब घण्टा पूरा होने में आठ-दस मिनट बाकी रह जाते। शरीर सूख भी नहीं पाता था और हम किशोरलाल भाई के सामने पढने-बैठते। तब, क्या देरी हो गयी? इससे अधिक शायद ही उन्होंने कुछ कहा हो। हम निर्लज्जता पूर्वक जवाब देते कि हम नहा रहे थे। वहाँ घण्टी सुनाई नही पडी। इसलिए देरी हो गयी। ऐसा कई बार हुआ और हमने जान-बूझकर पढाई का नुकसान कर लिया। भूमिति में हमें अब रस आने लगा था, परन्तु हमने ध्यान ही नही दिया। फिर भी उन पाँच-दस मिनटों में जो कुछ पढाते बनता, उतना पढाकर किशोरलाल भाई सतोप कर लेते।

"शायद उन्होंने सोचा हो कि भूमिति के लिए लडके नही है, लडकों के लिए भूमिति है। नही तो उन्हाने जो पाठ तैयार करके रखे थे, उनके बहुत बडे भाग के प्रति हम जो लापरवाही बरत रहे थे, उससे उन्हें दु ख हुए बिना न रहता।

'निबन्ध-लेखन में तो अपनी मसंना दर्शाने में हमने हद कर दी थी। गुरुवार के दिन कोई विषय चुनकर उस पर निबन्ध लिखने के लिए वे हमसे कहते। शनिवार की दोपहर का सारा समय हमें लिखने के लिए मिल जाता था। सोमवार को वे हमारा निबन्ध देखते थे। बीस-पचीस लकीरों में निबन्ध कैसे लिखना-यह वे विस्तारपूर्वक समझा देते थे। शनिवार के दिन दोपहर में निबन्ध लिखने के बहाने हम कागज लेकर निकलते और गड्ढे के किनारे खड़े करज के पेडों के नीचे जाकर बैठ जाते और इधर-उधर की बातों में तथा आमली-पीपली (लुका-छिपी) खेलने में सारा समय बिता कर देते। सोमवार के दिन जब किशोरलाल भाई हमारी लेख की कापी देखने के लिए माँगते तब कभी साढे तीन लकीरें और कभी मुश्किल से पाँच लकीरें लिखी हुई उन्हें मिलती। परन्तु मुझे याद नहीं कि मीठी हँसी के सिवा उन्होंने कभी एक भी कठोर शब्द कहा हो। इस

तरह हमारा प्रमाद और उनकी क्षमावृत्ति महीनो टकराती रहती। परन्तु निबन्ध लिखने के लिए किस प्रकार विचार करना, वाक्यो का विन्यास कैसे करना, विरामचिह्न कहाँ बनाना, पैरा कैसे बनाना–आदि बातें समझाने के उपरात हममें से किसीको ऊँची आवाज में उन्होने कभी एक शब्द तक नही कहा।

"आज जब मै उन प्रसगो को याद करता हूँ, तब मुझे यह खयाल आता है कि अपने क्रोध को पीकर किशोरलाल भाई हमें कितनी भारी शिक्षा दे रहे थे। इतना होने पर भी पढाई में ध्यान न देनेवाले विद्यार्थियो के कारण उन्हें कितना क्लेश सहना पड रहा है, इसे प्रकट करनेवाली एक रेखा तक हमने कभी उनके चेहरे पर नही देखी।

"दूसरी ओर हमें खुश करने, हमारा लाड-प्यार करने अथवा मीठी-मीठी बातें बनाकर गुड पर भिनकनेवाली मक्खियो की भाँति अपने आस-पास विद्यार्थियो को इकट्ठा करने का उन्होने कभी प्रयत्न किया हो–ऐसा हमें याद नही। हम 'खोखो' अथवा 'लोगपाट' आदि अनेक खेल खेलते। इनमें कभी उन्होने न तो भाग लिया और न तटस्थ निरीक्षक के रूप में काम करके अपना निर्णय देना स्वीकार किया। देशी बनाम विदेशी खेलो के बारे मे जब विवाद चलता, तब वे अवश्य ही अपनी राय जता देते।

"कविता में उन्हें कम रस नही था। वे नयी-नयी कविताएँ बनाकर रख लेते और हमें कभी पता भी नही लगने देते। मेरे जैसे विद्यार्थियो को कभी-कभी पू० गोमती बहन से पता चल जाता और किशोरलाल भाई को बिना पता लगे, हम ये कविताएँ अपनी कापियो में लिख लेते। कभी-कभी काकासाहब के बदले प्रार्थना में वे सतचरित्र हमें सुनाते। तब कहानी कहने की उनकी कला का हमें परिचय मिलता, परन्तु कहानी के रस में लडको को सराबोर करने के लिए कहानी कहने के लिए अपनी ओर से उन्होने कभी तैयारी नही दिखायी। शिक्षक रस की नदियाँ बहा दे, बच्चो को खूब खुश कर दे, और उनके साथ खुद भी बालक बनकर नाचे-कूदे–ऐसी वृत्ति से किशोरलाल भाई ने अपनेको अलग ही रक्खा। फिर भी हमारी शाला के आचार्य कौन हो?–इसका निर्णय हर साल एक सभा में विद्यार्थियो के मतो से होता, जिसमें शिक्षक भी हाजिर रहते। उसमें बहुत बार किशोरलाल भाई भारी बहुमत से आचार्य चुने जाते।

"यदि उस समय हमसे कोई पूछता कि किशोरलाल भाई की कौन-सी बात तुम्हें उनकी ओर खीच ले जाती है, तो हम अपनी टूटी-फूटी भाषा में कहते कि वे बहुत सज्जन और प्रेमी है। इनके मार्ग-दर्शन में हमें भी थोडे-बहुत प्रमाण में ये सद्गुण मिल जायें—इस आशा से हम अपने सबसे बडे शिक्षक के रूप में उन्हें चाहते है। यो कभी एक बार भी ऐसा प्रसग नही आता था, जब विद्यार्थियो के बीच कोई झगडा हुआ हो या किसी शिक्षक के विरुद्ध विद्यार्थियो को कोई शिकायत रही हो और उसमें निर्णय देने के लिए आचार्य को बैठना पडा हो। विद्यार्थी शिक्षक की बात न मानते हो, इसलिए उनके विरुद्ध शिकायत आचार्य तक पहुँची हो और आचार्य को विद्यार्थियो के विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही करनी पडी हो—ऐसा कभी एक बार भी होने का मुझे स्मरण नही। किशोरलाल भाई के दुबले-पतले शरीर के चारो ओर एक प्रकार का शात और चेतनादायी तेज फैला रहता, जिससे नासमझ-से-नासमझ बच्चे को भी ऐसा लगता कि मनुष्य हो, तो ऐसा हो।

"यह सही है कि किशोरलाल भाई अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता और स्वभाव की मधुरता से हमें चौंधिया देते थे और इस कारण हमारी श्रद्धा उनकी ओर झुकती थी, परन्तु ऐसा कहना अधूरा है। मनुष्य वुद्धि से चाहे कितना ही जाज्वल्यमान हो, परन्तु वह केवल इसी कारण बापू के आश्रम में आदर्श नही माना जा सकता और न माना गया। इसी प्रकार स्वभाव की मधुरता में भी बापू हिमालय के ऊँचे-से-ऊँचे शिखर को भी मात कर देते थे। वहाँ किशोरलाल भाई, काकासाहब अथवा विनोबा की गिनती न होना स्वाभाविक ही था। मेरे साथी विद्यार्थियो के मन की बात मै नही कहूँगा। परन्तु मेरे मन पर ही उनकी एक बात की छाप बहुत गहरी पडी है। वह है उनका स्वाश्रयी स्वभाव और दूसरे का सहारा न लेने की वृत्ति।

"सवेरे चार बजे उठने की घण्टी लगती। उस समय कोई अपना बिस्तर समेटता, तो कोई अँगडाई लेकर आलस्य को भगाता। परन्तु उस समय किशोरलाल भाई अपने घर की सफाई में लगे होते। डेढ-दो घटे वे अपने घर का शरीर-श्रम का काम करते। जो काम गृहिणी का माना जाता है, उसे भी वे आधा या अधिक भी कर डालते। इस बीच उनके मुंह से सुन्दर भजनो का प्रवाह अव्याहत गति से स्वर के किसी उतार-चढाव के बिना चलता रहता। कुएँ से पानी लाने में,

नदी से बाल्टी भरकर धुले हुए कपडे लाने में अथवा भोजन पकाते समय लकडी की जरूरत पडे, तो उसे लाने में, वे किसी विद्यार्थी या अन्य व्यक्ति की मदद न लेते। कोई मदद करना चाहता भी, तो मीठी हँसी हँसकर कह देते कि मदद की जरूरत नही है। पिछले वर्षों में जब वे बहुत बीमार हो गये, तब की बात मैं नहीं कर रहा हूँ। जिन दिनो वे हमारे शिक्षक थे, तब की यह बात है।

'अपने घर का काम तो वे करते ही, इसके अलावा शाला के अभ्यास-क्रम में शरीरश्रम के काम के समय भी अपने दुबले शरीर को लेकर किशोरलाल भाई हमारे साथ पूरे समय तक शरीरश्रम करते। उन दिनो साबरमती-आश्रम के मकानो की जुडाई का काम चल रहा था। अनेक बार शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर ईंटें यहाँ से वहाँ पहुँचाने, छप्पर पर खपरैल चढाने और बालू की टोकरियाँ भरकर लाने-आदि का काम करते। वे इसके लिए एक लम्बी कतार बना लेते और हाथोहाथ सामान पहुँचा देते। किशोरलाल भाई भी सबके साथ वजन उठाने का काम करते। वे हाँफने लग जाते फिर भी कतार छोडकर अलग न होते थे। एक वर्ष बडा अकाल पडा। उस समय कुएँ तैयार नही हुए थे। खड्डों में पानी डालकर जमीन नरम नही की गयी थी। साधारणतया जमीन रेतीली थी। फिर भी कही-कही वह बहुत कडी थी और गैंती जमीन में एक-दो इंच से अधिक गहरी नही जा पाती थी। ऐसी कडी जमीन में खाई खोदकर मकान के दोनो तरफ आश्रम की हद पर काँटेवाली थूहर की बाड लगाने का काम शुरू हुआ। अकाल के कारण जमीन सूखी पडी थी। फिर भी थूहर तो लगायी जा सकती थी। दूर से थूहर काटकर लाने का काम विद्यार्थी कर रहे थे और खाई शिक्षक खोद रहे थे। किशोरलाल भाई रोज दो घण्टे गैंती लेकर खाई खोदने के काम में बराबर लगे रहते। उनकी शारीरिक कमजोरी देखकर हम उनसे कहते कि वे यह काम हमें करने दें। परन्तु खोदने का काम वे कभी न छोडते। किशोरलाल भाई द्वारा लगायी गयी आश्रम की इस बाड के सामने से आज भी जब कभी मैं गुजरता हूँ तब उनकी जीवट और थक जाने पर भी काम करते रहने के उनके आग्रह की याद मुझे आये बिना नही रहती। अनजान में भी उन्होंने इस तरह हमारे मन में श्रम के प्रति कितना आदर पैदा कर दिया था, इसकी कल्पना मुझे अब होती है।

शरीर से अत्यत कमजोर होने पर भी किशोरलाल भाई में आश्चर्यजनक निर्भयता थी। उन दिनो साबरमती में साँप बराबर निकलते रहते। अनेक बार हमारे रहने के मकानो में भी वे दीख पडते। परन्तु हमने साँप को मारने का रिवाज नही रखा था। हिम्मतवाले लडके उन्हें पकडकर दूर छोड आते। एक बार नदी के घाट की तरफ मैं नीचे जा रहा था। उधर से किशोरलाल भाई धुले कपडो की बालटी लेकर ऊपर की ओर आ रहे थे। उनके पीछे-पीछे गोमती बहन माँजे हुए बर्तन लेकर आ रही थी। मेरे और किशोरलाल भाई के बीच छह सात फुट का अतर रहा होगा। इतने में हम दोनो के बीच से होकर एक साँप गुजरने लगा। मेरी बायी तरफ की घास में से वह निकला और दाहिनी तरफ जाने के बजाय मेरी ओर बढ आया। मै चमका और कूदकर दूसरी तरफ हो गया। मेरे कूदने से डरकर साँप नीचे किशोरलाल भाई की ओर मुडा। परन्तु वे इस तरह शान्ति के साथ खडे हो गये, मानो कुछ भी न हुआ हो। इन दिनो वे प्रात चार बजे से दिन के दस बजे तक मौन रखते थे। परन्तु इस प्रसग पर उन्होंने अपना मौन तोड दिया और मुझे ठीक समय पर सावधान करते हुए कहा—"प्रभुदास डरो नही, शाति से खडे रहो। यह चुपचाप चला जायगा।" उनकी बात सुनकर मै बडा शरमिन्दा हुआ। मैं अपने भय को छिपा ही नही सकता था। किशोरलाल भाई की शाति और निर्भयता से चकित होकर मैं उनके प्रतापी मुँह की तरफ देखता ही रह गया। वे फिर मौन धारण करके चले गये। गोमती बहन भी जरा नही डरी। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि भय के समय दिमाग ठिकाने रक्खूं। परन्तु अभी तक यह मुझे नही सधा।

रौलट एक्ट के समय अहमदाबाद में हडताल हुई, दगे हुए। लोग बडे-बडे झुण्ड बनाकर सरकारी इमारतें जलाते और शोर मचाते हुए घूमते थे। आश्रम में मै नदी की तरफ के आँगन में बैठा कुछ पढ रहा था। इतने में अचानक नदी के उस पार आकाश में धुएँ के काले बादल दिखाई पडे। साफ मालूम हो रहा था कि कही बहुत बडी आग लगी है। कमरे में किशोरलाल भाई थे। मैने उन्हें यह आग दिखायी। एक क्षण में किशोरलाल भाई सारी स्थिति समझ गये। 'जान पडता है कि हुल्लडबाजो ने यह आग लगायी है। वहाँ हमें तुरन्त पहुँच जाना चाहिए।' ऐसा कहकर वे एकदम निकल पडे। काकासाहब, नरहरि भाई आदि

के साथ उन्होंने उस दिन शरारती झुण्डो को रोकने के लिए बहुत बडे खतरे का सामना किया । उस समय उन्हें एक मिनट भी यह खयाल नही आया कि इस कमजोर शरीर को लेकर मैं इन हुल्लडबाजों का मुकाबला कैसे कर सकूंगा।

"अपने शरीर से काम लेने में किशोरलाल भाई कितने कठोर थे, इसका एक उदाहरण उनकी आबू से साबरमती की पैदल यात्रा है। हमारी शाला के शिक्षको और विद्यार्थियो का एक बडा जत्था साबरमती से पैदल आबू गया । जाते समय छोटे विद्यार्थियो और बहनो को लेकर किशोरलाल भाई ट्रेन से गये। परन्तु लौटते समय वे और गोमती बहन कुछ विद्यार्थियो के साथ पैदल आये थे। जाते समय मैं पैदल गया था। फिर भी लौटते समय मैं किशोरलाल भाई के साथ हो लिया। आबू से साबरमती तक बिना किसी खलल के सुबह-शाम छह-छह मील का प्रवास करते हुए हम आये। जेठ का महीना और उत्तर गुजरात की गरमी। रास्ते में पेडो का नाम भी नही था। शाम को भी लू चलती। नकसीर फूटती, पैरो में फफोले पड जाते और मीलो तक कुएँ के दर्शन न होते । फिर भी उन्होंने प्रवास में किसीको कष्ट नही होने दिया। हर मनुष्य के साथ अपना सामान और पीने के लिए पानी की छोटी-सी सुराही थी। किशोरलाल भाई भी अपना सामान खुद ही उठाते थे। गोमती बहन रास्ते में शुरू से आखीर तक साथ रही। वे भी अपने सामान में से एक छोटा-सा थैला तक हम विद्यार्थियो को न उठाने देती। पडाव पर हम सब तो खा-पीकर लम्बे पड जाते, परन्तु किशोरलाल भाई कुछ वाचन-मनन करते। बोलने में किशोरलाल भाई शिक्षको में सबसे आगे रहते। ऊँची आवाज थी और हर बात खूब विस्तार से समझाने की उन्हें आदत थी। परन्तु इस प्रवास में वे प्राय मौन ही रहे। जरूरत पडती और हम कोई बात पूछते, तभी वे बोलते थे। एक विद्यार्थी की हैसियत से मैंने उनसे जो कुछ पाया, उसमें इस प्रवास में उनके अत्यन्त निकट के सहवास में मिले धैर्य, लगन और सादगी के आदर्श का विशेष स्थान है।

"देखने में वे एक साधारण मनुष्य थे, परन्तु जो भी उनके सपर्क में आता, वह यह अनुभव किये बिना न रहता कि अनेक दिशाओ में उनमें अनेकविध विशेषताएँ थी।

"किशोरलाल भाई ने हमारी शाला में एक-दो वर्ष काम किया और फिर कुछ कौटुम्बिक कारणो से उन्हें बम्बई लौट जाना पडा। उन्होने हमें बताया था कि साल दो साल बाद वे फिर साबरमती आयेंगे। परन्तु हम विद्यार्थियो को लगा कि व्यापार में लग जाने पर एक शिक्षक के लिए वापिस लौटना बहुत कम सभव है। इसलिए किशोरलाल भाई को बिदा करने का एक समारभ किया गया। हम लोगो ने दूसरे शिक्षको की मदद से तैयार किया गया एक अत्यत भावनामय मानपत्र उन्हें अर्पित किया और इसी समय 'मेहमान जल्दी लौटकर आना'—इस आशय का एक गीत भी गाया। उनके प्रेम से हम सब इतने अभिभूत हो गये कि यह गीत गाते समय बहुत-सी बहनों और भाइयों की आँखो से आँसू बहने लगे। हम सभी इतने गद्गद हो गये कि हम वह गीत पूरा नही गा सके। इसके बाद तो साबरमती में बहुत से छोटे-बडे व्यक्ति आये और गये, परन्तु किशोरलाल भाई के वियोग के समय जो दु ख का वातावरण उत्पन्न हो गया था, वैसा शायद ही कभी हुआ हो।

"उस समय किशोरलाल भाई हमारे बीच एक सामान्य मनुष्य ही थे। पू० नाथजी की मदद लेकर अभी उन्होने कोई एकान्त-साधना नही की थी। इसके बाद वनवासी बनकर वे आबू गये। वहाँ समाधान प्राप्त करके लौटने के बाद तो उनकी गिनती ज्ञानियो में होने लगी थी। अभी वह बात नही थी। हम विद्यार्थियो ने तो सुना था कि किशोरलाल भाई को भगवान का साक्षात्कार हो गया है ! यह भी सुना था कि आबू में घूमते हुए नाथजी ने उन्हें भगवान के दर्शन करा दिये है। इसलिए अब वे 'पुरुष' से 'पुरुषोत्तम' बन गये है। परन्तु हम नही जानते थे कि इन बातो में केवल कल्पना का अश कितना था और वास्तविक सत्य कितना था। मेरे जैसा तो उनसे सीधा प्रश्न पूछ बैठता कि 'आपने भगवान को देखा है ?' तब वे मद स्मित करके उल्टे हमसे ही पूछते—"अच्छा बताओ, भगवान का अर्थ क्या है ? मोक्ष का अर्थ क्या है ?" हम कोई जवाब नही दे पाते और वे मौन होकर अपने काम में लग जाते।

"मेरे मन पर उनकी जो छाप पडी है, उसका मै इस प्रकार विश्लेषण करता हूँ कि नेता, गुरु और मार्ग-दर्शक तो बहुत से महापुरुष बन जाते है, परन्तु सबके स्वजन तो विरले ही होते हैं। किशोरलाल भाई एक प्रखर तत्त्व-चिंतक, कुशल

शिक्षक, आदर्श त्यागी, उत्तम सचालक, क्रान्तिकारी लेखक, मर्मस्पर्शी कवि, सदा सर्वदा विनोदी—इत्यादि अनेक बातो में महापुरुष थे। परन्तु इनकी सबसे बढकर श्रेष्ठता तो यह थी कि महापुरुष होने पर भी सबके स्वजन बनकर रहने की कला उनमें असाधारण थी। मेरे जैसे पगु मन और कच्ची बुद्धिवाले विद्यार्थी तथा सेवक उनके पास जाते, तब हर मनुष्य की भूमिका पर वे इतनी मिठास के साथ विचार-विनिमय करते कि कहाँ तो उनका अत्यत ऊँचा व्यक्तित्व और कहाँ हम अल्प मनुष्य, यह भेद ही आदमी भूल जाता। अपनी शक्ति अथवा समर्थ विचारधारा की छाप अपने पास आनेवाले आदमी पर वे कभी इस तरह नही डालते कि जिससे वह चौंधिया जाय। परन्तु जो आदमी जहाँ होता, वहाँ उसे उलझन में डालनेवाली गुत्थी को सुलझाने में वे तत्काल मदद करने लगते। कुछ भाग्यशाली विशाल कुटुम्बो में कही एक-आध ऐसा सहृदय और विशाल मन का पुरुष होता है, जो परिवार के छोटे से लेकर बडे—वृद्ध व्यक्ति तक सबके लिए हर घडी सहायक बन जाता है। छोटे बच्चो से खिलौनो के बारे में, शाला में जानेवाले बच्चो से पढाई के बारे में, बडे आदमियो से व्यापार-बाजार के बारे में, मेहमानो से सुविधा-असुविधा के बारे में, स्त्रियो के साथ घर तथा रिश्तेदारो के बारे में और पुरुषो के साथ गाँव एव समाज के बारे में वह पूछताछ करता है और अपनी शक्ति के अनुसार हर आदमी की मदद करता रहता है। परन्तु इस पुरुष को अपना काम अथवा अपने हर्ष-शोक का भार दूसरे पर डालने की इच्छा कभी भूलकर भी नही होती। केवल बापू के परिवार मे ही नही, किशोरलाल भाई जहाँ-जहाँ भी पहुँच सके, वे सबके स्वजन और सुहृद बन जाते और उनका एक बार का सपर्क दीर्घजीवी और घनिष्ठ होता जाता।"

अब कुछ मनोरजक प्रसग देकर इस प्रकरण को समाप्त करूँगा। सन् १९१८ में हम लोग जब आबू की पैदल यात्रा को गये थे, तब खादी का पहनावा दाखिल नही हुआ था। इस कारण हममें से कुछ लोग बगलोरी टोपी, चीनी सिल्क का लम्बा या छोटा कोट, कमीज, कुछ छोटी ऊँची धोती पहनते, कुछ नगे बदन रहते। इस तरह की हमारी पोशाक थी। फिर हमने अपने साथ कुछ लालटेनें, भोजन पकाने के लिए एक बडा पतीला और कठौता ले लिया था। हमारा यह पहनावा कितने ही लोगो को बडा विचित्र लगता। उन दिनो आज की

तरह घूमने के लिए पर्यटन-मडलियाँ बहुत कम निकलती थी। गणवेश-राष्ट्रीय वर्दी-जैसी कोई चीज भी नही बनी थी। तब यदि हमसे कोई पूछता कि कहाँ जा रहे हो? तो हम केवल अगले पडाव का नाम बताते। क्योकि यदि हम आबू का नाम लेते, तो स्थानीय आदमी हमारी बात भी नही समझते। कई बार हम रेल की पटरियो के किनारे चलते। कभी-कभी यह कहनेवाले भी मिल जाते कि इतनी दूर चलकर क्यो जा रहे है? मै आपके लिए टिकट खरीद लाऊँ? गाडी में बैठकर आराम से जाइये। हम सबको एक साथ भोजन करते देखकर कितने ही लोगो को अजीब-सा लगता। वे पूछते भी—"क्या आप सब एक ही जाति के है?" जब हम जाति न बताते, तब पूछते कि आप किस दूध के है? मतलब यह कि अभी भले ही आपकी कोई जाति न हो, परन्तु जन्म की तो कोई जाति जरूर होगी? कोई पूछते—"अगले पडाव पर तो लीला करेगे न?" शुरू में तो हम समझे ही नही कि वे क्या पूछ रहे है। परन्तु धीरे धीरे बातो पर से पता लगा कि वे रामलीला के बारे में कह रहे है। हमारे पहनावे देखकर उन लोगो को लगता कि यह तो रामलीलावालो की कोई मडली है।

इसी प्रकार एक और मजे की बात तब होती, जब किशोरलाल भाई, गोमती बहन, मणि बहन तथा मै शहर में साग-सब्जी या खाने पीने का दूसरा सामान लेने के लिए हर आठ-पद्रह दिन में जाते। किशोरलाल भाई तथा मै सामान के थैले पीठपर लटकाकर ले जाते, गोमती बहन तथा मणि बहन अनेक बार बगल में या सिर पर गठरी रखकर चलती। किशोरलाल भाई के सिर पर तो स्वामी-नारायण-पथ का तिलक भी होता। उन दिनो बसे नही चली थी और ताँगा का खर्च हम करते नही थे। इसलिए दुधेश्वर के पास से साबरमती को पार करके हम शहर में आते-जाते रहते। एक बार बोझ कुछ अधिक हो गया, तो सामने से आनेवाले एक आदमी ने कहा—"वाह महाराज! आज तो खूब हाथ मारा है। भिक्षा बहुत अच्छी मिली है।" और किशोरलाल भाई की ओर उँगली दिखाकर बोला—"इन महाराज से तो उठती भी नही।" इस तरह के मजे शुरू के दिनो में आते रहते।

◆◆◆

विद्यापीठ के महामात्र

: १४ :

किशोरलाल भाई शुरू में केवल एक वर्ष के लिए साबरमती की राष्ट्रीय शाला में आये थे। परन्तु वहाँ वे लगभग दो वर्ष रहे। फिर १९१९ के अगस्त में बड़े भाई श्री बालूभाई के व्यापार में मदद करने के लिए वापिस बम्बई चले गये। परन्तु वे तो व्यापार के लिए जन्मे ही नहीं थे, इसलिए वहाँ उन्हें अच्छा नहीं लगा।

बापूजी को पत्र लिखकर वे अपने कुटुम्ब की और अपनी भी कठिनाइयों से उन्हें परिचित कराते रहते थे। इस बारे में बापू का एक उत्तर उल्लेखनीय है :

भाई श्री ५ किशोरलाल !

आपका पत्र मुझे गुजरानवाला में मिला। अभी तो मैं सबूत एकत्र करने के लिए घूमता रहता हूँ। इसलिए मुझे पत्र लाहौर के पते पर ही दें। मुझे निश्चय है कि आप दूर रहकर बालूभाई की सेवा कर सकेंगे और उनका ऋण भी अदा कर सकेंगे। मेरे सामने भी ऐसी ही समस्या उपस्थित हुई थी। हमें जो चीज अच्छी-से-अच्छी लगे, वह हम अपने प्रियजनों को भी दें, इससे अधिक आदमी क्या कर सकता है ? आप अपनी शर्त पर सबका भरण-पोषण कर सकते हैं। आज आप निर्दय दीखेंगे, परन्तु इससे घरवालों को भी लाभ ही होगा। इसलिए बालूभाई का धन्धा सँभालने से आप इन्कार कर दें, तो मैं समझता हूँ कि इसमें कोई दोष नहीं होगा। बालूभाई भी इस झंझट से अपने को मुक्त कर लें, तो अच्छा होगा। गरीब बनने में ही कल्याण है। बालूभाई अपने सब बच्चों को लेकर आश्रम में आ बसें। जो कुछ धन उनके पास है, उससे अपना खर्च चला लेंगे और सुख से रहेंगे। उनकी वृत्तियाँ तो अच्छी ही हैं। आश्रम में अर्थात् आपके साथ रहकर उनसे जो सेवा बन पड़े, वह करते रहें। कुछ नहीं तो कुकड़ियाँ तो भर ही सकेंगे। रुई तौल सकेंगे। मुझे तो इस काम में जो सुलभता और सादगी दीखती है, वह और किसी चीज में नहीं। इस तरह संयम से रहकर जब हम कालान्तर में अपने शरीर को शुद्ध कर सकेंगे, तब हमारा

जीवन पुष्पवत् सुन्दर और सरल बन जायेगा और जिस प्रकार पुष्प किसीको बोझरूप नहीं लगता, उसी प्रकार हम भी पृथ्वी को बोझरूप नहीं लगेंगे। आज तो हम भाररूप लग रहे हैं।

मोहनदास का वन्देमातरम्

अन्त में जुलाई १९२० में वे आश्रम में वापिस लौट आये। उस समय बापू ने असहयोग का आन्दोलन शुरू कर दिया था और राजनैतिक वातावरण बहुत गरम था।

असहयोग के प्रश्न पर विचार करके उस विषय में एक निश्चय करने के लिए सितम्बर मास में कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन करने का निश्चय किया गया। परन्तु इस विशेष अधिवेशन से पहले असहयोग के विचार को बल देने के लिए २७-२८ और २९ अगस्त को अहमदाबाद में गुजरात राजनैतिक परिषद् की गयी। इसमें असहयोग के बारे में एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। उसके अलावा राष्ट्रीय शिक्षण के बारे में नीचे लिखा प्रस्ताव मंजूर किया गया।

(१) यह परिषद् मानती है कि अंग्रेज-सरकार द्वारा इस देश में जारी की गयी शिक्षा-पद्धति हमारे देश की संस्कृति और परिस्थिति के प्रतिकूल और अव्यावहारिक भी सिद्ध हुई है। इसलिए विद्यार्थियों को स्वदेशाभिमानी, स्वाश्रयी और चरित्रवान् भारतीय बनाने के लिए परिषद् यह आवश्यक समझती है कि सरकार से स्वतन्त्र राष्ट्रीय शालाएँ खोलना आवश्यक है।

(२) इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए खास तौर पर गुजरात में—परिषद् यह भी आवश्यक समझती है कि राष्ट्रीय सिद्धान्त के अनुसार शालाएँ, महाविद्यालय, उद्योगशालाएँ, उर्दू शालाएँ और आयुर्वेदिक आरोग्यशालाएँ खोली जायँ और इनके कार्य में समन्वय स्थापित करने के लिए गुजरात विद्यापीठ (युनिवर्सिटी) की भी स्थापना की जाय।

(३) ऊपर लिखे अनुसार गुजरात में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करने के लिए उचित उपायों की योजना करने के लिए यह परिषद् एक कमेटी नियुक्त करती है। इस कमेटी को अपनी सहायता के लिए अधिक सदस्य नियुक्त करने का भी अधिकार होगा।"

इस कमेटी के मन्त्री के स्थान पर श्री इदुलाल याज्ञिक और किशोरलाल भाई नियुक्त किये गये। प्रस्ताव में राष्ट्रीय शिक्षण सस्थाएँ निर्माण करने के बारे में लिखा गया है। परन्तु उस समय जनता के सामने राष्ट्रीय शिक्षण के प्रश्न की अपेक्षा सरकारी नियन्त्रण से मुक्त शिक्षा का प्रश्न अधिक आवश्यक था। इसलिए इसे 'राष्ट्रीय शिक्षा' कहने की अपेक्षा 'असहयोगवाली शिक्षा' कहना अधिक सार्थक होगा।

इस समिति ने गुजरात विद्यापीठ का विधान बनाया और ता० १८-१०-,२० के दिन गुजरात विद्यापीठ की स्थापना की। इसके प्रथम नियामकों के स्थान पर समिति के चालू सदस्य ही रख लिये गये। समिति के अध्यक्ष गाधीजी ने कुलपति का पद ग्रहण किया। आचार्य श्री गिदवाणीजी कुलनायक और श्री किशोरलाल भाई महामात्र नियुक्त किये गये।

किशोरलाल भाई ने प्रारम्भ में शिक्षण-समिति के मन्त्री की हैसियत से और बाद में गुजरात विद्यापीठ के महामात्र की हैसियत से शिक्षकों, विद्यार्थियों तथा सर्वसाधारण प्रजाजनों के नाम कई परिपत्र जारी करके उनका अत्यत सुन्दर मार्ग-दर्शन किया। उनकी कई सूचनाएँ बडी महत्त्वपूर्ण हैं। असहयोग करनेवाले शिक्षकों को उन्होंने यह सलाह दी

"राष्ट्रीय शालाओं में आपको नौकरी मिले, तो आप सरकारी नौकरी से त्याग पत्र देंगे, इस तरह की शर्त रखना बेकार है। इस शर्त पर विद्यापीठ शिक्षकों को स्वीकार नहीं कर सकता। विद्यापीठ यह भी विश्वास नही दिला सकता कि नौकरी छोडनेवाले आप सबको विद्यापीठ अवश्य ही नौकरी दे देगा। यहाँ तो योग्यता ही देखी जायगी। सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देना, तो एक भारतीय के नाते मनुष्य का कर्तव्य हो गया है। इसमें एक प्रकार का आत्मबलिदान है। विद्यापीठ में नौकरी मिलने में शिक्षा की दृष्टि से योग्यता की बात है।"

असहयोग करनेवाले विद्यार्थियों को वे सलाह देते हैं

"सोलह वर्ष से अधिक आयु के विद्यार्थी यदि स्पष्ट रूप से समझ लें कि असहयोग करना उनका धर्म है, तो अपने माता पिता की इच्छा के विरुद्ध भी उन्हें शालाएँ छोडने की सलाह दी गयी है। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि वे गुरुजनों के प्रति अपने पूज्यभाव को कम कर लें। जो माता-पिता असहयोग को समय

नही पाये है अथवा विरोध करते है, उनके प्रति भी असहयोगी विद्यार्थी पूज्यभाव ही रक्खें। उनकी सेवा सपूर्ण प्रेम और आदर के साथ करें। उन्हें अनादर-युक्त वचन न कहें।"

शिक्षा से असहयोग क्यो किया जाय, इस बारे में उन्होंने जो लिखा है, वह आज स्वराज्य की शालाओ में दी जा रही शिक्षा पर भी लागू होता है

"हममें इस तरह का एक वहम जड पकड गया है कि अच्छी शिक्षा का अर्थ है अमुक भाषा में लिखने-पढने की शक्ति और अमुक विषयो की जानकारी। अगर किसी खास तौर पर बने मकान और उसके अन्दर निश्चित सुविधाओं के होने का नाम ही पाठशाला हो, तो अमुक भाषा का ज्ञान और अमुक जानकारी रखने को भी हम सुशिक्षा कह सकते है। परन्तु जिस प्रकार मकान नही, वल्कि शिक्षक और विद्यार्थी शाला है, उसी प्रकार भाषा और जानकारी नही, परन्तु भाषा का तेज और जानकारी की उत्पादक शक्ति ही विद्यार्थी की सुशिक्षा है। यदि इस दृष्टि से हम शिक्षा पर विचार करेंगे, तो मुझे निश्चय है कि हम इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि आज की शिक्षा-पद्धति का हम सदा के लिए त्याग कर दें, तो इससे देश कुछ भी नही खोवेगा।

"पढ लिख लेने पर भी यदि लडका रोगी, पुरुषार्थहीन, क्षीणवीर्य और सयम के पालन में अशक्त बन जाय, यदि वह यह मानने लगे कि पढने लिखने के फलस्वरूप वह विशेष ऐश-आराम का अधिकारी बन जाता है, स्वधर्म की अपेक्षा तात्कालिक लाभ को वह अधिक मूल्य देना सीख जाय, यदि शिक्षा पूरी करने के बाद जीवनभर नौकरी में पडे रहने के अतिरिक्त उसमें कोई आकाक्षा न रह जाय, पढ लेने पर भी यदि वह इस योग्य न बन सके कि किसी उद्योग के द्वारा वह प्रामाणिकता के साथ अपनी आजीविका चला सके, यदि पढ लेने पर भी केवल अपनी हाजिरी लिखाने के लिए सोलह-सोलह मील चलकर जाने[1]

---

[1] सन् १९१९ के अप्रैल मास में रॉलट एक्ट के विरोध में जगह-जगह उपद्रव हुए थे। उस समय लाहौर में फौजी कानून जारी किया गया था और उसमें विद्यार्थियो को यह हुक्म दिया गया था कि वे इतनी-इतनी दूर चलकर रोज थाने पर हाजिरी दे आया करें।

की गुलामी उसके अन्दर रह गयी हो, यदि पढ लेने पर भी वह झूठे गवाह और झूठे दस्तावेज तैयार करने में तथा मुवक्किलो और मरीजो को धोखा देने में भाग ले सकता है, तो इसकी अपेक्षा यह अच्छा है कि वह गरीब, मेहनत-मजदूरी करनेवाला और अपढ बना रहे, ऐसी इच्छा हर माता-पिता को करनी चाहिए।"

एक भाई ने गाधीजी से पूछा कि "सभी राष्ट्रीय शालाओ में अत्यज पढ सकेंगे या नही?" उत्तर के लिए गाधीजी ने यह पत्र विद्यापीठ की नियामक सभा के पास भेज दिया। इस पर नियामक सभा ने निर्णय किया कि "विद्यापीठ की मान्यताप्राप्त कोई भी विद्यामदिर (शाला तथा महाविद्यालय) केवल अत्यजो का वहिष्कार नही कर सकता।"

उन दिनो शारदापीठ के शकराचार्य का मुकाम नडियाद में था। उस समय ता० २१-११-१९२० के दिन इस निर्णय के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए ब्राह्मणो ने एक महासभा की और उसमें प्रस्ताव किया कि "विद्यापीठ का निर्णय हिन्दू धर्मशास्त्र के विरुद्ध है और हमारे सनातनधर्म के प्राचीन नियमो का उच्छेदन करनेवाला है।" इस प्रस्ताव का उत्तर देते हुए किशोरलाल भाई ने लिखा

"ब्राह्मण महासभा के प्रस्ताव पर और जगद्गुरु द्वारा उसके अनुमोदन पर मुझे अत्यत दुख हुआ है। वर्णाश्रम-व्यवस्था समाज के हितार्थ और लोक-कल्याण के साधन के रूप में रची गयी है। स्मृतिकारो ने समाज के हित को देखकर लोक-कल्याण के लिए देश-काल के अनुसार वर्णाश्रम-व्यवस्था में फेरफार किये हैं और नयी स्मृतियो की रचना भी की हैं। प्रारम्भ मे अंत्यजो को अस्पृश्य करार देने में जो भी कारण रहा हो, आज देश की सारी व्यवस्था बदल गयी है। उसे ध्यान में रखते हुए यदि श्रीमद्शकराचार्य तथा महासभा यह परीक्षण करते कि न्याय और समाज का हित किस ओर है और अत्यजो के विरुद्ध प्रस्ताव करने के बजाय उदारतापूर्वक उन्हे आश्रय देने का प्रस्ताव करते, तो धर्म की अधिक सेवा होती--ऐसा मेरा नम्र मत है।"

विद्यापीठ द्वारा किस प्रकार की पाठ्य पुस्तको की रचना की जानी चाहिए, इस विषय में सलाह देते हुए उन्होने जो कहा, वह भी ध्यान देने लायक है:

"मेरा खयाल है कि पाठ्य पुस्तको के बारे में अनेक लोग स्वतत्र प्रयास करें,

तो अधिक अच्छा होगा। इस बात में तो सभी सहमत है कि शिक्षण जनता के हाथ में हो, और आज हम ऐसे लोकतत्री शिक्षण को राष्ट्रीय शिक्षण कहते है। परन्तु राष्ट्रीय शिक्षण में मुख्य प्रश्न यह है कि राष्ट्र को आज किस प्रकार के, किस चीज के और किस रीति से दिये जानेवाले शिक्षण की आवश्यकता है। इस विषय मे अभी हम किसी निर्णय पर नही पहुँचे है। पहुँचना आसान भी नही है। इसलिए भिन्न-भिन्न आदर्शों का महत्तम समापवर्तक करने की अपेक्षा, अथवा भिन्न भिन्न आदर्शो को एक-दूसरे के अनुकूल बनाने अथवा उनमें समन्वय साधने के लिए उनकी तोड-मरोड करके लिखी गयी पुस्तको की अपेक्षा अधिक अच्छा यह होगा कि जिन्होने विचारपूर्वक अपने आदर्श स्थापित किये है, इस प्रकार के भिन्न-भिन्न विचार और आदर्शवाले शिक्षाशास्त्री अथवा शिक्षा-मण्डल अपनी शिक्षण-सस्थाओ के लिए अलग-अलग स्वतत्र पाठ्य पुस्तको का निर्माण करें।"

किशोरलाल भाई उस समय भी इस बात के विरुद्ध थे कि शिक्षण पूरी तरह किसी एक तत्र के मातहत ही हो। वे उसे विकेन्द्रित स्वरूप देना चाहते थे। राष्ट्रीय शिक्षण-मण्डलो को ध्यान में रखकर जारी की गयी एक पत्रिका में वे कहते है

"इस युग में यह पद्धति चल पडी है कि लोकजीवन का प्रत्येक व्यवहार चलाने के लिए एक एक महकमा खोल दिया जाय। इसका सदर मुकाम एक जगह होता है और वहाँ से वह अपने आदमियो द्वारा गाँव गाँव में शाखाएँ खुलवाता है और उनमें सब जगह एक ही प्रकार से काम करवाता है। इस पद्धति मे कुछ लाभ अवश्य है। परन्तु उनके साथ ही कुछ दोष भी है। इस तरह के महकमे की कार्य-पद्धति यान्त्रिक—यत्रवत्—बन जाती है। इसमें हर मनुष्य को अपनी बुद्धि को इस यत्र के अनुकूल बनाना पडता है। अनेक ऐसे रिवाज जारी करने पडते है, जो प्रत्यक्ष रूप से खर्चीले और मूर्खतापूर्ण होते है। महकमे के मूल को धक्का लगते ही सारी शाखाओ का नाश होने का भय होता है। और मूल को धक्का पहुँचाना कठिन नही। अधिक कमाई करनेवाला और जनता को मोहित करनेवाला कोई नया महकमा खडा हो जाय, तो पहला महकमा बन्द किया जा सकता है।

"जहाँ तक मै समझता हूँ, विद्यापीठ की स्थापना करने में हमारा हेतु यह नही

हैं कि अंग्रेज-सरकार के शिक्षाविभाग के समान ही हम भी कोई मध्यवर्ती शिक्षा-विभाग खोल दें और उसके जरिये सारे गुजरात में शिक्षा के कारखाने खोल दें और एक निश्चित साँचे मे सारे विद्यार्थियों और शिक्षकों को ढालने लग जायें। गुजरात विद्यापीठ का हेतु यह है कि जनता समझने लगे कि हर गाँव में जनता को ही अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करना है। यह शिक्षा गाँवो की आवश्यकता के अनुकूल हो। फिर यह भी स्पष्ट है कि आज ऐसी मध्यवर्ती संस्था के बिना हमारा काम नही चल सकता। ऐसे समय, जब कि हमारी पुरानी संस्थाएँ नष्ट हो गयी हैं, जनता अपने पुराने संस्कारों को भूल गयी है, नयी संस्थाएँ निर्माण करने की अपनी नैसर्गिक शक्ति के बारे में हम श्रद्धा खो बैठे हैं, ऐसे समय इस तरह की संस्था ही हममें संघ-बल उत्पन्न करके हमारे प्रयासो के लिए एक ध्येय निश्चित करने में हमारी मदद कर सकती है। फिर भी हमें यह नही भूलना चाहिए कि इस मध्यवर्ती संस्था का काम केवल ध्रुव की भाँति सही दिशा बता देना है। इससे आगे बढकर यदि वह सारा संचालन अपने हाथों में लेने का प्रयत्न करेगी, तो उतने अंश में यह यन्त्र बन जायेगी। राष्ट्रीय शिक्षा-मण्डल का काम है कि वह विद्यापीठ को यन्त्र न बना दे।"

शिक्षित अथवा पढा लिखा किसे कहना चाहिए, इस विषय में उन्होंने एक पत्रिका में लिखा है

'केवल लिखना-पढना मात्र आ जाने से मनुष्य 'शिक्षित' नहीं कहा जा सकता। शिक्षण तो खानदानी स्वभाव में है। यह अगर अपने बच्चों में माता-पिता ला सकें, तो उन्हें असंतोष मानने के लिए कोई कारण नही। फिर ज्ञान की निरन्तर प्यास होना भी शिक्षण का लक्षण है। जो माता-पिता अपने बच्चों को पढा नही सकते, वे उनमें यदि ज्ञानप्राप्ति की प्यास भी जगा सकें, तो यह कम नहीं। इसके द्वारा बच्चे खुद दूसरों को देख-सुनकर और अपने अनुभव से स्वयं ही बहुत-सा ज्ञान प्राप्त कर लेंगे। अपने ज्ञान का शतांश भी मनुष्य शालाओं में नही प्राप्त करता। निन्यानवे प्रतिशत तो यह ज्ञान उसे प्रत्यक्ष जीवन में मिलता है। यह शतांश भले ही महत्त्वपूर्ण हो, परन्तु देश के सामने उपस्थित धर्म के पालन में इस शतांश का त्याग करना पडे, तो यह कोई बहुत बडा त्याग नहीं कहा जायेगा।"

ता० १५-११-१९२० को महाविद्यालय की स्थापना हुई। इस अवसर पर महामात्र की हैसियत से भाषण करते हुए किशोरलाल भाई ने कहा :

"शिक्षा-परिषद् तथा साहित्य-परिषद् ने राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में भिन्न-भिन्न प्रस्ताव किये हैं। परन्तु आज आपके सामने जो सस्था खडी की गयी है, उसका मूल आधार राजनैतिक परिषद् है। शायद यह आपको आश्चर्य में डाल दे। परतु आज देश की राजनैतिक स्थिति भयकर है। .. ऐसी क्रूर और भयकर सरकार को इच्छापूर्वक एक दिन भी टिकाये रखना अधर्म है। सरकारी शिक्षण-पद्धति इसे टिकाये रखनेवाला एक उत्तम साधन है। इस विचार से प्रेरित होकर ही राजनैतिक परिषद् ने शिक्षण को व्यावहारिक रूप देने का निश्चय किया है।-

"इस प्रकार आज आपके सामने राष्ट्रीय शिक्षा का प्रश्न केवल विशुद्ध शिक्षा की दृष्टि से नही खडा हुआ है। इसमें राजनैतिक दृष्टि प्रधान है। जनता के सामने आज यह सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न खडा हो गया है कि वह देश की शिक्षण-पद्धति को सरकारी नियन्त्रण से मुक्त कर ले।"

उस समय की परिस्थिति के कारण विद्यापीठ के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपने काम का प्रारम्भ ठेठ नीचे से करने के बजाय ऊपर से करे। इस विषय में किशोरलाल भाई ने कहा था

"सच पूछिये तो महाविद्यालय शिक्षणमदिर का कलश होता है। कलश चाहे कितना ही मूल्यवान और प्रकाशमान हो, फिर भी उसकी बुनियाद तो प्राथमिक शिक्षा ही है। परन्तु इस विद्यापीठ का श्रीगणेश महाविद्यालय से करना पड रहा है। इसलिए यह विद्यापीठ कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आक्षेप का पात्र बन गया है। इस अटपटी स्थिति का कारण आज की राजनैतिक स्थिति है।"

यह विद्यापीठ मुख्यत किनके लिए है—इस प्रश्न के उत्तर में किशोरलाल भाई ने जो लिखा है, वह विशेष रूप से जानने योग्य है -

"विद्यापीठ की ओर से मैं विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि यह विद्यापीठ मुख्यत गुजरातियों के लिए है, फिर वे चाहे हिन्दू हो, जैन हो, मुसलमान हो, पारसी हो या ईसाई हो। मुसलमान और पारसी भाइयों को मैं विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि यह विद्यापीठ सस्कृतमय गुजराती का उत्कर्ष करने के लिए नही

आया हूँ कि यदि असहयोग को आप सच्चा करना चाहते हो, तो अपना हर घण्टा सूत कातने में ही लगाइये । यह बात आपको नयी मालूम होगी । आपको आघात भी लगेगा। जिन्हें बी० ए० होना है और जिन्हें विश्वास दिलाया गया है कि यह विद्यापीठ उन्हें यह डिग्री देगा, उनसे मैं कहना चाहता हूँ कि आज तो चरखा चलाना ही बडी-से-बडी डिग्री है। मैं इस सीमा तक इसलिए जा रहा हूँ कि इस समय मेरे विचारों में जो आवेग है वही आपमें भी उत्पन्न हो, यह मैं देखना चाहता हूँ। यदि नौ महीनो में हम स्वराज्य लेना चाहते है, तो विद्यार्थियो के लिए असली विद्या यही है कि वे भारत में कपडे के अकाल को मिटा दें। यदि विद्यार्थी इस साल इस काम को उठा लें, तो काग्रेस अपने प्रस्ताव के अनुसार एक वर्ष के अन्दर स्वराज्य प्राप्त कर सकती है। विद्यार्थी अपने देश के लिए अपनी पढाई को अलग रखकर मजदूर बन जायें। इस मजदूरी के लिए मुआवजा न मांगें, तो आपकी कृपा, परन्तु यदि लेना चाहें, तो खुशी से ले भी सकते हैं। आप पढ़ाई को पूरी तरह छोड दें, यह मेरा आग्रह नही है। परन्तु यदि छोड भी दें तो उससे आपकी विचार-शक्ति कम हो जायगी—ऐसा मैं नही मानता। जिसका मन मलिन नही है, उसकी विचार-शक्ति कभी नही घटती। पढ-पढ-कर हमारे दिमाग सड गये हैं। इसीलिए मैंने आपसे कहा कि छह घण्टे सूत कातिये और शेष समय में पढिये। मैं तो आपसे यह भी कहता हूँ कि कातने की कला में पारगत होकर गाँवो में ही जाकर बसिये । इतना आत्मविश्वास आप में न हो, तो आप कालेज में भी रह सकते है। परन्तु मुझे इतना तो विश्वास है कि सभी लोग यदि रोज चार-छह घण्टे नही कातेंगे, तो स्वराज्य नही मिल सकेगा।"

महाविद्यालय के कई विद्यार्थियो पर इस भाषण का बहुत अच्छा असर हुआ । उन्होने निश्चय किया कि अक्षर-ज्ञानवाले विषयो में समय देने की अपेक्षा हमें यन्त्र विद्या के पीछे लग जाना चाहिए। इसके लिए यह सुविधा कर देने की दृष्टि से नियामक-सभा ने नीचे लिखा निश्चय किया।

'काग्रेस के असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव के प्रति सम्मान प्रकट करने तथा एक वर्ष के भीतर स्वराज्य प्राप्त करने के प्रयत्न में सहायक बनने के लिए गुज-रात विद्यापीठ द्वारा मान्यताप्राप्त सभी शालाओं के प्रबन्धक तथा अध्यापक

विद्यार्थियो को कताई की शिक्षा दें और स्वदेशी का प्रचार पूरे वेग से करने के लिए तथा देश में सूत की जो जबरदस्त कमी है, उसे पूरा करने के लिए जो-जो विद्यार्थी तैयार हो, उनके द्वारा सूत कतवावें। ऐसा करने के लिए समय देना पडे, तो वह देने के लिए भी विद्यार्थियो को समझाकर तैयार करें।"

महाविद्यालय के आचार्य श्री गिदवानीजी को लगा कि सभी विद्यार्थियो से इस तरह कताई का काम कराया जायगा, तो यह बहुत दिनो तक नही निभेगा। इसलिए जो विद्यार्थी पुस्तकी ज्ञान चाहते थे, उनके लिए वर्ग जारी रखें। जो विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी करने के बदले कताई सीखना चाहते थे तथा उसे सीख लेने के बाद उसके प्रचार के लिए गाँवो में जाना चाहते थे, उनके लिए 'स्वराज्य-आश्रम' नाम की एक अलग सस्था की स्थापना कर दी गयी। इसके बाद तो गुजरात में तथा दूसरे प्रान्तो में भी अनेक स्वराज्य-आश्रमो की स्थापना होती गयी। परन्तु यहाँ यह बता देना जरूरी है कि इन सस्थाओ को स्वराज्य-आश्रम का नाम देने की सूझ आचार्य गिदवानीजी की है।

इस सारी अवधि में किशोरलाल भाई बहुत बडे धार्मिक मनोमथन में से गुजर रहे थे। अपनी प्रवृत्तियो से उनके मन को पूरा समाधान नही हो रहा था। जीवन का ध्येय क्या हो, इस विषय मे वे अत्यधिक मानसिक व्यथा महसूस कर रहे थे। इस सम्बन्ध में एक स्वतत्र प्रकरण आगे दिया जा रहा है। परन्तु राष्ट्रीय शिक्षा और असहयोगी शिक्षा के पारस्परिक भेद के सम्बन्ध में नियामक सभाओ में जो चर्चा चलती, उनके बारे में उनके मन में बहुत भारी असन्तोष रहा करता। इसलिए सन् १९२१ की जनवरी में उन्होंने विद्यापीठ के महामात्र पद से त्यागपत्र दे दिया। इस विषय में स्वय अपनी आलोचना करते हुए उन्होंने 'केलवणीना पाया' नामक पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है.

"उस दिन तो मुझे केवल इतना ही भान था कि मेरे चित्त को शान्ति नही है। इसलिए विद्यापीठ के नवीन प्रयोग में बहुत रुचिपूर्वक कूद पडा। विद्यापीठ एक नवीन सस्था थी। परन्तु नयी सस्था में शामिल हो जाने मात्र से हृदय भी थोडे ही नया बनता है। नयी सस्था में मैं पुराना—विविध प्रकार के रागद्वेषो-वाले आग्रह से भरा हुआ, हृदय लेकर गया और जिस प्रकार गाडी के नीचे-नीचे चलनेवाला कुत्ता समझता है कि मैं ही इस गाडी को खीच रहा हूँ, उसी

प्रकार में भी अपने को एक अपूर्व त्यागी, देशभक्ति से सराबोर विद्यापीठ का स्तम्भरूप मानना और मुझसे सहमत न होनेवाले साथियों को स्वार्थबुद्धि में रँगे हुए समझता रहा। मैं सबसे झगड़ने लगा। ज्यों-ज्यों मेरी अपूर्णताएँ मेरी अयोग्यता को अधिकाधिक तीव्रता के साथ सामने लाने लगी, त्यों-त्यों प्राथमिक शिक्षा और धार्मिक शिक्षाविषयक मेरा आग्रह बढ़ता ही गया। किन्तु जब मेरा आग्रह नहीं चला, तब अपनी अयोग्यता पर नाराज होने के बदले मैंने विद्यापीठ की ओर से विरक्ति धारण कर ली।"

इसके बाद किशोरलाल भाई ने आश्रम की राष्ट्रीय शाला में थोड़ा-बहुत काम किया। परन्तु वे अधिकतर समय धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन और मनन में बिताते। सन् १९२१ में श्री केदारनाथजी से उनका परिचय हुआ। उनके साथ चर्चाएँ करते हुए किशोरलाल भाई के मन में उन पर ऐसी श्रद्धा बैठ गयी कि उनको उन्होंने अपना गुरु मान लिया। उनकी सूचना से किशोरलाल भाई कुछ समय एकान्त में रहे। अन्त में उनके चित्त में समाधान हो गया। इसकी विस्तृत जानकारी अगले प्रकरण में दी गयी है। साधना पूरी होने पर जब वे फिर से प्रवृत्तियों में भाग लेने लगे, तब सन् १९२३ के मार्च में सरदार वल्लभ भाई तथा अन्य मित्रों के आग्रह से उन्होंने फिर विद्यापीठ के महामात्र का पद स्वीकार कर लिया।

इस समय तक देश का राजनैतिक वातावरण पूर्णतः बदल गया था। सन् १९२२ के मार्च में गांधीजी को छह वर्ष की सजा हो चुकी थी। समस्त कार्यकर्ता और नेताओं में यही वृत्ति काम कर रही थी कि गांधीजी जिन

कि "शिक्षा के विषय में जनता के विचार, विद्यापीठ का उद्देश्य तथा शिक्षा का ध्येय—इन तीनो पर जब तक अच्छी तरह विचार नही किया जायगा, तब तक मेहनत करते हुए भी मन को सन्तोष नही होगा।" अन्त में जनवरी १९२४ में नियामक सभा ने निम्नलिखित निश्चय किया।

"गुजरात-विद्यापीठ की देखरेख में राष्ट्रीय शिक्षा की जो शालाएँ चल रही है, उन्हें सुव्यवस्थित करने के लिए, राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में जनता के मानस को ठीक तरह से शिक्षित करने के लिए तथा अच्छे शिक्षको के लिए उचित अनुकूलताएँ निर्माण करने के लिए क्या-क्या करना जरूरी है, इन सब बातो का विचार करने के लिए गुजरात के राष्ट्रीय शिक्षा-मडलो के शिक्षकों का तथा उनकी व्यवस्थापक समितियो के सदस्यो का एक सम्मेलन जल्दी-से-जल्दी किया जाय और इस सम्मेलन के निर्णय नियामक सत्ता के समक्ष सिफारिशों के रूप में पेश किये जायें।"

यह निर्णय करते समय यह कल्पना थी कि गाधीजी तो अभी जेल में है, इसलिए यह सम्मेलन उनकी अनुपस्थिति में ही करना होगा। परन्तु मार्च १९२४ में सरकार ने उन्हें बीमारी के कारण छोड दिया। छूटने के बाद कुछ समय वे आरोग्य प्राप्त करने के लिए जुहू में रहे। इसलिए यह तय रहा कि गाधीजी के वहाँ से आने पर ही सम्मेलन किया जाय। अन्त में अगस्त मास में अहमदाबाद में सम्मेलन हुआ।

सम्मेलन का प्रारम्भ करते हुए किशोरलाल भाई ने कहा—"यह सम्मेलन हम ऐसे वातावरण में कर रहे है जब कि राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में सर्वत्र अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ अनुभव की जा रही है और सबके मन में ऐसी शकाएँ भरी हुई है, जिन्हें प्रकट करके कोई बाहर नही दिखा सकता। ये शकाएँ चाहे राष्ट्रीय शिक्षा के सिद्धान्तो के सम्बन्ध में हो या उन्हें व्यवहार में लाने की योजनाओ के सम्बन्ध मे हो। इस सम्मेलन में हम उन पर तो विचार करेंगे ही, परन्तु मेरी अपनी तो सबसे एक ही प्रार्थना और इच्छा है, वह यह कि यदि आपसे बन पडे, तो आप सब हममें ऐसी शक्ति प्रेरित करें कि जिससे विद्यापीठ की प्रवृत्ति का विस्तार बढे या न बढे, इसमें काम करनेवाले हम सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कम त्याग कर सकें या अधिक, हममें जो भी

थोडे या अधिक गुण-दोष हो, फिर भी हम सब जैसे भी है, एक दूसरे के साथ सखाभाव से रहना सीखें। मेरी आप सबसे यही याचना है कि आप ऐसी शक्ति हममें प्रेरित करें, क्योकि मुझे लगता है कि अन्य सारी सफलताएँ इस शक्ति के पीछे-पीछे स्वत आ जावेंगी।"

गाधीजी ने उत्तर में कहा :

"भाई किशोरलाल ने जिस शक्ति की याचना की है, वह मेरी शक्ति के बाहर की बात है। शिक्षक आपसमें सखाभाव से बर्ताव करने लगें, तो वह तो स्वराज्य ही कहा जायगा। यह देना मेरे हाथ में नही। यह भिक्षा तो ईश्वर से ही माँगी जा सकती है और वह हमें यह चीज दे दे, तब तो सभी कुछ मिल गया समझना चाहिए। यह शिक्षा आपको तो कुछ नही सी ही लगती होगी, परन्तु उसका देना मेरे लिए तो अशक्य ही है। मै तो आपके सामने कुछ सूचनाएँ रखूँगा और कुछ ऐसी तकलीफ की बातें पेश करूँगा, जिनसे आपका तथा मेरा भी उत्साह बढे।"

फिर सूत के धागे से स्वराज्यवाली अपनी बात कहते हुए वे बोले

"क्या मैं पागल हो गया हूँ ? अगर हम सचमुच मानते है कि सूत के धागे से हम स्वराज्य ला सकते है, तो हमें यह करके दिखा देना चाहिए। मेरे पास दो पत्र आये है। उनमें लिखा है—"तू मूर्ख हो गया है। पहले तो चरखे की बातें कुछ मर्यादा के साथ करता था, अब तो वह मर्यादा भी छोड दी।" दुनिया मुझे 'मूर्ख' कहे, 'पागल' कहे, गालियाँ दे, तो भी मैं तो यही बात कहूँगा। मुझे दूसरी बात सूझती ही नही, तब मैं क्या करूँ ? मैं तो महाविद्यालय के स्नातक को भी यदि वह चरखे की परीक्षा में पास न हो, तो फेल कर दूं। उसे प्रमाण-पत्र देने से इनकार कर दूं। लोग कहते है कि यह ज्यादती है। मै पूछता हूँ कि ज्यादती का अर्थ क्या होता है ? अग्रेजी, गुजराती, सस्कृत सीखनी होगी-ऐसे नियम बनाने में ज्यादती नही होती ? इसी प्रकार कहिये कि कताई सीखना अनिवार्य होगा। हाँ, खुद हमारा ही इसमें विश्वास न हो, तो बात दूसरी है। विद्यार्थियों से कहना चाहिए कि वे यदि कातेंगे नही, तो शाला में नही रह सकेंगे। इसमें बुरा क्या है ? . . . जिस चीज को हम जरूरी समझते है, उसे नि सकोच बच्चों से कहना ही चाहिए। जिन बच्चो या माता-पिता को

वह मजूर न हो, वे भले ही न आवें। प्राथमिक शालाएँ, विनयमदिर, महाविद्यालय यदि सचमुच स्वराज्यशालाएँ हैं, तो इनमें यह नियम होना ही चाहिए। दूसरा विचार हमारे लिए अप्रस्तुत है। (शिक्षकों में से) जिनके विचार बदल गये हो, वे त्यागपत्र दे दें।"

इसके बाद सर्वसाधारण की तथा गाँवों की शिक्षा के विषय में बापू ने जो कहा, वह आज भी उतना ही लागू है :

"यदि हम सर्वसाधारण को सुशिक्षित करना चाहते है, तो महाविद्यालय को भले ही महत्त्व दें, परन्तु अन्त में तो उसे गगोत्री ही बना देना होगा। अन्त में उसके विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त करके गाँवो में ही जाकर बैठें। इसी विचार से उन्हें तैयार करें। भले ही उनकी सख्या थोडी हो। चिन्ता की कोई बात नही।

"परन्तु मै तो प्राथमिक शाला पर ही जोर देना चाहता हूँ। विद्यापीठ प्राथमिक शालाओं पर अधिक ध्यान दे। उनके बारे में अपनी जिम्मेदारी अधिक समझे। प्राथमिक शाला किस प्रकार चलानी चाहिए, इसके बारे में विचार करें। मैं अपना विचार बता देता हूँ। सरकारी शालाओं का अनुकरण करते बैठना मूर्खता है। सात लाख गाँवों में भला सरकार पहुँच सकती है ? सात में से तीन लाख में भी तो शालाएँ नहीं हैं। जहाँ इतनी दीन स्थिति है, वहाँ सरकारी ढग की शालाएँ खडी करने में क्या सार है ? हमारी शालाओं के लिए मकान न हों, तो भी हम अपना काम चला लें। हाँ, शिक्षक मात्र चरित्रवान् हो।"

इस परिषद् में प्रस्तावों द्वारा विद्यापीठ की नीति स्पष्ट की गयी। परन्तु निरुत्साह का जो वातावरण फैलाया था, उसमें इससे कोई बहुत फर्क नही पडा। अन्त में सन् १९२५ के अन्तिम दिनो में आचार्य श्री आनदशकर ध्रुव की अध्यक्षता में एक जाँच-समिति नियुक्त की गयी और उसे सारी परिस्थिति का व्यवस्थित परीक्षण करने एवं विद्यापीठ तथा उसकी मातहत संस्थाओं के विधान, पाठ्यक्रम और कार्य की दिशा पर विचार करके अपने सुझाव पेश करने का काम सौंप दिया गया।

दूसरी बार महामात्र बनने के बाद किशोरलाल भाई चित्त की इतनी

स्थिरता तथा शान्ति से काम करते थे कि पहली बार जिनके साथ उनके मतभेद हो गये थे, उनके मन को भी उन्होंने जीत लिया। इसके अलावा विद्यापीठ के दफ्तर का सारा काम इतनी अच्छी तरह से व्यवस्थित कर दिया कि आज भी उनके द्वारा डाली गयी पद्धति पर ही वहाँ सारा काम चल रहा है। फिर भी प्राथमिक शिक्षण के बारे में उनका उत्साह कम नहीं हुआ। गांधीजी ने भी प्राथमिक शिक्षण पर तथा विद्यापीठ को गाँवों में ही अपने काम का अधिक विस्तार करने पर जोर दिया था। विद्यापीठ के नियामक मण्डल का उद्देश्य भी इसे कम महत्त्व देने का नहीं था। परन्तु उसे उन दिनों ऐसा लग रहा था कि उन परिस्थितियों में उसे महाविद्यालय को ही अधिक महत्त्व देना चाहिए। इसलिए अन्त में किशोरलाल भाई ने सन् १९२५ के नवम्बर महीने में विद्यापीठ से त्यागपत्र दे दिया। उस समय उन्होंने नियामक सभा के सदस्यों को संबोधित करते हुए एक पत्र लिखा, जिसमें कुलनायक तथा महामात्र के कार्य के बारे में कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे। कुलनायक के कार्य के विषय में उन्होंने लिखा था

"(१) विद्यापीठ का मार्गदर्शन करने के लिए कुलनायक के पास एक स्पष्ट कार्यक्रम हो, जिसे नियामकों तथा कार्यवाहकों की तत्त्वतः सम्मति मिली हो।

"(२) वह शिक्षा के विषय में अपने सिद्धान्त स्पष्ट रूप से सबके सामने रख दे और नियामक तथा कार्यवाहक इन्हें प्रयोग के लिए ठीक समझें।

"(३) नियामकों तथा कार्यवाहकों को इसके चरित्र, व्यक्तिगत निःस्वार्थता, बुद्धि, विद्वत्ता और प्रामाणिकता के विषय में पूर्ण विश्वास हो और उसकी योजनाओं को सफल बनाने में इनका पूरा-पूरा सहयोग मिलेगा, ऐसा उसे विश्वास हो। इसी प्रकार जिन उच्च आशयों अथवा आदर्शों में वह विद्यापीठ को रँगना चाहे, उन आशयों और आदर्शों में इनकी निष्ठा हो, यदि कुलनायक तथा नियामकों और कार्यवाहकों के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं होगा, तो मुझे लगता है कि कुलनायक चाहे कितना ही बड़ा आदमी हो, वह विद्यापीठ को आगे नहीं बढ़ा सकेगा।"

महामात्र के विषय में उन्होंने लिखा था : "सबसे अधिक महत्त्व की

बात तो यही है कि उसमें इस कार्य को सँभालने की शक्ति होनी चाहिए। श्री गिदवाणी ने एक बार सुझाया था कि महामात्र की पसदगी कुलनायक किया करे। मेरा खयाल है कि विद्यापीठ की आज की स्थिति में यह सूचना अच्छी है। . ....

"ऊपर के दो प्रश्नो को सन्तोषजनक रीति से हल करने से ही विद्यापीठ में नवीन चेतना लायी जा सकती है और विद्यार्थियो तथा जनता में पुन. श्रद्धा जाग्रत की जा सकती है। विद्यापीठ अपने स्नातको को किस प्रकार की शिक्षा देना चाहता है, अपनी तरफ आशाभरी नजर से देखनेवाली जनता में वह किस प्रकार के सस्कार फैलाना चाहता है और इस सबके लिए किस प्रकार के साधनों का वह उपयोग करना चाहता है, इन बातों का ठीक-ठीक निश्चय किये विना काम नही चलेगा।

"इन प्रश्नो पर आप निष्पक्षभाव से गभीरतापूर्वक और स्पष्ट रूप से विचार नही करेंगे, तो मुझे लगता है कि आप भूल करेंगे। यदि मैं अपने मन के ये भाव आपको न बताऊँ, तो मै कर्तव्य-भ्रष्ट होऊँगा। इसीलिए महामात्र पद छोड़ने से पूर्व ऊपर लिखी सूचनाएँ देने की इच्छा को मैं रोक नही सका। इसमें आपको धृष्टता मालूम हो, तो क्षमा करेंगे।"

◆◆◆

साधना

[किशोरलाल भाई की साधना विषयक यह प्रकरण श्री केदारनाथजी ने स्व० श्री नरहरि भाई परीख की प्रार्थना पर लिखा था। इस हिन्दी संस्करण के लिए पू० नाथजी ने अपने इस प्रकरण को फिर से दोहरा दिया तथा काफी नये संशोधन किये हैं। इसके लिए पू० नाथजी के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं।]

मुझे लगता है कि सन् १९१७ ई० में कोचरब (अहमदाबाद) में गांधीजी के आश्रम में स्थापित राष्ट्रीय शाला में किशोरलाल भाई जब वर्ग ले रहे थे, तब मैंने उन्हें पहले-पहल देखा। काकासाहब कालेलकर और स्वामी आनन्द के साथ मेरा सम्बन्ध होने के कारण मैं कभी-कभी आश्रम जाता रहता था। उस समय उनके विषय में केवल इतनी ही जानकारी मिली थी कि वे अकोला में वकालत करते थे। उसे छोड़कर वे चम्पारन गये और वहाँ से पूज्य बापू ने उन्हें यहाँ की शाला में काम करने के लिए भेजा।

सन् १९२० में मैं साबरमती-आश्रम में गया, तब वे काका के पड़ोस में रहते थे। आश्रम के बहुत-से शिक्षक काका के पास आते और अनेक विषयों पर चर्चा करते। इन चर्चाओं में किशोरलाल भाई मुख्य भाग लेते। काका के पड़ोस में ही वे रहते थे। इसलिए उनके भजन और रात का धार्मिक पठन-पाठन आदि मुझे सुनाई देता था। इस पर से मैंने यह समझा कि वे बड़ी धार्मिक वृत्तिवाले पुरुष हैं। फिर से जब मैं आश्रम में गया, तब सुना कि वे ईश्वर प्राप्ति के लिए घर छोड़कर जानेवाले हैं। बापू उन्हें ऐसा न करने के लिए समझा रहे थे। परन्तु उनका निश्चय बदल नहीं रहा था। बहुत पूछ-ताछ न करने का मेरा स्वभाव होने के कारण मैंने अधिक पूछताछ नहीं की। फिर भी काका से इतना तो मालूम हुआ कि उनके गृहत्याग के विचार के

कारण आश्रम के प्रमुख लोगो में तथा खासकर उनके मित्रों में बडी चिन्ता उत्पन्न हो गयी है। एक बार काका ने उनसे कहा कि आप ईश्वर-ज्ञान-प्राप्ति के लिए सर्वस्व छोड़कर जा रहे हैं, तो इस विषय में नाथजी से तो कुछ पूछ देखिये। इस पर किशोरलाल भाई ने कहा कि "क्या नाथजी इस विषय में कुछ जानते हैं?" काका ने कहा - "एक बार पूछकर देखें।" जिससे एक दिन किशोरलाल भाई मेरे पास आये और उन्होंने अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन किया। पहला ही प्रसग था, इसलिए उस दिन उन्होने पूरी तरह से अपना दिल खोलकर बात नही की। फिर भी उनके हृदय की व्याकुलता का मैं समझ गया। उनके धार्मिक वाचन तथा अभ्यास के विषय में मैंने उनसे पूछा। इसके उत्तर में उन्होने बताया कि स्वामीनारायण-सप्रदाय के ग्रन्थो तथा इस विषय का अन्य कुछ वाचन हुआ है।

किशोरलाल भाई जिस विषय के लिए मेरे पास आये थे, उस विषय मे मुझे समाधान हो गया था और मित्रो को मैं उस विषय में कभी-कभी सलाह भी देता था। फिर भी किसी बात में भाग न लेने का स्वभाव होने से मैं यथासभव अलग ही रहता। मैं अपने को इस विषय का कोई बडा ज्ञाता नहीं मानता था। जब कभी मैं आश्रम पर जाता, तब इस विषय की चर्चा मे भाग लेने के बजाय बुनाई, बढईगिरी आदि सीखने मे अपना समय लगाता था। मैं चाहता था कि शरीर-श्रम से स्वावलम्बी बन जाने के बाद अपने विचार समाज के सामने रखूँ। इस विषय में मैं कुछ जानता हूँ अथवा इसका थोडा-बहुत अभ्यास करता हूँ—यह बात आश्रम में काका और स्वामी को छोडकर और कोई नहीं जानता था और न मैं ही चाहता था कि कोई जाने। फिर भी किशोरलाल भाई जैसे श्रेयार्थी मेरे पास आये, इसलिए मैंने उनके साथ बात-चीत की। पहली मुलाकात मे उनके-हमारे बीच इस प्रकार का सवाद हुआ, ऐसी याद है।

किशोरलाल—काका साहब ने आपके बारे मे कुछ जानकारी दी। उसीसे मैं आपके पास आया हूँ। बापू ने एक वर्ष में स्वराज्य लेने का निश्चय किया है। परन्तु मुझे लगता है कि यदि हम अपना पारमार्थिक स्वराज्य इस जन्म में प्राप्त नही कर सके, तो यह जीवन व्यर्थ है। मुझे इस स्वराज्य के लिए

व्याकुलता हो रही है और इसके लिए घर, आश्रम आदि सब कुछ छोड़कर कहीं एकान्त में जाकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहता हूँ।

मैं—कहीं अर्थात् कहाँ ? इस विषय में तो आपने कुछ विचार किया ही होगा ?

किशोरलाल—वैसा कोई निश्चित विचार नहीं किया है। परन्तु मुझे इतना तो विश्वास हो गया है कि घर पर अथवा आश्रम में रहकर मैं वह प्राप्त नहीं कर सकूँगा।

मैं—हमारा साध्य क्या है, उसका साधन क्या है और कहाँ जाना है—इसके विषय में कोई विचार निश्चित करने से पहले आश्रम छोड़कर कहीं बाहर चले जाना क्या उचित होगा ?

किशोरलाल—नहीं, इसीलिए वह जानने के लिए ही मैं आपके पास आया हूँ।

मैं—आप जिस सप्रदाय की पद्धति के अनुसार चल रहे हैं, उसमें भी तो कोई ज्ञानी, अनुभवी पुरुष होगा न ? और सप्रदाय के ग्रन्थों में भी कोई साधन-मार्ग बताया होगा न ?

किशोरलाल—सप्रदाय में ऐसा कोई ज्ञानी और अनुभवी पुरुष हो, तो भी मुझे उसका पता नहीं है और ग्रन्थों में भक्ति के सिवा कोई साधन-मार्ग नहीं बताया है। इसीलिए मुझे लगा कि किसी अनुभवी पुरुष से सलाह लेनी चाहिए।

मैं—इस समय तो मैं आपको इतनी ही सलाह दूँगा कि जीवन का साध्य और उसके साधन को ठीक से समझे बिना और यह विश्वास होने से पहले कि वह गृहत्याग करने से ही प्राप्त होगा, आप घर छोड़कर न जायें। यह मैं आपसे आग्रहपूर्वक कह रहा हूँ। यदि केवल व्याकुलता के कारण मनुष्य घर छोड़े, तो भी सोचेगा कि यह क्या करे, यह समय वह कैसे बिताये, इसका साधन न मिले, तो आगे चलकर साधक मुश्किल में पड़ जाता है। व्याकुलता सच्ची होने पर भी यदि उचित साधन न मिले, तो साधक ऊब जाता है और फिर बिना कुछ प्राप्त किये लौट आना उसके लिए कठिन हो जाता है। इस विषय की व्याकुल अवस्था अत्यन्त नाजुक और गंभीर होती है। उचित

उपाय और साधन-मार्ग न मिले, मन को समाधान न हो, तो आगे चलकर आज से भी अधिक कठिन स्थिति पैदा होना सभव है। इसलिए कही भी जाने से पहले इस विषय में पूरा-पूरा विचार कर लेना चाहिए।

किशोरलाल भाई का हेतु शायद यह रहा हो कि मै उन्हें आध्यात्मिक विषय में कुछ सलाह दूं। परन्तु मेरी ऐसी इच्छा नही थी। इस कारण पहली मुलाकात में मै अपने और दूसरो के अनुभव के आधार पर कुछ सूचनाएँ देने के सिवा अधिक कुछ नही कर सका। इसके बाद मेरी सूचना पर विचार करके साध्य और साधन के विषय में बातचीत करने के लिए वे मेरे पास बारम्बार आने लगे। उनकी व्याकुलता, विद्वत्ता, चित्त की निर्मलता आदि के विषय में मैं ठीक-ठीक समझ सका। उस समय मैं यह भी जान गया कि सहजानन्द स्वामी तथा उनके सम्प्रदाय पर उनकी अनन्य श्रद्धा है। इसके साथ-साथ मैंने यह भी देखा कि साध्य और साधन के विषय में परम्परागत मान्यता और श्रद्धा से अधिक उन्होने कोई विचार नही किया था और मुझे निश्चय हो गया कि आज की व्याकुल अवस्था में कुटुम्ब के लोग, मित्रजन अथवा स्वय बापू भी चाहे जितना ही आग्रह करें तो भी घर छोडकर जाने के अपने निश्चय को वे नही बदलेंगे। क्योकि यह अवस्था ही ऐसी होती है कि अपने मन के विरुद्ध मनुष्य किसीकी भी बात नही सुनता। वह समझता है कि विरुद्ध बात कहनेवाले को उसके (साधक के) मन की स्थिति की कल्पना नहीं होती। बुद्धि से यदि उसके मुद्दो का खण्डन किया जाय, तो उससे उसकी भक्ति, भावना और श्रद्धा को पहुँचनेवाले आघात के कारण वह और भी अधिक आग्रही बनता है। यह सब मैं जानता था। इसलिए उस समय उनके मन की जो स्थिति थी, उसकी ठीक-ठीक कल्पना मैं कर सका था। इसलिए मैंने ऊपर लिखी सूचनाएँ की।

ज्यो-ज्यो मेरे पास वे आते गये, त्यो-त्यो आध्यात्मिक विषय में अपनी दृष्टि मैं उन्हें समझाने लगा। मैंने उन्हें बताया कि चित्त की निर्मलता और दृढता तथा सद्गुणो का विकास करके कर्तव्य कर्म करते-करते अपने उत्साह को कायम रखना और ऐसी स्थिति प्राप्त करना कि जिसमें हमारा मन तमाम विषयो से अलिप्त रहे—यही मानव-जीवन का उद्देश्य है। असल में मानवता

ही सच्ची साध्य वस्तु है। ईश्वर, आत्मा और ब्रह्म के साक्षात्कार के विषय में बहुत-सी कल्पनाएँ और भ्रम परम्परा से चले आये है। उनमें हम न पडें। परन्तु शुद्ध बुद्धि से हमें विचार करना चाहिए कि ये तत्त्व क्या है? तत्त्वज्ञान के विषय में भी अनेक और भिन्न-भिन्न वाद है। इन सबका आधार बहुत कुछ तर्क पर ही है। अवतारवाद के कारण ईश्वर के विषय में हमारे समाज में अनेक कल्पनाएँ रूढ है। इनके कारण ईश्वर का दर्शन करने की इच्छा और उत्कण्ठा साधक को बहुत व्याकुल कर डालती है। परन्तु हमें ऐसी किसी कल्पना के पीछे नही पडना चाहिए। केवल चित्त की स्वाधीनता साधनी चाहिए। ईश्वर निष्ठा को हृदय में दृढ कर लेना चाहिए। मानव-जीवन के लिए आवश्यक सद्गुणों का अनुशीलन और सवर्धन करना चाहिए। अपने प्राप्त कर्त्तव्यो को करते-करते ही ये सारी बातें हम साध सकते है। विवेक, सयम, निग्रह और सतत जाग्रति अर्थात् सावधानी—इन सबके द्वारा हम कर्ममार्ग में ही अलिप्तता प्राप्त कर सके, तो जीवन में दूसरा कुछ भी साध्य करने जैसा नही रह जाता। इसके लिए मनुष्य को अपनी शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक पात्रता बढाते रहना चाहिए और यह सब अपने दैनिक कर्त्तव्यो के करते हुए ही हम बढा सकते है।

इस आशय की कुछ-न-कुछ बातें मैं उनसे रोज करता रहता। परन्तु किशोरलाल भाई अनेक पुरखो के भक्ति-मार्ग के सस्कारो में छोटे से बडे हुए थे और ये सस्कार उनकी रग-रग में भिद गये थे। इसलिए मैं जानता था कि ये बातें एकाएक उनके गले नहीं उतरेंगी। किशोरलाल भाई के मन पर मेरे कहने का कोई विशेष परिणाम हुआ हो, ऐसा मुझे नही दिखाई दिया। परन्तु इससे मुझे कोई आश्चर्य अथवा दुःख नही हुआ। इसीलिए एकान्त में जाने के उनके विचार का मैंने विरोध नहीं किया। उलटे मैं उन्हें कहता रहता कि 'मेरी बात आपको नही जँचेगी। उस पर आपको विश्वास नहीं होगा, क्योंकि जिन पर आपको दृढ श्रद्धा है और जिनके ग्रन्थ पढकर आपके मन की यह स्थिति हुई है, उन्होंने दूसरी ही वस्तु को जीवन की सार्थकता बताया है। उसीमें आपको दिव्यता, अद्भुतता और महत्ता प्रतीत होगी। उनके ग्रन्थो में आपको ऐसी कई बातें मिलेंगी, जहाँ बुद्धि काम नहीं करती। मैं जो कुछ कहता हूँ,

उसमें केवल मानवता पर जोर है, मानवता और सद्गुणों का आग्रह है। इसमें कोई दिव्यता न दिखाई दे, तो यह स्वाभाविक है। मेरी बात मानने का अर्थ यह होगा कि जिन पर आपकी श्रद्धा है, जिन्हें आप अवतारी पुरुष—प्रत्यक्ष भगवान् मानते हैं, वे भी भूले, ऐसा मानना और स्वीकार करना होगा। परन्तु ऐसा विचार मन में आना, उसे सही समझना और उनके विषय में मन में शंका होना महापाप है—ऐसा पाप कि जिसके लिए कोई प्रायश्चित्त ही नहीं—ऐसा आपको लगना स्वाभाविक है। इसलिए इस विषय में मैं आपसे कोई आग्रह नहीं करूँगा। बल्कि यही कहूँगा कि उनके बताये मार्ग पर ही चलें। भक्ति, उपासना अथवा साधना का जो भी मार्ग उन्होंने बताया हो, उसीका आचरण कर आपको स्वयं उस विषय का निश्चित ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। केवल श्रद्धा से मानी हुई चीज को अनुभव अथवा सिद्धान्त न समझ लें। इस बात को न भूलें कि सिद्धान्त प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही कायम किये जाते हैं।"

मैं स्पष्ट देख रहा था कि प्रारम्भ में तो मेरा कहना उनके गले नहीं उतरता था। वे अनेक प्रकार के प्रश्न करते। परन्तु धीरे-धीरे मेरे साथ होने-वाली बातचीत का असर उन पर पड़ने लगा। वे विचार में पड़ते गये। वे श्रद्धावान् थे, पर साथ ही बुद्धिमान् भी थे। कितनी ही बातें उनकी बुद्धि ने मान ली होंगी। इसीलिए मेरे पास आना उन्होंने जारी रखा। इतना ही नहीं, पर जैसे-जैसे मेरे साथ बातचीत करने के प्रसंग बढ़ते गये, वैसे-वैसे केवल श्रद्धा के विषयों को छोड़कर तत्त्वज्ञान के विषय में भी वे सूक्ष्मता से अनेक प्रश्न पूछने लगे। इससे मुझे लगा कि उनके मन में श्रद्धा और बुद्धि अर्थात् केवल श्रद्धा से मानी हुई बातों और बुद्धि द्वारा समझने लायक बातों के विषय में जोरदार मन्थन शुरू हुआ होगा।

अभ्यास द्वारा अनुभव से निश्चित ज्ञान करने के लिए वे एकान्त में जाकर रहें, यह भी मैंने उनसे कहा। इसमें उन्होंने जल्दी ही एकान्त में जाने का निश्चय किया। परन्तु उनकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि कहाँ जायें! साम्प्रदायिक मठ, मन्दिर—सब भरे हुए थे। कहीं भी जाने लायक स्थान उन्हें सूझ नहीं रहा था। तब मैंने उनसे कहा कि "जगह का प्रबन्ध मैं कर देता हूँ।

परन्तु वैराग्य के आवेश में आप इधर-उधर भ्रमण न करें। एक जगह रहकर स्थिरता से साधना करो, वाचन-मनन करो, तत्वज्ञान का अध्ययन करो—यही आपसे मेरा आग्रहपूर्वक कहना है।" इसके बाद कुछ ही दिनों में उन्होंने घर छोड़ने का निश्चय किया और मैं भी सोचने लगा कि कौनसा स्थान उनके लिए सुविधाजनक होगा।

किशोरलाल भाई को घर छोड़ने की अनुमति मैंने दी, यह बात बापू को जब मालूम हुई, तब उन्हें आश्चर्य हुआ। इसके अलावा बापू से बगैर पूछे मैंने स्पष्ट मत दिया, इससे अनेक आश्रमवासियों को विलक्षणता लगी। सबके मन को आघात भी लगा होगा। फिर बापू ने मुझे बुलाया और कहा 'किशोरलाल को एकान्तवास कैसे अनुकूल होगा? दमे के कारण उनकी तबीयत हमेशा खराब रहती है। ऐसी स्थिति में वे किसी भी जगह अकेले कैसे रह सकेंगे? उनके स्वास्थ्य के अनुकूल खाने-पीने की व्यवस्था कैसे हो सकेगी? और कहीं बीच में ही उनकी तबीयत बिगड़ गयी, तो उन्हें कौन सँभालेगा?" ये सब प्रश्न उन्होंने मुझसे पूछे और बोले "आपने उन्हें एकान्त में रहने की सलाह दी, यह मुझे साहस लगता है। आप महाराष्ट्रीय हैं। कष्टसहिष्णुता आपको विरासत में मिली है। गुजराती को यह विरासत मिली हुई नहीं है। तिस पर किशोरलाल को तो जरा भी नहीं मिली है। ऐसी स्थिति में वे अकेले कैसे दिन बितायेंगे?" इसके उत्तर में मैंने कहा "हम सब उन्हें रोकने का चाहे जितना प्रयत्न करें, परन्तु आज उनके मन की स्थिति ऐसी नहीं है कि वे रुक जायें। उल्टे, हमारे विरोध और आग्रह के कारण उनका यह विचार और भी दृढ़ होता जायगा। ऐसी स्थिति में मन की अनिश्चित अवस्था में घर में से निकलकर कहीं वे चले जायें, इसकी अपेक्षा उनके हेतु की दृष्टि से मुझे यही लाभदायक लगा कि वे किसी एक स्थान पर रहें और स्थिरतापूर्वक कुछ अभ्यास करें। इसलिए मैंने उन्हें यह सलाह दी। उनकी बात छोड़ दें तो भी स्वतन्त्र रूप से भी मेरी राय यही है कि मन की ऐसी अवस्था में किसीको भी कुटुम्ब के साथ नहीं, किन्तु अकेले रहना चाहिए और अपनी कल्पना, भावना और श्रद्धा के अनुसार अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य को अपने मन की सही स्थिति को पहचानकर कुछ अनुभव लेना

चाहिए। इससे उसकी उत्कण्ठा और व्याकुलता को खुला रास्ता मिलकर उसका शमन होता है। विशेषत जब मनुष्य को प्रतिकूल परिस्थिति में मन के विरुद्ध रहना पडे, तो उसकी दम घुटने जैसी स्थिति हो जाती है। अनुकूल स्थिति मिलते ही वह स्थिति दूर हो जाती है। उत्कण्ठा और व्याकुलता इन्हीं कारणो से बढती है। एकान्त मिलते ही इनका कुछ अशो में शमन होता है। एकान्त में ही उसे इस बात का ज्ञान होता है कि वास्तव में उसे व्याकुलता किस चीज के लिए है और वह कितनी है। उसे अपनी असली वृत्तिया तथा पात्रता-अपात्रता का ज्ञान भी वही होता है। इस स्थिति में यदि उपयुक्त साधन मिल जाता है, तो उसके मन को समाधान होता है और वह शान्त हो जाता है। इन सब बातो का विचार करके मैंने किशोरलाल भाई को अनुमति दी है। अब सिर्फ यह प्रश्न रह जाता है कि वे कहाँ रहें।"

इस पर बापू ने पूछा "कही दूर न जाकर यही आश्रम से एकाध मील पर कोई झोपडी बनवाकर उसमें रहें, तो काम चल सकता है ?"

मैंने कहा "मुझे तो कोई हर्ज नही है। किशोरलाल भाई को यह बात मजूर होनी चाहिए। वहाँ उन्हें निरुपाधिकता लगनी चाहिए। खाने-पीने की व्यवस्था के बारे में आप और वे मिलकर कोई ऐसी व्यवस्था सोच ले, जिसमें उन्हें कोई उपाधि न लगे। इस विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है।"

फिर बापू ने किशोरलाल भाई से इस विषय में बातचीत की। उन्होंने इस पर स्वीकृति दे दी। तब आश्रम से एक मील पर झोपडी बनवा देने का काम मगनलाल भाई गाधी ने अपने जिम्मे लिया। कुछ ही दिनो में झोपडी तैयार हो गयी और वहाँ जाकर रहने का दिन भी निश्चित हो गया।

वे असहयोग-आन्दोलन के दिन थे। शीघ्र ही अहमदाबाद में काग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। बापू उन दिनो बहुत व्यस्त रहते थे। मुझे लगता था कि किशोरलाल भाई के एकान्त में जाने के विषय में अभी तक सबका ऐसा ख्याल बन गया था कि अब मैं जो कुछ कहूँगा, वही किशोरलाल भाई करेंगे। इसलिए उनके बारे में जो कुछ पूछना हो, मुझे पूछना चाहिए, इस दृष्टि से बापू ने मुझसे पूछा : "किशोरलाल रोज चरखा चलायें, तो इसमें कोई हर्ज है ?" मैंने कहा : "यदि वे चाहें, तो कातें। दूसरे, अथवा वे पहले से यह

तय न कर लें कि कातना ही चाहिए।" इसके बाद बापू ने जो प्रश्न पूछा, उसमें उनका अपार वात्सल्य भरा हुआ था। असहयोग आन्दोलन का वह गड़बड़ी का समय था। राष्ट्र के भविष्य की सारी जिम्मेवारी उन दिनों उन पर थी। राष्ट्र-कार्य की चिन्ता और भार से व्याप्त, किशोरलाल भाई पर उनका कितना प्रेम था, इसकी प्रतीति मुझे हुई। उन्होंने मुझसे पूछा : "दिन में एकाध बार उन्हें देख आने की मुझे इजाजत है ?" उन्होंने जब मुझसे यह माँग की, तो मुझे दुःख हुआ। दोनों में परस्पर जो प्रेम था, उसे मैं ठीक से जानता था। फिर भी किशोरलाल भाई के लक्ष्य को ध्यान में रखकर मुझे उनसे कहना पड़ा : "आप जितना कम मिलने के लिए जायँ, उतना ही अच्छा।" इन शब्दों में कितनी कठोरता थी, सो मैं जानता था। परन्तु बहुत लाचारी के साथ मुझे ये शब्द कहने पड़े। बापू ने मान लिया कि मेरी सम्मति है और रोज एक बार उनकी कुटिया पर जाकर उन्हें देख आने का नियम उन्होंने बना लिया।

आश्रम-त्याग और कुटिया-वास

ऊपर की बातचीत के बाद दूसरे या तीसरे ही दिन शाम को किशोरलाल भाई अपने लिए तैयार की गयी कुटिया में जाकर रहने लगे। मैंने सुना कि उस दिन शाम की प्रार्थना में बापू ने उनके बारे में कुछ कहा था। यह भी ज्ञात हुआ कि उस दिन सबके मन में बड़ा विषाद रहा।

मेरा और किशोरलाल भाई का सम्बन्ध केवल उनके जाने के विषय में सलाह देनेभर का ही था। इसलिए उनके वहाँ जाने के बाद मेरा काम पूरा हो गया, ऐसा मैंने समझ लिया। परन्तु आगे जो अनुभव हुआ, उस पर से मुझे पता लगा कि उस दिन से तो उनके सम्बन्ध की मेरी सच्ची जिम्मेवारी का प्रारम्भ हुआ था; यद्यपि उस समय तो मुझे इसकी कल्पना भी नहीं थी। झोपड़ी में जाने के बाद पत्र लिखकर उन्होंने साधन मार्ग के विषय में मुझसे पूछना शुरू किया। उससे मुझे शंका होने लगी कि जाने से पहले उन्होंने साध्य-साधन का विचार पूरी तरह से कर लिया था या नहीं। कदाचित् उनसे मेरी इस विषय में बातचीत हुई थी। उससे साधन सम्बन्धी उनकी

पहली कल्पना में परिवर्तन हुआ हो, यह भी शका मुझे हुई। साधन के बारे में वे मुझे पूछने लगे, तो मैं उलझन में पड गया। मैंने उन्हें इस विषय में आशा दिला दी होती, तो जाने से पहले ही यह सब उन्होंने मुझसे पूछ लिया होता। परन्तु मेरे जीवन का तरीका कुछ दूसरा ही था। फिर इस विषय में मैंने अपने मन का समाधान अनेक प्रकार के साधनों तथा चिन्तन-मनन आदि से स्वय ही कर लिया था। परन्तु किसी साधक को मुझे साधन-मार्ग दिखाना होगा, इस दृष्टि से मैंने इस विषय में विचार ही नही किया था। इसलिए उन्होंने जब मुझसे पूछा, तब भी मैंने उस ओर ध्यान नही दिया। पर इसके कारण उनका असमाधान बढता देख मैंने उन्हें ध्यान का मार्ग सुझाया और कहा कि इसके अभ्यास द्वारा वे एक निश्चित भूमिका प्राप्त कर लें। फिर इस (अभ्यास) के लिए पोषक वाचन भी रखें और मुलाकातें, वाद-विवाद, चर्चा आदि सब बन्द कर रात-दिन केवल इसी अनुसन्धान में रहने का प्रयत्न करें इत्यादि सूचनाएँ मैंने उन्हें दी। झोपडी पर मैं बहुत कम जाता था। केवल बापू जाते थे। उन्हें कितना ही काम हो, फिर भी कुछ-न-कुछ समय निकालकर वे दिन में एक बार तो उनसे अवश्य मिल आते। कभी-कभी उन्हें दोपहर को वहाँ जाने का समय मिलता, तो कभी रात को ही वे जा पाते। परन्तु उन्हें बगैर देखे और उनकी तबीयत के समाचार बिना पूछे उन्हें चैन नही पडती थी। उनके खाने के लिए भोजन घर से जाता था।

किशोरलाल भाई झोपडी में रहने के लिए गये, यह बहुत से लोगों के लिए एक बडे कुतूहल का विषय बन गया था। उनके अभ्यास की दृष्टि से मुझे आवश्यक लगता था कि कोई वहाँ जाकर उनसे न मिले। फिर भी अत्यन्त निकट के लोग यदि भेंट की माँग करते, तो उन्हें 'ना' कहना कठिन हो जाता। इस कारण किसी न किसीसे उनके मिलने के प्रसग आते ही रहते थे। कोई साधु, कोई सज्जन उन्हें मिल आते। पोल रिशार नाम के एक फ्रेंच सज्जन उन्ही दिनों में उनसे मिल आये। परन्तु हाँ, किसीने भी बार-बार वहाँ जाकर उनके अभ्यास में विक्षेप नही किया। बापू तथा मगनलाल भाई ने उन्हें वहाँ किसी प्रकार की असुविधा न होने दी। एक बार उनकी तबीयत खराब हो गयी। तब गोमती बहन और नरहरि भाई रात को उनकी झोपडी प-

थे। नरहरि भाई कुछ देर वहाँ ठहरकर लौट आये थे। परन्तु गोमती बहन रात में वही रही। फिर भी उनका अभ्यास निर्विघ्न जारी रहा। उसमें वे प्रगति भी करने लगे थे, यद्यपि प्राकृतिक और मानसिक विक्षेप बीच-बीच में आते रहे। साधक के लिए तो उसका अपना मन ही कभी सहायक और कभी बाधक बन जाता है। इस नियम के अनुसार उनका मन भी कभी साधक और कभी बाधक बन जाया करता। मैं अपने तथा दूसरो के अनुभव से जानता था कि जहाँ मनुष्य को अपना रास्ता खुद ही खोजना होता है, वहाँ ऐसे प्रसग आते ही रहते हैं। इसे सहकर ही साधक को आगे बढना पडता है। इस प्रकार के मेरे विचार थे। इस कारण और इस कारण भी कि मैं यह नही जानता था कि किशोरलाल भाई के अभ्यास की जिम्मेवारी मुझ पर ही है, उनके बारे में मैं निश्चिन्त रहता था। इन्ही दिनो किसी मित्र की बीमारी के कारण मुझे दूसरे गाँव जाना पडा। वहाँ जाने पर किशोरलाल भाई के पत्रो से मुझे पता चला कि उनके लिए मेरा आश्रम में रहना कितना जरूरी था। उनका अभ्यास जारी था। परन्तु उनकी व्याकुलता घटी नही थी। इस समय किसी अनुभवी मनुष्य के सहवास की, *अभ्यास में सलाह-सूचना की और व्याकुलता को कम करने के लिए कुछ* आश्वासन की बडी आवश्यकता थी। अभ्यास के बीच जो जो तात्त्विक प्रश्न उनके मन में उठते, उनके समाधानकारक उत्तर उन्हें तत्काल मिलने चाहिए थे। ये उत्तर समय पर न मिलने के कारण कई बार वे बहुत व्याकुल हो जाते।* कितने ही प्रश्न अपने-आप हल हो जाते, तब वे प्रसन्नता भी महसूस करते। उनके प्रश्नो के उत्तर और उनसे सम्बद्ध सलाह-सूचनाएँ मैं पत्रो के द्वारा उनके

---

* भाई नीलकण्ठ की मुझे लिखी एक बात यहाँ देने लायक है -

अहमदाबाद-काग्रेस के समय पू० गोमती काकी से मिलने के लिए मैं साबरमती-आश्रम गया था। मुझे काकाजी की झापडी दूर से दिखाई गयी। उसे देखकर जब बम्बई लौटा, तब मैंने 'किशोर आश्रम को देखकर' इस शीर्षक का एक छोटा-सा गद्यलेख लिखा था। वह जब बाद में मैंने उन्हें दिखाया, तब उन्होंने कहा कि "तुम तो काव्य में मस्त थे और मैं अपनी व्यग्रता के कारण इतना परेशान था कि अब यह पढकर मुझे अपने ऊपर हँसी आती है।"

पास भेज दिया करता। परन्तु मेरे पत्र उन्हें मिलते, तब तक उनकी पहली उलझनें दूर हो जाती और दूसरी नयी समस्याएँ उनके सामने आ खड़ी होती।

मेरी बड़ी इच्छा थी कि किशोरलाल भाई के लिए मैं आश्रम में जल्दी पहुँच जाऊँ। परन्तु अनेक कारणों से वहाँ मेरा लौटना जल्दी नहीं हो सका। आगे ही आगे बढ़ता गया। इन दिनों किशोरलाल भाई को बहुत-सी अड़चनें सहनी पड़ीं और तकलीफ उठानी पड़ी। उन्होंने मुझे बहुत-सी चिट्ठियाँ लिखीं। मुझे भी बाहर इतनी स्वस्थता नहीं थी कि उनके पत्रों का उत्तर दे सकूँ। जिस उद्देश्य से वे एकान्तवास कर रहे थे, उसके सम्बन्ध में शान्तिपूर्वक विचार करने के लिए मुझे अवकाश ही नहीं मिल पाता था। उन्हें मेरे पत्रों की राह देखनी पड़ती। अपने प्रश्नों के उत्तर न मिलने के कारण और इस बीच अन्य नये प्रश्न उत्पन्न हो जाने के कारण उनके मन में बड़ी उलझन हो जाया करती। उसे दूर करना उनके तथा मेरे लिए भी बहुत कठिन हो जाता था। कभी-कभी तो वह सर्वथा अशक्य हो जाता था। ऐसी स्थिति में भी उन्होंने अपना अभ्यास जारी रखा। अभ्यास में प्रगति हो रही थी। फिर भी उनके मन को विशेष शान्ति नहीं मालूम हो रही थी। ध्यान का अभ्यास जारी था। उस समय तत्त्वज्ञान के अनेक प्रश्न उनके मन में उत्पन्न होते थे। उनका हल न मिलने से उनका मन अस्वस्थ हो जाता। मेरा खयाल है, चार-पाँच महीने के बाद मैं आश्रम वापस लौट सका। मैं तब उनकी यथार्थ स्थिति जान सका। उस समय उन्हें ऐसा लगने लगता था कि अब इस कुटिया को भी छोड़कर कहीं दूर ऐसी जगह एकान्त में चले जाना चाहिए, जहाँ कोई जान-पहचानवाला आदमी भी मिलने न आ सके और किसीको पता भी न लगे कि वे कहाँ हैं। वहाँ की साधना इस प्रकार जारी रखी जाय। जब तक मन को पूरी शान्ति न हो, तब तक वापस नहीं लौटना चाहिए। इस प्रकार कभी कुटिया छोड़कर चले जाने की सोचते, तो कभी वहीं रहकर स्थिरतापूर्वक अपनी साधना को जारी रखने का विचार करते।*

* इसी अर्से में बापू गिरफ्तार कर लिये गये। तब किशोरलाल भाई ने उनको जो पत्र दिया और बापूजी ने उसका जो उत्तर भेजा, वह इस प्रकार है

ऐसी अनिश्चित स्थिति में कुछ दिन बीते और अन्त में उन्होंने अकेले ही कही चले जाने का निश्चय किया।

मैं बडी चिन्ता में पड गया। जो जिम्मेवारी मैंने अपने ऊपर नही ली थी, वही आहिस्ता-आहिस्ता सिर पर आ गयी। मन की इस अवस्था में वे कही चले जायँ, यह बात मुझे अत्यन्त चिन्ताजनक लगी। मुझे यह भी लगा कि उनका मन अब साधारण उपाय से शान्त नही होगा। साधक की व्याकुलता के अनेक

गुरुवार
१६-३-'२२

परम पूज्य बापू की सेवा में,

वि० वि० आपसे भेट हो सकती है, यह ज्ञात हुआ। परन्तु इस प्रसग पर नही आऊँगा। इतनी उदासीनता मेरे मन मे सचमुच उत्पन्न हो गयी है, ऐसा खयाल किसीके मन में उत्पन्न करूँ, तो भगवान् का अपराधी हो जाऊँगा और यह अपने-आपको भी धोखा देना होगा। परन्तु मिलने के लिए आने की हिम्मत ही नही है। अभी-अभी कही मेरी वृत्तियाँ स्थिर होने लगी है। परन्तु जरा-से विक्षेप से फिर बिगड जाती है। वर्तमान की घटनाओ से मै सर्वथा अनभिज्ञ हूँ। वहाँ आने पर इनकी जानकारी हुए बिना नही रहेगी। उसमें से मै कुछ ग्रहण कर सकता, तो दूसरी बात थी। परन्तु मेरी वर्तमान स्थिति में इनसे अनभिज्ञ रहने में ही मेरी खैरियत है। प्रभु की महान् विभूति के रूप में आपके चरण छू सका होता, तो बहुत अच्छा होता। आपको कितनी सजा हुई है, इसका भी मुझे पता नही है। इसलिए हम कब मिल सकेंगे, भगवान् ही जानते है। सम्भव है कि आप लौटें, तब मै आश्रम से दूर कही चला गया होऊँ। इसलिए यह वियोग कितना लम्बा है, यह अनिश्चित है, फिर भी दिल को थामकर इस प्रत्यक्ष अविनय को सहकर भी यहाँ बैठा हूँ। आपको यह पसन्द ही होगा, इसलिए आपसे क्षमा-याचना क्या करूँ? केवल यही प्रार्थना करता हूँ कि इतनी दूर से मेरे प्रणामो को स्वीकार करें और अपने आशीर्वाद दें। आप तो कर्मयोग करके निश्चिन्त हो गये है। यही निश्चिन्तता मुझे भी प्राप्त हो, ऐसे आशीर्वाद कृपया दें।

प्रकार मैंने देखे थे। कितनों ही का तो स्वयं मुझे भी अनुभव था। इसलिए मैं जानता था कि ऐसी स्थिति में उचित उपाय अथवा ज्ञान का साधन न मिलने से साधक की कैसी उल्टी स्थिति हो जाती है। इसलिए मैंने उनसे कहा कि "आप जहाँ जायेंगे, वहाँ मैं आपके साथ रहूँगा।" परन्तु वे नही चाहते थे कि मैं उनके साथ जाऊँ। वे सर्वथा मुक्त रहना चाहते थे। परन्तु मैं जानता था कि जब मन में शान्ति नहीं होगी, तब इस तरह मुक्त होकर रहने और घूमने में कल्याण नहीं होगा। इसलिए मैंने उनसे कहा कि "आप साथ में न लेना चाहें, तो न

मेरे कर्तव्य कर्म के विषय में जो भी आज्ञारूप सन्देश हो, सूचित करवाने की कृपा करेंगे।

आज्ञांकित बालक

किशोरलाल के सविनय दण्डवत् प्रणाम

साबरमती जेल

१७-३-'२२

भाई श्री ५ किशोरलाल,

आपकी याद मैं हमेशा करता रहा हूँ। आपसे मिल सका होता, तो अच्छा होता। परन्तु अब आपकी चिट्ठी ही काफी है। मुझसे मिलने के लिए आने के अपने विचार को आपने छोड दिया, यही उचित है। आने में कोई विशेष लाभ नहीं था। उल्टे यह तो प्रत्यक्ष ही है कि आपके अभ्यास में खलल पडता।

आपका प्रयत्न शुद्ध है, इसलिए सफल तो होगे ही। एक भी शुभ प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं होगा।

मुझे अभी सजा नहीं हुई है। वह तो शायद कल ही मालूम होगा। अभी तो कच्ची जेल में हूँ। मुझे पूर्ण शान्ति है। साथ में शकरलाल बैंकर भी हैं।

मेरे आशीर्वाद तो आपके साथ है ही। वहाँ से हटने की जल्दी न करें। किन्तु जब अन्तरात्मा कहे कि जाना ही चाहिए, तब अवश्य जायें।

बापू के आशीर्वाद

सही। आप जहाँ-जहाँ जायेंगे, वहाँ-वहाँ मैं स्वतन्त्र रूप से आऊँगा। इस पर आप प्रतिबन्ध कैसे लगा सकते हैं? जब आप मानते हैं कि आप जहाँ चाहें, वहाँ जाने के लिए स्वतन्त्र हैं। तब आप मुझे क्यों रोकते हैं?" मेरे इस जवाब से वे निरुत्तर हो गये और लाचार होकर अपने साथ मुझे लेना स्वीकार कर लिया। हमने पैदल ही आबू जाने का निश्चय किया।

आबू में

श्री किशोरलाल भाई और मैं रात को झोपडी से आश्रम पर आये। रात म वहीं रहे। दूसरे दिन सुबह हम आबू के लिए रवाना हो गये। अपना सामान हमने खुद ही उठा लिया। इस समय बापू आश्रम में नहीं, जेल में थे। किशोरलाल भाई जब आश्रम से झोपडी पर गये, तब की अपेक्षा उनकी आज की मानसिक स्थिति बहुत गंभीर, अत्यन्त नाजुक और बड़ी उलझनभरी थी।

वैशाख सुदी ५, १९७८
ता० २५-'२२

सौ० गोमती,

पैदल प्रवास पर जाने का विचार कर रहा हूँ। साथ में एक लोटा, दो गमछे तथा एक तौलिये के सिवा और कुछ भी रखने की इच्छा नहीं है। एक अँगोछा, जूते और एक लकडी भेज देना। कहाँ जाना है, अभी निश्चित नहीं।

तुम दुःख मत मानना। प्रभु की कृपा से शान्ति मिलते ही जल्दी लौट आऊँगा। तब तक गुरुजी की सेवा करना। जब तक बुद्धि जाग्रत रहेगी, तब तक आत्महत्या आदि द्वारा शरीर का नाश नहीं करूँगा। यदि उदर-निर्वाह के लिए कहीं नौकरी कर ली, तो तुम्हें बुलवा लूँगा। तब तक धीरज रखना। मेरा मोह नहीं करना। मुझे भुलाने का प्रयत्न करना। बुलाने के लिए जो लिखा है, सो मेरे मोह के कारण ही। इस मोह में से तुम छूटने का यत्न करना। परमात्मा की भक्ति से वह चीज प्राप्त कर लेना, जिसे मैं प्राप्त नहीं कर सका।

तुम्हारा अनधिकारी पति
किशोरलाल

रवाना होते समय उनके मन में बडा विषाद था। स्वय मेरे मन में भी बडी चिन्ता थी। रास्ते में चलते हुए हमारे बीच कोई बातचीत नही होती थी। ऐन गरमी के—वैशाख के—दिन थे। दोपहर में और रात में हम कहाँ रहे, कुछ याद नही। परन्तु दूसरे दिन पैदल चलने का विचार छोडकर हमने रेलगाडी का सहारा लिया। आबू पहुँचने पर दिगम्बर जैन-मदिर की धर्मशाला में ठहरे। अब हमारी बातचीत शुरु हुई। उनके मन में जो प्रश्न उल्झनें खडी कर रहे थे उन्हें हल करने का प्रयत्न मैंने शुरू किया। अब मैं समझ गया था कि उनके मन का समाधान कर देने की जिम्मेवारी मेरे ही सिर पर है। इसलिए अत्यन्त सावधानी के साथ विवेकपूर्वक और गहरे प्रेम के साथ मैंने उनके प्रश्नो को सुलझाना शुरु किया। साबरमती से जिस समय उनके साथ रवाना हुआ, उस समय अन्य कई चिन्तायुक्त जिम्मेवारियो को छोडकर केवल उनकी कुशल और शान्ति के विचार को ही मैंने मुख्यतया अपने सामने रखा था। इसलिए पूरे निश्चय से उनके प्रश्नो को सुलझाने में लगा। ~~साधक के सामने~~ ईश्वर-साक्षात्कार आत्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, जीव, शिव, इहलोक, परलोक, जन्म, पुनर्जन्म, परमधाम, अक्षरधाम मोक्ष आदि अनेक प्रश्नो से साधक बेचैन हो जाता है। ग्रन्थप्रामाण्य और महापुरुषो के परस्पर-विरोधी वचनो पर श्रद्धा के कारण ही साधक उलझन में पड जाता है। कल्पना, भावना और श्रद्धा के बीच क्या भेद है वह नही जानता। अनुमान, तर्क और अनुभव के बीच क्या अन्तर है, वह समझ नही पाता और सबसे बडी बात तो यह है कि ग्रन्थो में श्रद्धेय के रूप में जो कुछ पाया जाता है, जब तक उसका साक्षात्कार या ज्ञान नही होता, तब तक पुनर्जन्म से छुटकारा नही मिलता, मोक्ष नही प्राप्त होता, ऐसा उसे भय होता है। इसके कारण उसके मन की परेशानी बढती जाती है और मोक्ष के विषय में वह निराश होकर उसकी व्याकुलता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। यह सब मैं अपने अनुभव से जानता था, इस कारण किशोरलाल भाई की आज की स्थिति और व्याकुलता को मैं समझता

महापुरुषों के जिन-जिन वचनों का आधार लेकर उन्होंने अपने मन को व्याकुल कर डाला था, उनका मानव-जीवन की दृष्टि से कितना मूल्य है, यह मैं स्पष्टता के साथ उन्हें समझाने लगा। मैं यह भी जानता था कि मेरे इस तरह से समझाने से उनके मन को तथा आज तक की पोषित उनकी श्रद्धा को कितना आघात पहुँच रहा है। परन्तु इसके सिवा दूसरा कोई चारा ही नहीं है, यह समझकर ही मैंने अपना प्रयत्न जारी रखा था। उनके प्रश्नों और शंकाओं से मैंने यह भी देखा कि उनके मन में तीव्र मन्थन शुरू हो गया है। मेरे मन में उनके प्रति अतिशय प्रेम, सहानुभूति और श्रद्धा थी, फिर भी अत्यन्त कठोरता के साथ मुझे उनके भ्रमों का खण्डन करना पड़ा। इस कारण कभी उनका विषाद बढ़ जाता, तो कभी शान्ति की आशा पैदा हो जाती। ऐसा लगता था, मानो उनकी नाव बीच नदी में गोते खा रही है। मुझे स्पष्ट दीखता था कि मेरी खण्डनात्मक दलीलों से वे घोर सन्देह में पड़ गये हैं। जीवन में अब किसीका आधार नहीं रहा। अब किस पर श्रद्धा रखकर, किसके आधार से और किसके वचनों को प्रमाण मानकर जीवन-नौका चलानी चाहिए और उसे किस किनारे लगायें, साध्य प्राप्ति के लिए किसका आधार लें, इस दुविधा में वे पड़ गये थे। तथापि मैं अपने ढंग से उनसे रोज बातचीत करता रहता था, जिससे वे दिन प्रतिदिन अधिकाधिक गम्भीर होते जा रहे थे। आबू के लिए हम दोनों जब रवाना हुए, तभी मैंने यह निश्चय कर लिया था कि इस बार मैं वह भूल नहीं होने दूंगा, जो पहली बार आश्रम में मेरे साथ बातचीत करने के लिए आये थे, तब मैंने की थी। उस समय मैं उनसे इस प्रकार बातचीत करता कि जिससे उनकी किसी कल्पना, मान्यता अथवा श्रद्धा को विशेष आघात न पहुँचे। मैंने समझा था कि साध्य-साधन के विषय में वे ठीक-ठीक विचार कर ठीक तरह से अभ्यास भी कर लेंगे। मैंने यह भी सोचा कि जब मुझ पर उनकी सीधी जिम्मेवारी नहीं है, तब मैं क्या नाहक उनके मन में बुद्धिभेद पैदा करूँ। इस दृष्टि से उनकी ओर अधिक ध्यान न देकर उन्हें मैंने एकान्त में जाने दिया। उसका जो परिणाम हुआ, उसे देखकर मैंने निश्चय कर लिया कि अब की बार वह भूल नहीं होने देनी है, बल्कि उसकी क्षति-पूर्ति भी कर देनी है।

इस तरह बातचीत करते-करते तीन-चार दिन बीत गये। एक दिन शाम के कोई चार-पाँच बजे के समय हम दोनों एक टेकरी पर बैठे थे। किसी तात्त्विक विषय पर वार्ता चल रही थी। बोलते-बोलते 'विश्व और हमारे बीच की एकता और भिन्नता' पर बोलने का प्रसग आया। उस समय मैं क्या कह गया, यह तो मुझे इस समय ठीक से याद नही है। 'विवेक और साधना' नामक पुस्तक में 'व्यक्त-अव्यक्त विचार' वाले प्रकरण में मैंने जो विचार प्रकट किये हैं, शायद कुछ वैसी ही बातें मैंने उस समय कही होगी, ऐसा लगता है। उस समय के भाव, तीव्रता और तन्मयता की मुझे अच्छी तरह याद है। उस समय हम दोना ही थे और हमारे सामने खडे वृक्ष, पत्थर, टेकरियाँ, पर्वत—इन सबका दर्शन मुझे किस रूप में हो रहा था, यह मुझे अच्छी तरह याद है। मै अत्यन्त भावमग्न होकर बोल रहा था। मेरा वाक्प्रवाह चल रहा था, तब उन्होंने अत्यन्त कृतज्ञता और नम्रतापूर्ण भाव से मुझे कहा कि उनकी व्याकुलता का पूर्णत शमन हो गया है। उस समय उनका अन्त करण सद्भावना से पूरी तरह भर गया था। उसके वेग को वे सँभाल नही पा रहे थे। यह मै देख रहा था। उस समय हमारी ऐसी स्थिति हो गयी थी कि क्यो, क्या, और किस तरह यह हुआ, इसका विचार कर सकें, इस मन स्थिति में हम दोनों ही नही थे। उनके एक ही वाक्य से मेरी तन्मयता टूट गयी। मेरा बोलना बद हो गया। दोनो में से किसीको भी बोलने की इच्छा न रही। दोना को लगा कि बोलने के लिए कुछ रहा ही नही। इस नि शब्द अवस्था मे हमारा बहुत-सा समय बीता। सध्या बीतकर कभी का अँधेरा हो गया था। ऐसी ही अवस्था में हम दोना उठे और चलने लगे और धर्मशाला में पहुँचे। उस रात हमने कुछ खाया या नही, मुझे याद नही। परन्तु नीद के समय तक हम दोना शामवाली स्थिति में ही थे।

किशोरलाल भाई को तो नीद जल्दी आ गयी। महीनों बाद निश्चिन्त अवस्था में आयी हुई यह उनकी पहली ही नीद होगी, ऐसा मुझे लगा। मुझे भी लगा कि बहुत दिन की उनके सम्बन्ध की चिन्ता और जिम्मेवारी मे मै भी मुक्त हुआ, फिर भी मुझे इस बात का खास स्मरण है कि उस रात मुझे नीद नही आयी। परन्तु नीद न आने पर भी मुझे कोई कष्ट नही हुआ

अध्यात्म एक ऐसा विषय है, जो केवल शब्दों से नहीं समझाया जा सकता। प्रत्यक्ष भाव, ज्ञान, अनुभव, प्रसग, दोनों की अतर्बाह्य स्थिति, इन सबका उसमें अत्यन्त गहरा सम्बन्ध होता है। परमात्मा की कृपा, हम दोनो का कुछ भाग्य, इससे मेरे प्रयत्न को यश मिला और किशोरलाल भाई की व्याकुलता का शमन हुआ। उन्होंने अभ्यास में जो समय बिताया, वह भी सार्थक हुआ। तात्पर्य यह कि उनकी पहले की दृष्टि बदल गयी और अँधेरे में से प्रकाश में आनेवाले आदमी को जैसा लगता है, वैसा उन्हें लगा। उनके चित्त का समाधान हो गया*। यद्यपि इसमें दिव्यता अथवा अद्भुतता जैसी कोई वस्तु नही है।

दिगम्बर जैन-धर्मशाला
देलवाडा, आबू
वैशाख वदी २, १९७८

* अ० सौ० गोमती,

चि० श्री सद्‌गुरु की पूर्ण कृपा से, गुरुजनो के पुण्य से, सत्पुरुषों के आशीर्वाद से और तुम्हारी मदद से मुझे कल शाम को गुरुदेव ने ज्ञान देकर कृतार्थ कर दिया है। मेरी शकाओं का समाधान कर दिया है और शान्त कर दिया है। अब जानने योग्य कुछ भी नही रहा है। तुमने मेरी जो मदद की है, उसके लिए किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करूँ। इसका बदला क्या करने से दिया जा सकता है? अब कुछ ही दिनों में नीचे जाऊँगा। श्री गुरुदेव की और गुरुजनो की जैसी आज्ञा होगी, उसके अनुसार आगे का जीवन बिताऊँगा। यह जानकर तुम्हें सन्तोष होगा।

तुम्हें यहाँ बुलाने का सोचा था। परन्तु नीचे स्टेशन पर गाड़ी आदि का प्रबन्ध करना कष्टदायक है। वह तुम अकेली से नही बनेगा। यह सोचकर वह विचार छोड दिया और यही निश्चय किया कि हम ही थोड़े दिनों में वहाँ पहुँच जायें।

बस, श्रीनाथ के आशीर्वाद।

तुम्हारे ऋणी
किशोरलाल के आशीर्वाद

पुनः आश्रम में

उन्हें लगा कि अब आबू पर रहने की कोई जरूरत नही। दूसरे या तीसरे दिन हम रेल से रवाना होकर साबरमती आ गये। आश्रम में जब पहुँचे, तब रात अधिक हो गयी थी। पहले से आने की सूचना हमने नही भेजी थी। इसलिए सबको आनन्दमिश्रित आश्चर्य हुआ। किशोरलाल भाई के आने की खबर आश्रम में बिजली की तरह फैल गयी। सबेरे की प्रार्थना में उन्हें लोग ले गये थे और उन्हें कुछ बोलना भी पडा था। आश्रम से जाने के करीब छह-सात महीने के बाद वे लौटे थे। (उन्हें समाधान प्राप्त होने की वि० १९७८ के वैशाख की प्रतिपदा अर्थात् ता० १२ ५-१९२२ थी।)

लौटने के बाद सबकी इच्छा थी कि वे विद्यापीठ के महामात्र का काम सँभाल लें। उस समय बापू जेल में थे। मैंने यह भी सुना कि सरदार वल्लभ-भाई उन्हें महामात्र का काम सँभालने के लिए आग्रह कर रहे हैं। परन्तु मेरी सलाह यह थी कि अभी वे पाँच-छह महीने और अभ्यास में लगे रहें और अपनी भूमिका को स्थिर कर लें। उसके बाद काम में लगें। इस सूचना के अनुसार उन्होंने एक दो महीने आश्रम में ही एकान्त में बिताये। उसके बाद खुद उन्हीको लगा कि अब उनकी भूमिका स्थिर हो गयी है और अब काम शुरू करने में देर नही करनी चाहिए और वे काम में लग गये। किशोरलाल भाई को एकान्तवास में अकारण बहुत-सा कष्ट उठाना पडा। समाज में भक्ति तथा ज्ञान आदि के विषय में रूढ कल्पनाओ और मान्यताओ के कारण प्रामाणिक साधक को अपनी पूर्व श्रद्धा और विवेक के बीच काफी सघर्ष सहना पडता है। तदनुसार उन्हें भी सहना पडा। उसी समय यदि मेरे ध्यान में यह बात आ जाती और मै उसी समय वह अपना काम समझकर उसकी जिम्मेवारी सन्तोषपूर्वक लेता और निष्ठापूर्वक उनकी ओर ध्यान य देता। आबू जाने के बाद उनके प्रश्नो की ओर मैंने जितना ध्यान दिया, वह जिम्मेवारी यदि पहले से ही स्वीकार कर लेता, तो शरीर की व्याधिग्रस्त अवस्था में जाडे की सर्दी में और ग्रीष्म की असह्य गरमी में, कुटी-जैसी असुविधाभरी जगह में

वारी न लेना, यह उनके कष्ट का दूसरा कारण था। इतनी प्रतिकूल परिस्थिति में भी वे अपनी साधना में दृढ़ रहे, इससे प्रकट होता है कि उनके भीतर सत्य की जिज्ञासा, सहनशीलता, दृढ़ निश्चय, स्वीकृत ध्येय के लिए सर्वस्व तक अर्पण कर देने की तैयारी आदि सद्गुण दिखाई देते हैं।

साक्षात्कार सम्बन्धी भ्रम-निवारण

इसमें कोई शक नहीं कि किशोरलाल भाई आबू से कुछ ज्ञान लेकर आये। परन्तु उनके बारे में लोगों में अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न धारणाएँ फैली हुई हैं। उसमें जो गलतफहमी है, उसे यहाँ दूर करने का प्रयत्न करना मुझे उचित मालूम देता है। कई लोग समझते हैं कि वहाँ उन्हें ईश्वर के दर्शन हुए। ईश्वर का साक्षात्कार हुआ। कोई आत्म-साक्षात्कार, तो कोई ब्रह्म-साक्षात्कार हुआ, ऐसा मानते हैं। कई लोगों का खयाल है कि वहाँ उन्हें समाधि लग गयी थी और उसमें उन्हें पूर्ण ज्ञान हो गया। ऐसा कोई दर्शन, साक्षात्कार या ज्ञान हो गया है, ऐसा किशोरलाल भाई ने कहीं लिखा हो, ऐसा मैं तो नहीं जानता। उनके बारे में ऐसी मान्यताएँ होने का कारण यही है कि हमारे समाज में जो व्यक्ति ईश्वर का भक्त या साधक माना जाता है, उसमें ये बातें होती हैं, ऐसी कल्पना रूढ़ है। हिमालय, आबू, गंगा या नर्मदा के तट पर, किसी तीर्थ में, किसी पर्वत, वन या एकान्त में किसी भी प्रकार की साधना का सम्बन्ध ईश्वर-साक्षात्कार के साथ मान लिया जाता है। स्त्री-पुत्रों से युक्त परिवार में, रोगी और यातनाग्रस्त की सेवा में, संसार की विडंबनाओं में अथवा व्यवहार की कठिनाइयों में मनुष्य चाहे कितनी ही पवित्रता, संयम, सत्य और ईश्वरनिष्ठा के साथ रहता हो, तो भी उसे लोग नहीं कहेंगे कि इसे साक्षात्कार हुआ है। किशोरलाल भाई के विषय में भी यह जो माना जाता है, इसका कारण हमारी प्रचलित मान्यताएँ ही हैं। परन्तु सत्य की दृष्टि से यह सही नहीं है।

ज्ञान की पूर्णता कभी बिजली की चमक के समान एक क्षण में होनेवाली वस्तु नहीं है। जीवनभर ज्ञान का संग्रह करते-करते आदमी ज्ञान-समृद्ध होता रहता है। जैसे-जैसे मनुष्य की उम्र बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे—यदि

उनके मस्तिष्क में कोई खास विकृति नहीं हुई तो—उसका ज्ञान जब तक वह जीवित रहता है, कुछ-न-कुछ बढ़ता ही रहता है। इस नियम के अनुसार देखें, तो किसी निश्चित क्षण अथवा किसी दिन उसका ज्ञान एकाएक पूर्णता को पहुँच गया, इस मान्यता में सत्य का आधार नहीं है। क्योंकि ज्ञानोन्मुख होने के कारण वह तो अपने ज्ञान में प्रत्येक क्षण प्रयत्नपूर्वक लगातार वृद्धि करता ही रहता है। फिर ज्ञान हमेशा वर्धिष्णु रहता है। इसलिए किसी भी क्षण को संपूर्ण ज्ञान प्राप्ति का क्षण मान लेना भूल है। यह मान लेने का अर्थ इतना ही हो सकता है कि उसके बाद प्राप्त ज्ञान का कोई विशेष महत्त्व नहीं। ज्ञान का उपासक और ज्ञानोन्मुख मनुष्य प्राप्त ज्ञान को कभी पूर्ण नहीं समझ सकता।

यह होते हुए भी कभी-कभी अत्यल्प समय में मनुष्य को कोई विशेष ज्ञान होने पर अथवा जीवन का रहस्य समझ में आने पर उसकी अब तक की कल्पना, मान्यता और श्रद्धा में एकदम बहुत बड़ा फर्क पड़ जाता है। जिस चीज को वह अब तक ज्ञान समझ रहा था, उसका अधूरापन, दोष, भ्रम अथवा उसके भीतर छिपा हुआ अज्ञान उसकी दृष्टि में आ जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि सत्यासत्य को परखने की दृष्टि उसे एकाएक प्राप्त हो जाती है। अन्धकार से प्रकाश में आने पर वहाँ के मार्ग आदि के सम्बन्ध में हमारी पूर्वकल्पना और अनुमान जिस प्रकार गलत साबित हो जाते हैं, कुछ उसी प्रकार की चीज यह है। परन्तु इस पर से यह नहीं मान लेना चाहिए कि उसे संपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गयी अथवा उसके लिए अब कुछ प्राप्त करने की वस्तु ही नहीं रही। केवल यही कहा जा सकता है कि ज्ञान की दिशा उसने जान ली और किसी भी गंभीर, महान् और महत्त्व के विषय में सूक्ष्मता, गहराई और व्यापक दृष्टि से विचार करने की दृष्टि उसे प्राप्त हो गयी है। कहना हो तो हम यह कह सकते हैं कि जीवन के विषय में, जगत् के विषय में, कल्याण के विषय में तथा सार्थकता के विषय में परम्परा से चली आयी दृष्टि से विचार करने के

मानव-जीवन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की बात है। इस विवेक-दृष्टि से मनुष्य को एकाएक सपूर्ण ज्ञान नही प्राप्त होता। परन्तु ज्यो-ज्यो इस दृष्टि का मनुष्य उपयोग करने लगता है, त्यो-त्यो यह अधिकाधिक सूक्ष्म, तेजस्वी और तीव्र होती जाती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और प्रत्येक क्षण में वह उसे काम दे सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक विषय में उसकी अवलोकन, निरीक्षण, परीक्षण और पृथक्करण की शक्ति भी बढ जाती है। इन सब शक्तियो की सहायता से उसकी विवेक-बुद्धि उसे सही निर्णय देने लगती है। ऐसी बुद्धि और दृष्टि जिसने प्राप्त कर ली है, वह साधक ईश्वर-परमेश्वर, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, आत्मा-परमात्मा, प्रकृति-पुरुष आदि के सम्बन्ध में ठीक विचार कर सकता है। जिसे चित्त की शुद्धि और इस प्रकार की विवेक-बुद्धि प्राप्त हुई है, वह इनकी सहायता से आचरण करता हुआ अपना जीवन सार्थक कर सकता है। *विवेक-बुद्धि के कारण होनेवाले, नित्य नवीन अनुभव की प्राप्ति* के साथ-साथ नित्य बढनेवाले ज्ञान को किसी विशिष्ट प्रसग पर भी 'सपूर्ण' यह विशेषण नही दिया जा सकता।

इस दृष्टि से विचार करते है, तो किशोरलाल भाई को जो समाधान मिला, वह सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति से होनेवाला समाधान था, ऐसा मानने के लिए कोई कारण नही है। अनेक प्रश्न मनुष्य को तग करते रहते है। उसकी अपनी मनोवृत्तियाँ, कल्पनाएँ, धारणाएँ और श्रद्धा भी उसे भ्रम में डालती रहती है। इनसे छूटने का ज्ञानयुक्त उचित मार्ग जब मनुष्य को मिल जाता है, तो इन सबसे उसकी मुक्ति हो जाती है। दिमाग पर से बोझ हट जाता है और उसकी व्याकुलता का शमन हो जाता है। परन्तु उसका शमन हो गया, *उसे कुछ शान्ति मिल गयी*, इससे यह हरगिज न मान लेना चाहिए कि उसे जीवन-सिद्धि अथवा सपूर्णता प्राप्त हो गयी। जीवन में मनुष्य को हमेशा एक ही प्रकार के प्रश्न नही तग किया करते। आज एक प्रकार का प्रश्न उठता है, तो कल दूसरे प्रकार का। उसका हल पाने के लिए वह उत्कण्ठित और व्याकुल हो उठता है और जीवन की दृष्टि से कितने ही प्रश्न इतने महत्त्वपूर्ण होते है कि कम-अधिक परिमाण में उनका महत्त्व जीवनव्यापी होता है। आध्यात्मिक और नैतिक प्रश्न इसी प्रकार के होते है। ऐसे प्रश्न जिस समय मनुष्य के मन

में अत्यन्त उत्कटता और तीव्रता के साथ उठते हैं और उसे बेचैन कर डालते हैं, तब उनके निराकरण का मार्ग मिलकर उसे शान्ति प्राप्त होना अत्यन्त आवश्यक है। उसकी व्याकुलता यदि उचित मार्ग से शान्त हो जाय और उसमें से यदि उसे चित्त की एक स्थिर भूमिका तथा दृष्टि प्राप्त हो जाय, तो इस भूमिका पर से और प्राप्त दृष्टि की सहायता से वह जीवन के अन्य विकट प्रश्नो को भी हल कर सकता है। नित्य वर्द्धमान विवेक-दृष्टि और ज्ञान के कारण उसके आचार-विचार में और छोटे-बडे सब कर्मों में एक निश्चित पद्धति और सुसगति आने लगती है और उसका जीवन शान्त तथा सरल बन जाता है। उसमें बौद्धिक तेजस्विता के साथ-साथ भावनाओ की शुद्धि, हृदय की निर्मलता, निर्भयता, सत्यनिष्ठा, दृढता, मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम, न्यायपरायणता और निश्चय के साथ-साथ समतोलता आदि सद्‌गुणों की स्वत वृद्धि होती जाती है।

किशोरलाल भाई की व्याकुलता का शमन हो जाने के बाद ऊपर बतायी स्थिर भूमिका पर रहकर उनका कर्म-मार्ग अन्त तक ठीक-ठीक चलता रहा। सभी जानते है कि वे तत्त्वचिन्तक और तत्त्वनिष्ठ भी थे। आबू से लौटने के बाद भी मेरे साथ अनेक बार उनकी बातचीत हुई। उसमें से उन्होंने जो कुछ आत्मसात् किया और उस पर चिन्तन करके विकसित किया, वह सब 'केलवणीना पाया', 'जीवन-शोधन', 'जडमूल से क्रान्ति' आदि पुस्तकों द्वारा उन्होंने जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है।

कर्तव्य-निष्ठा से सत्कर्म करते-करते किशोरलाल भाई चले गये। परन्तु मेरी पात्रता से कही अधिक विश्वास और पूज्य भाव उन्होने मुझ पर रखा। मुझ पर उन्होंने जो अत्यधिक प्रेम और कृतज्ञ भाव प्रकट किया है, उसका बहुत बडा ऋण उनका मुझ पर अब भी उसी प्रकार बना हुआ है। मैं चाहता था कि वे मुझसे मित्र की तरह बर्ताव करें। परन्तु प्रारभ की मेरे स्वभाव की अलिप्तता तथा मुझसे बर्दाश्त न हो सके, ऐसी उनकी मेरे प्रति अन्त तक की विनयशीलता और नम्रता के कारण मेरी वह इच्छा अन्त तक पूरी नही हो सकी, यह मुझे स्वीकार करना पडता है।

किशोरलाल भाई ने अपने कुटुम्ब के सम्बन्ध में श्रुति-स्मृति

लिखा है, उसमें श्री नाथजी से परिचय तथा उनसे प्राप्त मार्गदर्शन के बारे में यह लिखा है :

"आश्रम में काका साहब की मार्फत मेरा पू० नाथजी से परिचय हुआ। उनकी योग्यता के विषय में काका साहब ने मुझे कुछ कल्पना दी। इससे पहले उन्हें मैं आश्रम पर आते-जाते देखता रहता था। परन्तु उनके साथ मैंने अधिक परिचय नही किया। मैं समझ रहा था कि वे मराठी-साहित्य के अच्छे अभ्यासी है और कुछ मन्त्रादिक भी जानते है। एक बार मुझे आधे सिर का दर्द हो गया, तब उन्होंने पूछा था कि क्या वे उसे उतार दें ? परन्तु मैंने स्वीकार नही किया।

"मैं आश्रम में आ गया था। फिर भी स्वामीनारायण-सम्प्रदाय से मेरा सम्बन्ध और उसके प्रति मेरा आकर्षण कम नही हुआ था। आत्मा-परमात्मा के विषय में यथार्थ ज्ञान पुस्तको से नही मिल सकता—उसमें सद्गुरु के बिना मार्ग नही मिलता और इसके लिए एकान्त-सेवन की आवश्यकता है, इन विचारो की ओर मैं झुकता जाता था। सम्प्रदाय में अच्छे-से-अच्छे माने जानेवाले भक्तो और साधुओं से परिचय पाने के यत्न में मैं था। स्वामी श्री रघुवीरचरण-दासजी के शिष्य स्वर्गीय श्री भक्तिनदनदासजी मेरे ही समान जिज्ञासु थे। उनके सहवास में मेरी वृत्ति अधिक तीव्र हो गयी थी। परन्तु सम्प्रदाय में मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नजर नही आ रहा था, जो ठीक-ठीक मार्ग-दर्शन कर सके।

"अहमदाबाद में जो गुजरात-साहित्य-परिषद् हुई थी, उसके लिए स्वामी-नारायण-सप्रदाय के बारे में मैंने एक निबन्ध लिखा था। 'सहजानद स्वामी' नाम की पुस्तक इसी निबन्ध का सशोधित सस्करण है। इस निबन्ध के प्रूफ मैं देख रहा था। वे श्री नाथजी के पढने में आ गये। उसका 'साप्रदायिक तत्त्व-ज्ञान' शीर्षक भाग पढने पर उन्होंने मुझसे कहा, "मेरे विचार इससे कुछ अलग हैं। आपकी इच्छा होगी, तो किसी समय बताऊँगा।" मैंने कहा, "अच्छा।" परन्तु उन्हें जानने की मुझे उत्कण्ठा नही हुई। मैंने सोचा कि प्राय पडित लोग—और मेरा खयाल था कि पू० नाथ पडित होगे—अद्वैतवेदान्ती होते है, इसलिए वे अद्वैत का निरूपण करेंगे और मुझे उनसे कोई मतलब नही है। क्योंकि यह सहजानद स्वामी के मत से विरुद्ध था। सप्रदाय की धार्मिक पुस्तकों के अलावा अन्य पुस्तकें पढने की रुचि अभी मुझे नही हुई थी। मैं सोचता था कि सहजानद

स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। उनके वचनामृत में सारा तत्त्वज्ञान आ ही गया है। इससे विरोधी वस्तु अवश्य ही खोटी होनी चाहिए और यदि इसके अनुकूल भी हो, तो वचनामृत में जितनी सरलता के साथ कहा गया है, उससे अधिक सरल वह हो ही कैसे सकती है? इसलिए उसे सुनने की कोई जरूरत नहीं।

'एक रात काका साहब और मैं गाडी में बैठकर आश्रम आ रहे थे। रास्ते में मैंने पू० नाथ के रोजगार-धंधे के विषय में उनसे पूछा। इस पर काका साहब ने उनके बारे में ऐसा मत प्रकट किया कि वे तो उन्हें जीवन्मुक्त मानते हैं। फिर उन्होंने पू० नाथ की योग्यता के बारे में मुझसे कहा। तब तो मुझे लगा कि मुझे अवश्य ही और तुरन्त उनके विचार जान लेने चाहिए। दूसरे या तीसरे दिन वे साबरमती से जानेवाले थे। इसलिए देर हो जाने पर भी मैं उनके पास गया। वे तख्त पर सोने की तैयारी कर रहे थे। मैंने जाकर उनसे प्रार्थना की कि आपने मुझे जो आशा दिलायी है उसे पूरी करें। तब उन्होंने मुझे सबसे पहले कल्पना और अनुभव के बीच का भेद समझाया, केवल एक ही वाक्य में उन्होंने मेरे लिए एक नया क्षेत्र खडा कर दिया और मेरी सम्पूर्ण दृष्टि को पलट दिया। मेरे लिए तो वह एक क्षण आध्यात्मिक दिशा में हृदय-परिवर्तन का क्षण बन गया। दूसरे दिन उन्होंने जाना स्थगित कर दिया और उसे पंद्रह दिन के लिए आगे बढा दिया। इन पंद्रह दिनों में मुझसे जितना बन पडा, मैंने उनका सहवास किया। मेरा हृदय-परिवर्तन जारी ही रहा। जिनकी इतने दिनों से मुझे खोज थी, वे मिल गये, ऐसा मुझे निश्चय हो गया और मैंने उनके चरणों में अपना मस्तक रख दिया।

"इसके बाद उनके बताये मार्ग से मैंने अपने आध्यात्मिक विकास का प्रयत्न शुरू कर दिया। उनकी सम्मति से एकान्तवास ग्रहण किया और उन्हींके शब्द से समाधान प्राप्त किया।'

◆◆◆

'आश्रमी' होने पर आपत्ति : १६ :

विद्यापीठ से किशोरलाल भाई जब मुक्त हुए, तब गोमती बहन बीमार थी। बापू की सलाह से उन्होंने पद्रह दिन के उपवास किये। इनके कारण वे बहुत अशक्त हो गयी। उनकी तबीयत कुछ ठीक होते ही दोनो—गोमती बहन और किशोरलाल भाई—हवा बदलने के लिए देवलाली गये। परन्तु वहाँ वे अधिक नही रह सके। पद्रह-बीस दिन में ही जीवकुँवर भाभी (बडे भाई बालूभाई की पत्नी) की बीमारी के कारण उन्हें बम्बई जाना पडा। सन् १९२६ के मार्च में जीवकुँवर भाभी शान्त हो गयी। इस कारण कुछ समय किशोरलाल भाई को बम्बई में ही रुक जाना पडा। इसके बाद शायद जून तथा जुलाई महीनो में उन्होंने बुनाई का काम किया होगा। परन्तु वे फिर बीमार हो गये। तब से १९२७ के मार्च-अप्रैल तक उन्हें अपनी तथा गोमती बहन की बीमारी के कारण बम्बई अथवा अकोला में रहना पडा, ऐसा लगता है। बम्बई में ही उन्होंने सोचा कि बीमारी तो अब सदा की सगिनी बन गयी है, इसलिए किसी अनुकूलतावाले गाँव में रहकर वहाँ जो कोई हल्का-सा काम बने, वह करते रहना चाहिए। काका साहब का आग्रह था कि वे साबरमती-आश्रम में ही रहें, भले ही वे किसी काम की जिम्मेवारी न लें। वहाँ रहकर आश्रमवासियों को सलाह-सूचना देते रहें, तो भी बहुत है। १९२७ के मार्च में बापू दक्षिण के प्रवास में थे। वहाँ पहली बार उन पर रक्तचाप का आक्रमण हुआ। इसलिए आराम के लिए वे मैसूर में नन्दी-दुर्ग गये। आश्रम में आकर रहने का काका साहब जो आग्रह कर रहे थे, उसमें बापू की यह बीमारी भी शायद एक कारण रही हो। परन्तु आश्रम में केवल एक सलाहकार के रूप में आकर रहना किशोरलाल भाई के लिए बडा कठिन था। मुख्यत धार्मिक और आध्यात्मिक विषय में बापू से उनकी दृष्टि कुछ भिन्न थी और इस कारण यह संभव था कि दूसरी भी कई बातों में उनके विचार बापू से अलग हों। ता० २८-३-१९२७ को किशोरलाल भाई ने काका साहब को

एक लम्बा पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने अपनी स्थिति वडी अच्छी तरह प्रकट की है

"अपने विषय में आप सबकी इच्छाओं को मैं जानता हूँ। आपकी बात मैं किस हद तक मानता हूँ, यह तो आप जानते ही है। मैं हमेशा आपसे भिन्न राय रखता रहा हूँ। परन्तु उसके अनुसार वर्ताव करने की हिम्मत मुझमें नही है। इसलिए आपकी बात मानता नही, परन्तु उसके अनुसार कर जरूर टालता हूँ। ऐसा होता रहता है। गोमती इसे मेरी हमेशा की कमजोरी बताती है और जानती भी है। मुझ पर विजय प्राप्त करने की कला आपको और उसे भी सघ गयी है। मैं हमेशा विवेक के विरुद्ध जाकर आग्रह के सामने झुक जाया करता हूँ।

"यह सच है कि केवल सहवास से भी एक प्रकार का आश्वासन मिल जाता है। यह भी सच है कि कई लोग उसके न मिलने के कारण ही दुखी रहते है। परन्तु यदि अपने सहवास द्वारा मित्रो को आश्वासन देने के काम को मनुष्य अपना मुख्य व्यवसाय बना ले और इसका बोझ उन मित्रो पर अथवा खुद अपने ऊपर डालने की अपेक्षा सार्वजनिक सस्था पर डाले, तो क्या यह उचित होगा ?

"मनुष्य जहाँ कही रहेगा, वह किसीका सहवास लेगा और किसीको सहवास देगा। सामाजिक जीवन का अग-स्वरूप यह एक आवश्यक सहचारी धर्म है। परन्तु यह कोई व्यवसाय तो नही बन सकता। व्यवसाय तो किसी कर्मयोग का ही हो सकता है। इसको समाज में लेकर यदि मनुष्य समाज में घुले-मिले, तो उसका सहवास समाज को अनायास मिल ही जायगा। हाँ, सबके सहवास का मूल्य एक-सा न भी हो। इसलिए कर्मयोग किस प्रकार का हो, इसका निर्णय करने से पहले मनुष्य सहवास का विचार कर ले। यही नही, सहवास की दृष्टि से ही वह कर्मयोग के प्रकार का निश्चय करे, यह भी हो सकता है। परन्तु यह तो निश्चय ही है कि असाधारण सयोगो की बात छोड दे, तो मनुष्य किसी-न-किसी कार्य के लिए ही तो एकत्र होते है।

"यदि ऐसे कार्य की दृष्टि से मैं आश्रम मे रह सकता हूँ, ऐसा मुझे निश्चय न हो, तो मुझे आश्रम में रहने का हक ही क्या है ?

'विद्यापीठ, शाला या आश्रम, इन तीनों में से किसी भी संस्था के साथ मैंने अपने-आपको बाँधा नही, इसे आप मेरी चतुराई (Shrewdness) मानते है। परिस्थिति ने इस विशेषण के योग्य कार्य मुझसे करवा लिया हो, यह बात दूसरी है। परन्तु वस्तुस्थिति बिलकुल दूसरी है। विद्यापीठ की स्थापना से लेकर मैंने जब उसे छोडा, तब तक मुझे एक क्षण भी ऐसा नही लगा कि विद्यापीठ मेरा जीवन-कार्य है। इसलिए मैं इसमें अपने-आपको हमेशा के लिए बाँध लेना नही चाहता। मैं आपसे बराबर कहता रहा हूँ कि अपनी सुविधा से आप मुझे इससे मुक्त कर दें। विद्यापीठ के भीतर झगडे रहे हो या न भी रहे हो अथवा वह आज की अपेक्षा अधिक सफल होगा, तो भी इस प्रकार के जीवन के प्रति मेरे मन में कभी आकर्षण नही उत्पन्न हुआ। इतने वर्ष मैंने इसमें निभा दिये, यही आश्चर्य की बात है। जितने दिन मैं वहाँ रहा, उसके प्रति वफादार रहा हूँ। केवल वफादार ही नही, बल्कि ऐसा रहा कि उसके प्रति मुझे ममत्व रहा, यह भी मैं कह सकता हूँ। इसे आप भले ही मेरे स्वभाव की विशेषता कह सकते है। परन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि मुझमें एक 'सिविलियन' बनने की योग्यता है।

"अब आश्रम के विषय में। आश्रम में मैं आया, सो राष्ट्रीय शिक्षा की प्रवृत्ति से आकर्षित होकर ही। शाला में मैंने काम शुरू किया, उसके बाद महीनों तक सत्याग्रह-आश्रम, उसके व्रत अथवा नियम और प्रवृत्तियो-आदि का मुझे कोई ज्ञान नही था। यहाँ आने से पहले मैंने यह जानने का प्रयत्न नही किया था। आने के बाद भी नही किया। अनायास ही यह जानकारी मुझे मिलती गयी। फिर भी आप जानते है कि मेरा उद्देश्य यह रहा है कि एक-आध वर्ष अनुभव लेकर मैं अपने सप्रदाय में शिक्षा-सम्बन्धी कोई काम करूँ। यह नही कहा जा सकता कि आश्रम की आध्यात्मिक बाजू ने मुझे ललचाया। क्योंकि जब मै यहाँ आया, तब कट्टर स्वामीनारायणी था और मै मानता था कि मेरी आध्यात्मिक क्षुधा को तृप्त करने के लिए सप्रदाय काफी है। हाँ, अगर कोई महत्त्वाकाक्षा मेरे अन्दर थी, तो यही थी कि मै पू० बापू को अथवा आश्रम को अधिक स्वामीनारायणी बनाऊँ। यह नही थी कि मैं अधिक आश्रमी बनूं। मेरी इस वृत्ति का ध्यान रखना जरूरी है। क्योकि इससे आप

जान सकेंगे कि बापू और मेरे बीच का सम्बन्ध किस प्रकार का है। बापू की मुमुक्षुता तथा आध्यात्मिक जाज्वल्यता से मैंने बहुत कुछ ग्रहण किया है। इससे कई बातों में मेरी सकीर्ण साप्रदायिकता भी कम हो गयी। परन्तु मैंने बापू को कभी न अपना आध्यात्मिक गुरु माना या न ऐसा प्रकट किया। गुरु या तो स्वामीनारायण थे या नाथ हुए।

"और भी एक बात है। मेरे आश्रम में आने से कुछ ही पहले मेरे पिता का स्वर्गवास हो गया था। मेरी उम्र कम नही थी। फिर भी मैं पितृप्रेम का भूखा ही था और आज भी हूँ। घर से बँधे रहने की आर्थिक आवश्यकता न रही थी। उसी प्रकार यह आकर्षण भी समाप्त हो गया था। बापू में मैंने पुन पितृप्रेम की प्राप्ति का अनुभव किया और बापू की शाला में आने में यह भी एक *व्यक्तिगत कारण* (Personal factor) बन गया।

"परन्तु इसे भी आध्यात्मिक सम्बन्ध नही कहा जा सकता। आध्यात्मिक विषय में मुझे नयी दृष्टि देनेवाले तो पू० नाथ ही हैं। इसलिए गुरुस्थान पर तो वे ही विराजे।

"इसके बाद शाला और आश्रम की एकता स्थापित की गयी और मुझे उसमें शरीक होने के लिए निमन्त्रित किया गया। मैं खूब जानता हूँ कि जीवन और तत्त्वज्ञान की ओर देखने में मेरे और बापू के बीच कई बातों में दृष्टिभेद है। आश्रम बापू की सस्था है और उसका अपना एक स्पष्ट अथवा अस्पष्ट, किन्तु निश्चित आध्यात्मिक सप्रदाय (School of thought) है। इस सप्रदाय में कितने ही व्रत, नियम, आदर्श और विधान बने हैं। इन्हें स्वीकार करके मैं इनके प्रति किस हद तक वफादार रह सकता हूँ, यह मेरे लिए एक उलझनभरा प्रश्न है।

"मगनलाल भाई और दूसरो के बीच के झगडो को समाप्त करने के लिए मुझे व्यवस्थापक का पद ग्रहण करना चाहिए, इस तरह की सूचनाएँ भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रो से मेरे सामने आयी। इस विषय में शारीरिक तथा रुचि की दृष्टि से भी मैं असमर्थ हूँ ही। परन्तु बापू की आध्यात्मिक दृष्टि को मैं सफल कर सकूँगा, ऐसा मुझे जरा भी विश्वास न हो सका। यही नहीं, बल्कि अधिकार (पात्रता) के बिना आश्रमवासी बने रहना भी मुझे अच्छा नहीं लगा। मुझे तो

दिन-दिन यह भय होने लग गया था कि आश्रम की छाया में रहकर मै कही उसके भीतर बुद्धिभेद बढाने का कारण तो नही बन जाऊँगा। मेरा यह भय अभी तक दूर नही हुआ है।

"अब रह गयी शाला। आश्रम और शाला की विचार-सरणी एक ही है। यही होना भी चाहिए। एक तो यह बात हुई। दूसरे, आपने मुझे विद्यापीठ में भेज दिया और इस कारण पढाने के काम से तीन वर्ष से अलग हो गया। इस कारण पढाने के काम में मुझे पहले जो रस था, वह अब नही रहा। फिर शाला में जो विषय पढाये जाते हैं, उनमें से किसी भी विषय का मुझे गहरा ज्ञान नही है। यह तीसरी बात है। चौथी बात यह है कि 'केलवणीना पाया' (तालीम की बुनियादें) पुस्तक में जिन बातो का विवेचन किया है, उन्होने उन विषयो पर से मेरे प्रेम को कम कर दिया है, जिन्हें मै पहले पढाता था। इस प्रकार शाला में भी सक्रिय भाग लेने का उत्साह अब मुझमें नही रहा।

"अन्य प्रकार से तो मै शाला का ही हूँ, यह कहता आया हूँ और इस कारण विद्यार्थियो के प्रति मेरा प्रेम कम नही हुआ है।

"यह सच है कि इन सबके साथ भीतरी क्लेश भी मिल गये और उन्होंने मेरे अलग रहने के निश्चय को और भी दृढ बनाया है। परन्तु उसे मुख्य कारण नही कहा जा सकता।

"आज रमणीकलाल भाई का पत्र मिला। उससे मालूम हुआ कि आपने बापू को तार दिया है कि 'Have decided to stay here.' (यहाँ रहने का निश्चय किया है।) यह तार आपकी भावनाओ की कोमलता के अनुरूप ही है। आपको याद होगा कि कई वर्ष पहले (सन् १९१८ के अक्तूबर में) बापू अपनी वर्षगाँठ के दूसरे ही दिन एकाएक बीमार हो गये थे और सबको भय हो गया था कि उनके हृदय की गति कही बन्द न हो जाय। उस दिन बापू ने बारी-बारी से सबको अपने पास बुलाकर उनसे प्रतिज्ञा या प्रतिज्ञा जैसा ही कुछ कहलवाया था कि 'मै आश्रम में ही रहूँगा'। उस समय सम्प्रदाय की सेवा करने की मेरी अभिलाषा धीमी नही हुई थी। मुझे भी बुलाया गया था। वह मेरे लिए परीक्षा का क्षण था। एक तरफ तो बापू मृत्युशय्या पर पडे हैं और चाहते हैं कि हम आश्रम को न छोडें, दूसरी तरफ मेरे मन में यह निश्चय

न हो पा रहा था कि मैं अवश्य ही इस प्रतिज्ञा को पूरा कर सकूँगा। अब मुझे क्या करना चाहिए, यह सवाल था। बापू को जिससे सन्तोष हो, ऐसी बात करके काम चला लूँ ? बडा नाजुक प्रसग था। परन्तु सौभाग्य से मुझे सद्बुद्धि सूझ गयी। बापू के पूछने से पहले ही मैंने कह दिया : 'मुझसे जितना समय बनेगा, यहाँ रहने का प्रयत्न करूँगा।' बापू ने कहा : 'हाँ, आपसे मुझे इतनी आशा तो है ही।' ऐसे नाजुक प्रसग पर मनुष्य की परीक्षा होती है। एक तरफ तो यह इच्छा होती है कि अपने पूज्य या प्रियजन के सन्तोष के लिए हर प्रकार का त्याग हम करें, परन्तु दूसरी तरफ यह भी सोचने का कर्तव्य उपस्थित हो जाता है कि प्रसग ऐसा नाजुक न होता, तो क्या हम इस तरह का निश्चय कर सकते थे ? भावुकता में आकर यदि हम गलत निश्चय कर लेते है, तो भविष्य में प्रतिज्ञा भग करने का गभीर प्रसग सामने उपस्थित हो सकता है। क्योकि जो निश्चय भावुकता में आकर किया जाता है, उस पर कायम रहना बहुत कम सभव होता है और यदि अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ नही रहते है, तो चित्त में हमेशा असमाधान बना रहता है।

"मैं मानता हूँ कि आश्रम में मेरे रहने से कुछ लोगो को बहुत सन्तोष होगा। परन्तु एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में और बिना काम से यहाँ पडा रहना ज्ञान में अथवा आध्यात्मिक बातो में एक अधिकारी पुरुष के नाते मेरे लिए एक अपयश की ही बात होगी। (क्योकि उसमें मेरे लिए लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक है) जब कभी कोई प्रश्न उपस्थित होगा, तो हर आदमी को यह जानने का कौतूहल होगा कि इस विषय में मेरे और बापू के विचार एक-से है या अलग-अलग ? (क्योकि वहाँ आखिर मैं मानसिक सहवास देने के लिए ही तो रहूँगा।) इससे आश्रम में अनिष्ट बुद्धिभेद उत्पन्न होने का सदा डर बना रहेगा। इस सबके कारण जहाँ कुछ लोगो को आश्वासन मिलेगा, वहाँ आगे चलकर कुछ लोगो का आश्वासन छिन जाने का भी भय है। अब आप कहिये कि क्या आपको निश्चयपूर्वक ऐसा लगता है कि आश्रम में मेरा रहना अच्छा होगा ?

"अभी तो मैं आश्रम में आ ही रहा हूँ, क्योंकि सब कुछ वही पडा है। परन्तु मेरी इच्छा यह है कि हम दोनो का स्वास्थ्य ठीक होने पर हलका-सा, परन्तु जो भी और जहाँ भी अनुकूल मालूम हो, कुछ न कुछ काम करें। केवल-

सहवास देने का धन्धा नही करता है, जहाँ बापू और काका जैसे दो प्रचण्ड व्यक्ति प्रोत्साहन और प्रेरणा देने के लिए सदैव उपलब्ध है, वहाँ अधिक की आशा करनेवालो के लोभ की भी कोई सीमा है ?"

इस पत्र में किशोरलाल भाई ने कुछ विस्तार के साथ बताया है कि आश्रम तथा बापू के बारे में उनके विचार क्या थे। उन्होने यह भी बताया है कि वे आश्रम के व्रतधारी क्यो नही बने, यद्यपि मरने तक वे बापू का ही काम अखण्ड रूप से करते रहे। इसलिए मेरी दृष्टि में यह प्रश्न बहुत महत्व नही रखता कि उन्हें आश्रमी समझना चाहिए अथवा नही। हाँ, स्वय किशोरलाल भाई आश्रमी कहलाने को तैयार नही थे। इसका अर्थ केवल यही है कि वे अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह से बापू में नही मिला सकते थे। खुद बापू इस बात को जानते थे। उन्होने एक बार कहा भी था कि 'किशोरलाल भाई मेरी अपेक्षा सत्य के कम उपासक नही है। परन्तु उनका मार्ग मुझसे कुछ अलग-सा है। जिस मार्ग पर मै चल रहा हूँ, उसी मार्ग पर वे नही चल रहे है। परन्तु मेरे मार्ग से समानान्तर उनका दूसरा मार्ग है।" इस तरह विचार करें, तो भले ही उन्हें आश्रमी न भी कहा जाय, परन्तु इसमें सन्देह नही कि बहुत से आश्रमियो की अपेक्षा वे बहुत ऊँची कोटि के आश्रमी थे। अपनी सत्योपासना को उन्होने कभी मन्द नही पडने दिया।

आध्यात्मिक बातो में तो बापू के साथ उनका कई बातो में मतभेद अथवा दृष्टिभेद पहले से ही था। फिर भी हमेशा बापू के साथ रहकर उन्होने काम किया। यहाँ तक कि बापू के सामने वे गाधी-सेवा-सघ के अध्यक्ष बने और बापू की मृत्यु के बाद 'हरिजन' पत्रो द्वारा उन्हीका सन्देश ससार को सुनाते रहे। इसमें बापू तथा किशोरलाल भाई, दोनो की महत्ता है। इसमें बापू का प्रेम, समभाव तथा व्यापक और सग्राहक वृत्ति का दर्शन हमें होता है। साथ ही किशोरलाल भाई की स्वतत्र वृत्ति का भी परिचय मिलता है। बापू के साथ उनका विचार भेद अथवा दृष्टिभेद किस प्रकार और किस हद तक था, इसकी विस्तृत चर्चा 'जीवन-दर्शन' प्रकरण में की जायगी। उसका हम केवल एक उदाहरण यहाँ देते है। बापू कहते कि ईश्वर की उपासना चाहे किसी नाम से करें, चाहे किसी आकार में उसकी पूजा करें और

उसका वर्णन भी चाहे जिस तरह करें—वह सब एक परमात्मा की ही पूजा होगी—वह उसीको पहुँचेगी। मिट्टी या पत्थर की पूजा करनेवाले को मिट्टी या पत्थर नही फल देते, उसकी श्रद्धा फल देती है। परन्तु किशोरलाल भाई दूसरे ही वातावरण में पले थे। उन्हें 'वक्रतुण्ड महाकाय' की, अथवा 'समुद्र-वसना' और 'पर्वत-स्तनमडल' पृथ्वी की या 'भुजग-शयन' विष्णु की एक साथ पूजा करना पसन्द नही था। इसलिए सवेरे की प्रार्थना में जब ये श्लोक बोले जाते, तब वे इनका उच्चारण ही नही कर सकते थे। वे कहते कि कोई भी एक रूप चुन लो और केवल उसीकी उपासना करो। इस तरह सबको इकट्ठा न करो। वे यह भी कहते कि मैं सर्वधर्म-समभाव को मानता हूँ। परन्तु मेरी पद्धति बापू की पद्धति से भिन्न है। मुझे यह पसन्द नही कि थोडा-थोडा सब धर्मो में से लेकर बोला जाय। इस कारण आश्रम की प्रार्थना में उपस्थित रहना मुझे कष्टकर लगता है। इसी प्रकार सन् १९३७ के गाधी-सेवा-सघ के वार्षिक अधिवेशन में इस बात की बहुत बारीकी के साथ चर्चा हुई थी कि गाधी-सेवा-सघ के सदस्य धारासभाओ मे जा सकते है या नही। बापू का मत था कि यदि गाधी-सेवा-सघ का कोई सदस्य धारासभा में जाकर भी पूर्ण स्वराज्य का काम कर सकता है, तो हम उसे वहाँ जरूर भेजें और उसे भी अवश्य जाना चाहिए। किशोरलाल भाई की राय यह थी कि गाधी-सेवा-सघ रचनात्मक काम करनेवाली सस्था है, इससे धारासभा में जाने से उसके भीतर निष्ठाभेद उत्पन्न होने का भय है। उन्होने बापूजी से कहा "आपकी बात अभी तक मेरी समझ में पूरी तरह नही आ सकी है। मै तो एकनिष्ठता का केवल एक ही अर्थ समझ सकता हूँ और एक उपासना का ही माननेवाला हूँ। गणपति, देवी, सूर्य, शिव आदि की पचायतन-पूजा की सनातन वृत्ति मेरे गले नही उतरती।" इस तरह कई बातो में उनका बापूजी के साथ दृष्टिभेद रहा करता। फिर भी उन्होने आश्रम को जितना सुशोभित किया, उतना बहुत कम लोगो ने किया होगा। इसी प्रकार बापू के बाद उनका सन्देश उन्होने जितनी विशद और निर्भय रीति से ससार के सामने रखा, वैसा शायद ही किसीने रखा हो।

◆◆◆

बाढ़-पीड़ितों की सेवा : १७ :

किसी देहात में जाकर रहने के विचार से सन् १९२७ के जून मास में बापूभाई की सम्मति प्राप्त करके किशोरलाल भाई और गोमती बहन मढ़ी-आश्रम में जाकर रहने लगे। वहाँ मकनजी माणाभाई खादी का काम करते थे। किशोरलाल भाई वहाँ कोई दूसरा काम नहीं करते थे। पड़ोस के स्यादला गाँव से कुछ कार्यकर्ता अपने कुछ प्रश्न लेकर आते रहते। उन्हें केवल सलाह-सूचनाएँ दे देते। इसके अतिरिक्त और कोई काम उन्होंने अपने हाथ में नहीं लिया। परन्तु कोई काम हाथ में लेने का विचार अवश्य कर रहे थे। इतने में अगस्त के महीने में गुजरात के एक बहुत बड़े भाग पर बाढ़ का संकट आ गया। सरदार वल्लभभाई ने गुजरात के तमाम कार्यकर्ताओं को इस काम को उठा लेने के लिए आवाहन किया। यद्यपि भारी वर्षा के कारण बहुत से गाँव जलमय हो गये थे और बहुत से परिवारों को भोजन मिलना भी कठिन हो गया था और बहुत से भाग की फसलें डूब गयी थीं, फिर भी सरदार चाहते थे कि सहायता का संगठन हमें इस तरह करना चाहिए कि अन्न के अभाव में एक भी आदमी भूखों न मरे और बीज के अभाव में जमीन का एक भी टुकड़ा फिर से बिना बोया न रह जाय। सरदार के इस आवाहन पर किशोरलाल भाई और गोमती बहन मढ़ी-आश्रम को छोड़कर बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए निकल पड़े। बारडोली के कार्यकर्ता बड़ौदा पहुँच गये थे। इसलिए किशोरलाल भाई ने भी बड़ौदा ही पसन्द किया। स्वयं बड़ौदा शहर में और आसपास के गाँवों में बहुत विनाश हुआ था। इनकी सहायता के लिए किशोरलाल भाई गाँवों में तो नहीं घूम सकते थे, परन्तु स्थानीय कार्यकर्ताओं के सारे काम की व्यवस्था करने में और हिसाब रखने में उन्होंने बहुत मदद पहुँचायी। सरदार वल्लभभाई चाहते थे कि सारे गुजरात में काम की व्यवस्था एक-सी हो और मदद पहुँचाने के काम में भी सर्वत्र एक ही रीति से काम लिया जाय।

इसके लिए वे हर केन्द्र को पूरी-पूरी मदद देने के लिए तैयार थे। तदनुसार उन्होने बडौदा-केन्द्र को भी मदद भेज दी। परन्तु बडौदा के महाराजा और दीवान भी इस काम में अच्छी मदद करना चाहते थे। इसे बडौदा राज्य प्रजा-मण्डल के कार्यकर्ताओ ने खोया नही। इसलिए उन्होने बडौदा के क्षेत्र में बडौदा-प्रजा मण्डल की ओर से इस काम को उठा लिया। सयोगवश डॉ० सुमन्त मेहता इस अवसर पर अचानक बडौदा पहुँच गये थे और वे वहाँ फँस भी गये। वे इस काम के मुख्य नियामक बन गये। सरदार की इच्छा थी कि सारा काम गुजरात प्रान्तीय समिति के मार्फत हो। परन्तु बडौदा में ऐसा नही हो सका। इस कारण उन्हें शायद कुछ बुरा भी लगा हो। किशोरलाल भाई की वृत्ति यह थी कि ऐसे सकट के समय इस बात का अधिक महत्त्व नही कि किसकी ओर से काम हो रहा है। असली महत्त्व की बात यह है कि सबको आवश्यक मदद मिल जानी चाहिए। सरदार को भी इसमें कोई विरोध नही था, परन्तु उनका विचार यह था कि यदि बडौदा के महाराजा वगैरह का यह आग्रह हो कि वहाँ का काम उनके प्रजामण्डल के द्वारा ही हो और वे पूरी मदद पहुँचाने में समर्थ है, तो फिर गुजरात प्रान्तीय समिति का चन्दा वहाँ क्या खर्च किया जाय? किशोरलाल भाई सरदार की इस वृत्ति को समझ गये थे। इसलिए जब काम पूरा होने को आया, तब यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा नही था, फिर भी सब हिसाब साफ होने और प्रान्तीय समिति के सारे रुपये मिलने तक वे बडौदा में ही रुके रहे। अन्त में गुजरात प्रान्तीय समिति को बडौदा क्षेत्र की मदद में रु० ५,३३५ खर्चखाते में लिखने पडे। सन् १९२८ के फरवरी तक अर्थात् लगभग सात महीने बडौदा में रहकर उन्होने बाढ-पीडितो की सहायता का काम किया।

इस बीच उनके सामने वहाँ एक धर्म-सकट उपस्थित हो गया। वे तथा अन्य कितने ही कार्यकर्ता बडौदा में स्टेशन के पास की धर्मशाला में रहते थे। वहाँ एक रात को चोर आया। उसने किशोरलाल भाई की पेटी उठायी और कुछ खड़खड़ाहट हुई। इतने में सब जाग गये और चोर भी पकड लिया गया। तत्काल तो उसे पुलिस के सिपुर्द कर दिया गया। परन्तु किशोरलाल भाई के सामने एक नैतिक सवाल खडा हो गया कि उसे सजा दिलायी जाय

नहीं। पुलिस ने चोर को ले लिया, इसलिए वह तो चाहती ही थी कि उसे सजा दिलायी जाय। बात यह थी कि किशोरलाल भाई ने चोर को पेटी उठाते हुए नहीं देखा था, गोमती बहन ने देखा था। इसलिए उन्हें भी कोर्ट में बयान देने के लिए जाना पड़ा। किशोरलाल भाई ने उस समय सोचा कि चोर जैसे एक आदमी को कुछ समय तक बंधन में रखने से यदि समाज की रक्षा हो सकती है और उसे भी अपने सुधार का अवसर मिलता हो, तो—उसे बंधन में रखने की प्रथा को—यद्यपि उसमें हिंसा है—कायम रखना अनुचित नहीं। इसलिए किशोरलाल भाई और गोमती बहन ने भी कोर्ट में अपने बयान दे दिये। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने मैजिस्ट्रेट से एक दरखास्त द्वारा प्रार्थना की कि वे उसकी ओर दया की दृष्टि से देखें और उसे कम-से-कम सजा दें। मैजिस्ट्रेट ने इस दरखास्त को अप्रस्तुत और अनधिकृत समझकर उसे दाखिल दफ्तर कर लिया। परन्तु यह चोर पहले कई बार सजा पा चुका था। इसलिए उसे अधिक सजा दिलाने के लिए उन्होंने इस मामले को दौरासुपुर्द कर दिया। सेशन-कोर्ट के सामने अपने बयान देने के लिए किशोरलाल भाई और गोमती बहन को फिर सम्मन मिले। इस बीच किशोरलाल भाई ने सारा प्रकरण बापू को लिख भेजा और उनकी सलाह ली। बापू ने लिखा कि "अहिंसा-धर्म की दृष्टि से हम अदालत में बयान नहीं दे सकते। समाज में रहते हुए भी कई बातें ऐसी होती हैं, जिनको समाज की तरह हम नहीं कर सकते ......नहीं तो समाज आगे नहीं बढ़ सकेगा।" इस पर से किशोरलाल भाई भी स्पष्ट रूप से समझ गये कि इस प्रकार के गुनहगारों के प्रति व्यवहार करने की समाज की प्रचलित पद्धति में दोष हो, तो उसे चालू रखने में हमारी मदद तो कदापि नहीं होनी चाहिए। समाज यदि आज या दो सौ वर्ष बाद भी, जब कभी इस विषय पर विचार करेगा, तब इस प्रकार मदद न करने की घटनाओं से ही उसे इस पर विचार करने की प्रेरणा मिलेगी। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि अब सेशन-कोर्ट में बयान न दिया जाय। इसके लिए सेशन-कोर्ट में पढ़ने के लिए उन्होंने अपना वक्तव्य भी तैयार कर लिया।

सेशन-जज किशोरलाल भाई के एक मित्र के परिचित थे। इन मित्र को समाचार मिले कि किशोरलाल भाई और गोमती बहन सेशन-कोर्ट में गवाही

नही देंगे। गवाही न देने पर उन्हें सजा हो, यह उस मित्र को अच्छा नही लगा। इसलिए उसने जज से तथा सरकारी वकील से भी कह रखा था कि वे किसी भी तरह किशोरलाल भाई तथा गोमती बहन को बचा लें। किशोरलाल भाई को इसका पता नही था। दोना ने सेशन-कोर्ट से कह दिया कि हम गवाही नही देना चाहते। जज ने कहा 'यह तो ठीक है। परन्तु आपको शपथ लेने और नाम धाम बताने में भी आपत्ति है?" इस पर दोना ने प्रतिज्ञा ली और नाम धाम बता दिये। इसके बाद सरकारी वकील ने पूछा 'निचली कोर्ट में आपने जो बयान दिया, वह यही है न?' इस पर किशोरलाल भाई ने कुछ भी कहने से इनकार कर दिया। सरकारी वकील ने कहा "आप यहाँ भले ही गवाही न दें, परन्तु आपको यह बताने में क्या आपत्ति हो कि नीचे की कोर्ट में आपने जो बयान दिया, वह यही है?" जज ने भी धमकाने का स्वांग बनाकर कहा "आप न्याय में मदद करना नही चाहते?" फिर भी किशोरलाल भाई दृढ रहे। तब दूसरे एक वकील ने जज से प्रार्थना की कि "साक्षी ने यह तो नही कहा कि यह बयान मेरा नही है और उसने शपथ तो ले ली है। इसलिए नीचे की कोर्ट में दिये गये बयान को आप रेकार्ड पर ले सकते है।" जज उन्हे सजा देना नही चाहते थे। इसलिए नीचे की कोर्ट में किशोरलाल भाई ने और गामती बहन ने जो बयान दिये थे, उन्हीका उन्हाने रेकार्ड पर ले लिया और चोर को सजा दे दी। शाम को क्लब में वकील और जज सब इस बात पर खूब हँसे हागे कि सत्याग्रही भाई कैसे बुद्धू बन गये।

इस सारे प्रसग को लेकर किशोरलाल भाई ने एक छोटा-सा प्रहसन लिखा है 'होला होली नो सत्याग्रह'। इसमें अन्त में उन्हाने बताया है कि सत्याग्रही बनना, चालाकी न करना या असत्य का आचरण न करना यह ता ठीक है, परन्तु कोर्ट ने हमारे भोलेपन का पूरा फायदा उठा लिया और हम उसकी तरकीब समझ भी नही सके, यह ठीक नही हुआ। निरे भालेपन स दुनिया में काम नही चलता।

◆ ◆ ◆

बड़े भाई   : १८ :

किशोरलाल भाई को बडौदा में ही खाँसी और बुखार आने लगा था। इसलिए वहाँ से फारिग होते ही फरवरी १९२८ में वे इलाज के लिए बम्बई गये। वहाँ उन्हें निमोनिया हो गया। उसके बाद शान्ताकुञ्जवाले श्री गौरीशंकर दवे ने नैसर्गिक उपचार शुरू किये। बीमारी लम्बी रही। इसलिए एक-दो महीने शान्ताकुञ्ज में बिताकर वापस बम्बई गये। वे बहुत कमजोर हो गये थे। इसलिए खुद उन्हें तथा आसपास के दूसरे लोगों को भी शंका होने लगी थी कि इस बीमारी से वे उठ भी सकेंगे या नहीं। प्रायः डॉ० दलाल उनका उपचार करते थे। वे भी कुछ निराश हो गये। इस स्थिति में किशोरलाल भाई ने अपने सारे अधूरे और पूरे लेख मेरे पास भेज दिये और लिखा कि मैं उनका जिस प्रकार ठीक समझूं, उपयोग करूँ।

एक लेख में उन्होंने लिखा है :

"बालूभाई को उन दिनों जो चिन्ता थी और उन्होंने जो कष्ट उठाये, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। मैं शान्ताकुञ्ज रहता था, तब वे रोज रात को वहाँ आते। सारे दिन की थकावट उनके शरीर पर देखकर उनके शान्ताकुञ्ज के चक्कर पर मुझे बड़ी लज्जा आती। कुछ तो इसी कारण मैं बम्बई गया। उन दिनों बारडोली में सत्याग्रह चल रहा था। उसके लिए चन्दा एकत्र करने के काम का बोझ भी उनके सिर पर आ गया था। एक दिन वे अँधेरी, घाटकोपर आदि स्थानों पर चन्दा एकत्र करने के लिए बहुत घूमे। उसी दिन डॉ० दलाल से उनकी भेंट हो गयी। उन्होंने मेरी तबीयत के बारे में निराशा के उद्गार प्रकट किये और हवा बदलने के लिए मुझे अकोला ले जाने के बारे में चर्चा की। बालूभाई के दिमाग पर इन सारी बातों का बहुत बड़ा बोझ आ पड़ता था। रात को मेरे पास आकर बैठे, तो वहे खिन्न दीख रहे थे। परन्तु बातें करते-करते मुझे नींद आ गयी। बालूभाई भी मेरे पास से उठकर सोने के लिए चले गये। मेरी आँख लगे कुछ ही समय हुआ होगा कि कुछ

शोर हुआ और मेरी नींद खुल गयी। बालूभाई जोर-जोर से चीख मारकर चिल्ला रहे थे और सिर में दर्द होने की शिकायत कर रहे थे। वे आँखें भी नहीं खोल सकते थे और न बैठ सकते थे। एक-दो कै भी हुई। मुझे लगा कि लू लग गयी होगी। नीचे से डॉक्टर को बुलाया और तात्कालिक उपचार किये। परन्तु सारी रात उन्हें बड़ी बेचैनी रही। दूसरे दिन डॉ० दलाल उनकी जाँच करने के लिए आये। परन्तु कोई निश्चित निदान नहीं हो सका। मेरी सतत बीमारी के बावजूद एक रात में बालूभाई मुझसे भी अधिक अशक्त हो गये। अन्त में यही निश्चय किया कि हम दोनों वायु-परिवर्तन के लिए अकोला जायें। अकोला में वहाँ के डॉक्टर के इलाज से धीरे-धीरे बालूभाई की तबीयत सुधर गयी। मैंने वहाँ कालज्ञाना की टिकियाँ लेना शुरू कर दिया। वे मुझे अनुकूल पड़ी। तीसरे ही दिन मेरा लम्बा बुखार उतर गया। खाँसी और दमा भी जाता रहा। मेरा वजन बहत्तर पौंड तक पहुँच गया था, सो अब वह भी तेजी से बढ़ने लगा। दोनों भाई धीरे-धीरे कुछ चलने-फिरने लगे। बालूभाई तो एक-डेढ़ मील घूम भी लेते। उनका वजन भी पहले की तरह हो गया। अतः फिर बम्बई जाने की उत्सुकता उन्हें होने लगी। सबको लगा कि अब कोई चिन्ता की बात नहीं है। वे बम्बई जा सकते हैं। पहले श्रावण की अष्टमी या नवमी के दिन वे बम्बई गये, परन्तु मानो वहाँ वे अपने बच्चों से मिलने के लिए ही घर गये हों। एकादशी के दिन सबेरे मंदिर हो आये। उनकी तबीयत अच्छी होते देखकर सब रिश्तेदारों को आनन्द हुआ। उस दिन बहुत से मित्र आये और मिल गये। शाम को छह-सात बजे तक हिस्सेदारों और कारकूनों से उन्होंने बातें कीं। फिर फूलों का पलना बाँधकर ठाकुरजी को झुलाया और इसके बाद एकाएक 'सिर में दर्द' ऐसा कहकर जोर से चीख मारकर वे गिर पड़े। उन्हें बिस्तर पर लिटाया और डॉक्टरों को बुलाया गया। परन्तु डॉक्टरों के पहुँचते-पहुँचते वे बेहोश हो गये। उनका बायाँ अंग लकवे से सुन्न हो गया। रात के ग्यारह बजे उनकी यातनाएँ समाप्त हुईं और हमें अकोला तार से समाचार मिला।

"इस प्रकार बालूभाई के जीवन का अन्त हुआ। वे कुछ अव्यवस्थित, परन्तु परिश्रमी थे। वासनायुक्त होने पर भी धार्मिक थे। श्रद्धालु और

भक्तिपूर्ण थे। कुछ उतावलापन भी था, परन्तु उनका अंतःकरण प्रेम से लबालब था। धन के प्रेमी तो थे, परन्तु उदार भी वैसे ही थे। बहुत किफायत करते परन्तु मौका आने पर अपनी शक्ति से बाहर भी खर्च कर देते। वर्णाभिमान और जाति का अभिमान भी उनमें था, परन्तु समदृष्टियुक्त थे। इस प्रकार के सरल, दयालु और परोपकारी भाई हमसे छिन गये।

बालूभाई को पढ़ने का बहुत शौक था। पुस्तकों के बड़े शौकीन। पुस्तक पसन्द आयी कि खरीदी। यह आदत थोड़ी-बहुत हम सबमें है। इस कारण हमारे यहाँ दो-तीन आलमारियाँ तो केवल पुस्तकों से ही भरी रहतीं। बीच-बीच में इनकी छटनी भी होती रहती और आलमारियाँ बहुत कुछ खाली हो जातीं। परन्तु फिर जल्दी ज्यों की त्यों भर जातीं। यह कुलधर्म जहाँ-जहाँ भी मैं रहा, बराबर जारी रहा है। सैकड़ों रुपये की किताबें हमने बिगाड़ी होंगी। कई बार ये भिन्न भिन्न संस्थाओं को बाँट दी गयी। कितनी ही पुस्तकें रद्दी में चली गयी। परन्तु हमारी आलमारियाँ कभी खाली नहीं रहतीं। उनमें नित नवीनता रहती है। यह हमारी विशेषता है। कोई यह न समझे कि भाई (पिताजी) द्वारा खरीदी हुई किताबों को हम लोग पढ़ लें, तभी नयी किताबें आयें। इसी प्रकार बालूभाई का, नानाभाई का या मेरा संग्रह भी नीलकण्ठ के काम में आ ही जायगा, ऐसी बात नहीं है। हरएक का संग्रह स्वतन्त्र होता है।

'जैसा कि मैंने अन्यत्र बताया है बापू के साथ हमारा सम्बन्ध बालूभाई ने अपने ऐनकदान से शुरू किया। वह बन्धुदान (किशोरलाल भाई आश्रम में गये, तब से), कन्यादान (नानाभाई की लड़की सुशीला बहन का विवाह बापू के दूसरे चिरंजीव मणिलाल भाई के साथ हुआ है) और पुत्रदान (बालूभाई के दूसरे लड़के सुरेन्द्र को बापू की पोती मनु बहन दी गयी है) तक जा पहुँचा है।

"बीच में एक-आध वर्ष छोड़कर मेरे आश्रम निवास का सारा खर्च जब तक बालूभाई थे, उन्होंने उठाया। एक वर्ष मैंने ही आग्रहपूर्वक आश्रम से खर्च लिया था।"

किशोरलाल भाई ने आश्रम से खर्च लेना शुरू किया, यह बालूभाई को

जरा भी पसन्द नही था। उन्होने इसकी शिकायत नाथजी से की। इस बात का वर्णन नाथजी ने बडे सुन्दर ढग से किया है :

"एक दिन मै वसई में था, तब एक अपरिचित गृहस्थ मुझसे मिलने आये। खादी के कपडे और सादगी के संपूर्ण नमूने के रूप में उन्हें देखकर मैंने पूछा 'आप कौन हैं और कहाँ से आये हैं ?' उन्होंने कहा 'मेरा नाम है बालूभाई। मैं किशोरलाल का बडा भाई हूँ। बम्बई में व्यापार करता हूँ। हम तीन भाई हैं। किशोरलाल आपकी सुन लेता है, इसलिए आपसे कुछ कहने आया हूँ।' मैंने कहा . 'अच्छा, कहिये।' वे बोले 'दीवाली पर मैं अपने नफे के तीन भाग करता हूँ। इनमें से एक भाग किशोरलाल का होता है। परन्तु वह ये पैसे नही लेता। आश्रम से लेता है। मुझे यह अच्छा नही लगता। घर पर पैसे हैं, तब उसे आश्रम से क्यो लेने चाहिए ? हर साल मैं जो भाग करता हूँ, वह पडा रहता है, इसलिए आप उससे कहे कि वह अपने खर्च के लिए घर से पैसे ले।' उन्होंने मुझसे यह भी पूछा कि 'मेरी बात आपको उचित मालूम होती है न ?' मैंने कहा : 'एकदम उचित है। किशोरलाल भाई से भेंट होगी, तब उनसे मैं आपका सन्देशा कह दूँगा।' बात पूरी होते ही वे बम्बई के लिए चल दिये।

"कुछ दिन बाद मैं आश्रम गया, तब मैंने किशोरलाल भाई को उनके बडे भाई का सन्देश सुना दिया। उन्होंने मुझे समझाया कि 'हमारे पिताश्री शान्त हुए, तब हमारे सिर पर कर्ज का भारी बोझ था। बालूभाई ने अनेक प्रकार का शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाकर अपना धधा चलाया। यह सच है कि अब कोई कर्ज नही रहा और उनके पास कुछ रकम भी हो गयी होगी, परन्तु पिताश्री के समय का कर्ज चुकाने में मैंने किसी प्रकार हाथ नही बँटाया। इसलिए बालूभाई ने अपने कष्ट से जो रकम एकत्र की है, उसमें से कुछ स्वीकार करना मुझे उचित नही मालूम होता। मैं सार्वजनिक काम कर रहा हूँ। उसमें से अपने खर्च के लायक कुछ लेने में मुझे कुछ भी बुराई नही मालूम होती। भाई मेहनत करें, चिन्ता करें और इससे उन्हें जो कुछ मिले, उसमें मेरा भी *भाग मानें, यह उनकी भलमनसाहब है। परन्तु मुझे यह उचित नही लगता* कि मैं उनसे कुछ लूँ'।

"मैंने उनसे कहा . ठीक है। आपका कहना वाजिब है।

"बम्बई आने पर फिर बालूभाई से मेरी भेंट हुई। किशोरलाल भाई की बात मैंने उनसे कही। उन्होंने जवाब दिया: 'पिताजी की फर्म उनके शान्त हो जाने के बाद से मैं चला रहा हूँ। ईश्वर की कृपा से अब कोई कर्ज नही रहा और दो पैसे की बचत भी हो जाती है। उसमें सब भाइयो का हिस्सा है। उसमें से किशोरलाल को मैं उसका हिस्सा दूँ, इसमें कौन भलमनसाहत की बात है? अपना हिस्सा वह ले, यह तो न्याय की ही बात है। पिताजी की दूकान को मेरे बजाय कोई गुमास्ता चलाता और आज की भाँति उसमें कोई बचत होती, तो क्या वह मुनाफा गुमास्ते का कहा जाता? जिस तरह हम गुमास्ते को सारा मुनाफा नही दे देते, उसी प्रकार पिताजी की फर्म को मैं चला रहा हूँ, इसलिए वह मुनाफा मेरा भी नही कहा जा सकता।' मैंने कहा: 'आपका कहना सही है'।

"मैं आश्रम गया, तब मैंने फिर किशोरलाल भाई से कहा: आप दो भाइयो के बीच के झगडे को मिटाना कठिन है। इसमें मैं निर्णय नही दे सकता। आपके इस झगडे पर से मुझे युधिष्ठिर के समय का ऐसा ही एक झगडा याद आ रहा है। एक मनुष्य ने अपना खेत किसी दूसरे आदमी को बेच दिया या दान में दे दिया। खेत लेनेवाले को उसमें गडा हुआ धन मिला। उसे लेकर वह खेत के पुराने मालिक के पास गया और बोला कि 'यह लीजिये आपका धन।' पुराने मालिक ने कहा कि 'मैंने तो आपको जब खेत दिया, तब वह सब आपको दे दिया, जो उसमें रहा होगा। अब यह धन मेरा नही हो सकता। यह तो आपका ही है।' उन दो में से एक भी वह धन लेने को तैयार नही था। अन्त में वे दोनों न्याय पाने के लिए युधिष्ठिर के पास गये। आप दो भाइयो के बीच का झगडा भी इसी प्रकार का है। आप दोनों के बीच अप्रतिम बन्धु-प्रेम तथा न्यायनिष्ठा है। इसलिए आपमें से कोई भी दूसरे को दुःखी न करे। मुझे लगता है कि बालूभाई की बात आपको मान लेनी चाहिए।' किशोरलाल भाई ने कहा: 'मुझे तो यह न्याय नही मालूम होता कि मैं ये पैसे लूं। परन्तु बालूभाई को दुःख न हो, केवल इसलिए मैं उनसे कर्ज के लिए पैसे ले लूंगा'।

"बालूभाई से मैं पुनः मिला, तब उनसे सारी बात कही। उन्होंने कहा: 'किशोरलाल को इसमें न्याय नही लगता और यदि वह केवल इसलिए कर्ज

लेना स्वीकार कर रहा हो कि मुझे दु ख न हो, तो यह ठीक नही। उसे जो बात अन्यायपूर्ण मालूम हो, उसे वह न करे। परन्तु मैं तो कहता हूँ कि वास्तव में न्याय की बात तो यही है कि वह मुझसे खर्च ले लिया करे।' यह सुनकर मैंने हाथ जोडकर उनसे प्रार्थना की कि 'अब इस प्रकरण को आप यही समाप्त करें। अब इस विषय में धर्माधर्म की सूक्ष्म चर्चा में आप दो में से किसीको भी पडने की जरूरत नही है। इस तरह के झगडो में फैसला देने का प्रसग आजकल के जमाने में शायद ही कभी प्राप्त होता है। आपने यह काम मुझे सौंपा। परन्तु आप दोनो का प्रेम तथा न्यायपरायणता देखकर मैं इसका निर्णय नही दे सकता।' इस तरह इस मामले से मैं मुक्त हुआ।

"इस प्रकार अनेक प्रसगो पर मशरूवाला कुटुम्ब का पारस्परिक प्रेम तथा नीतिपरायणता मैंने देखी है और इसी कारण इस परिवार के छोटे-बडे सबके साथ मेरा अधिकाधिक प्रगाढ सम्बन्ध होता गया है। बालूभाई, नानाभाई तथा किशोरलाल का पारस्परिक प्रेम, विश्वास और आदर देखकर मेरे दिल मे यही उद्गार निकलते हैं कि धन्य है उनका प्रेम और धन्य है उनका बन्धुत्व!"

उनके दूसरे बडे भाई श्री नानाभाई का परिचय भी यही थोडे में हम दे देते हैं।

ठेठ बचपन से उन्हें दमे का रोग हो गया। इस कारण वे अधिक विद्याभ्यास नही कर सके। परन्तु किशोरलाल भाई ने एक स्थान पर कहा है कि उदारता और बुद्धि में वे हम तीनो भाइयो में बढकर थे। जिस प्रकार उन्होने विद्याभ्यास ठीक तरह से नही किया, इसी प्रकार कोई धधा भी उन्होने नही किया। शुरू में नारणदास राजाराम की फर्म में उन्होने नौकरी की। परन्तु स्वतत्रता का प्रेम उनमें इतना अधिक था कि कुछ ही समय में उन्होने यह नौकरी छोड दी। फिर कुछ दिन बम्बई में फोटोग्राफी का धधा किया। परन्तु उसमें अपने विशाल मित्रवर्ग को मुफ्त में फोटो निकालकर देने के अलावा सच्चे ग्राहक उन्हें बहुत ही कम मिले होगे। इतने में अकोला में मकान बनवाने का विचार हुआ। उसका नक्शा, खर्च का बजट आदि सब उन्होने बनाया और अपनी ही देखरेख में सारा मकान बनवाया। अकोला के इस मकान की बनावट कमल के फूल के जैसी बहुत सुन्दर है। इस बँगले के पास ही एक हाल

बनाकर उसे सार्वजनिक उपयोग के लिए दे दिया गया है। मकान बनाने के इस अनुभव के जोर पर उन्होंने कुछ समय अकोला में मकानों के ठेकेदारी का काम भी किया है। इसमें वे खूब परिश्रम करते। मित्रों तथा ग्राहकों को वे मकान के नकशे खुद बनाकर देते। परन्तु उसका पारिश्रमिक लेने की याद उन्हें कम ही रहती। इसलिए यह काम भी उन्हें छोड़ देना पड़ा। इसके बाद अकोला में जनरल स्टोर्स की दूकान खोली। इसमें भी उधारी बहुत बढ़ गयी और फिर घर की ही दूकान थी, इसलिए घर में अधिक चीजें आने लगीं। परिणाम यह हुआ कि यह दूकान भी बन्द कर देनी पड़ी। इस प्रकार नानाभाई किसी धन्धे में स्थिर न हो सके। हाँ, यदि कोई काम सफलतापूर्वक करने की चिन्ता उन्हें रही, तो वह था समाज-सेवा का काम। पिताजी भी अकोला के सार्वजनिक जीवन में भाग लेते थे। इस कारण वहाँ उनकी अच्छी कीर्ति थी। उनकी इस कीर्ति को नानाभाई की सेवाशीलता ने चार चाँद लगा दिये। अकोला की बहुत सी संस्थाओं के वे सेक्रेटरी अथवा खजाची भी थे। यद्यपि घर के खर्च का हिसाब रखने की उन्हें बहुत टेव नहीं थी, परन्तु वे जिस संस्था के खजाची होते, उसकी पाई-पाई का हिसाब देते और जब खर्च का मेल न बैठता, तब अपनी गाँठ के पैसे देकर हिसाब पूरा कर देते।

इसके अलावा नानाभाई में प्रेम और वात्सल्य तो सदा छलकता ही रहता था। बालूभाई की अपेक्षा उनके सम्पर्क में मैं कम आया। परन्तु दीन-दुखियों के लिए तथा छोटे-से-छोटे लोगों के लिए उनकी आँखों में प्रेम उमड़ते मैंने देखा है।

सन् १९५२ की जुलाई में विजयाभाभी (नानाभाई की पत्नी) शान्त हो गयीं। इस पर किशोरलाल भाई ने एक टिप्पणी लिखी थी। उसमें नानाभाई के लोकोपयोगी और यशस्वी गृहस्थाश्रम का बड़ा सुन्दर चित्र मिलता है। इसलिए यह सम्पूर्ण टिप्पणी हम यहाँ देते हैं :

"श्री विजयालक्ष्मी मशरूवाला मेरी भाभी न होतीं, तो उनकी मृत्यु के विषय में 'हरिजन बन्धु' में लिखते हुए मुझे कोई संकोच न होता। लगभग पचास वर्ष तक उन्होंने हमारे घर का लगभग एक सार्वजनिक संस्था जैसा चलाने में प्रमुख भाग लिया है। उन्होंने एक पुत्र और दो पुत्रियों को सार्वजनिक

जीवन में समर्पित करने का पुण्यलाभ किया है और अपने आतिथ्य तथा महृदयता के कारण अकोला में सार्वजनिक 'बा' (माँ) कहलाने की कीर्ति प्राप्त की है। यहाँ तक कि बहुता को तो 'बा' के अलावा उनका असली नाम भी मालूम नही। सच पूछिये तो उनके विषय मे कुछ लिखते हुए कुछ भी सकोच नही होना चाहिए।

"मेरे माता-पिता अकोला में आकर बसे तब से हमारा अकोला का घर एक प्रकार से सज्जनो का अतिथिघर जैसा बन गया है। माता-पिता की श्रद्धा स्वामीनारायण-सम्प्रदाय में थी। इस कारण सप्रदाय के आचार्य साधु-सत और भक्तजनों आदि के लिए यह अतिथिगृह था। उन्होंने हमारे घर को एक प्रकार से हरि-मदिर बना दिया था। आर्थिक और सार्वजनिक व्यवहारों में भी उनकी प्रामाणिकता, शुद्धि और न्यायबुद्धि के कारण अकोला में उनकी बडी कीर्ति थी। परन्तु उनके बाद मेरे बडे भाई नानाभाई ने अपने जीवन द्वारा उसमें इतनी वृद्धि की कि पिताजी के नाम को लोग भूल गये और अकोला में नानाभाई को ही लोग जानने लगे। उनका सम्बन्ध काग्रेस तथा सब प्रकार की राष्ट्रीय और रचनात्मक प्रवृत्तियो के साथ होने के कारण अब दूसरे प्रकार के अतिथि हमारे घर पर आने लगे। परन्तु आतिथ्यशीलता की परम्परा तो वही कायम रही। स्वामीनारायण-मदिर के आचार्य और साधु-सन्तों के अतिरिक्त अब पू० बापू, श्री विट्ठलभाई पटेल, सरदार वल्लभभाई, पण्डित मोतीलाल नेहरू, डॉ० अन्सारी, श्री राजगोपालाचार्य—आदि काग्रेस के अनेक नेताओं और छोटे-बडे कार्यकर्ताओं का आतिथ्य करने का यशलाभ उन्होंने किया। हमारे मकान के पडोस में ही पिताजी के इच्छानुसार 'स्वामी-नारायण-धर्मभवन' के नाम से एक हाल बनाया गया था। वह छोटी-छोटी खादी-प्रदर्शनियो, छोटी सभाओ, कार्यकर्ताओं की बैठको और ठहरने के स्थान के रूप में वर्षों तक काम आता रहा। इसके बाद वह नेताओ के बजाय ऐसे छोटे-छोटे कार्यकर्ताओं के ठहरने के लिए एक निश्चित स्थान बन गया, जिनका कोई हाल नही पूछता था और जिनके लिए होटल या धर्मशाला के अलावा ठहरने का कोई स्थान ही नही था। मेरे बडे भाई के समय मे [illegible] साधनवाली सस्था नही बनी थी। इसके अलावा लोगों के मन में डर

रहता था। यों अकोला में अनेक बड़े व्यापारी और वकील भी थे, परन्तु वे सब अपने यहाँ कांग्रेस के नेताओं को ठहराने में डरते थे। इसके बाद जब कांग्रेस की स्थिति सुधर गयी और उसके पास साधन हो गये, तब बड़े नेताओं की व्यवस्था तो होने लगी, परन्तु रचनात्मक कार्यकर्ताओं तथा गाँवों में काम करनेवाले तरुण कार्यकर्ताओं के ठहरने के लिए अकोला में कोई स्थान नहीं था। इस संधिकाल में मेरे बड़े भाई शान्त हो गये। तब मेरे बड़े भतीजे शान्तिलाल (बचुभाई) ने उनका स्थान ले लिया। वह मुझसे भी अधिक कमजोर था। परन्तु उसने इस कमजोरी की हालत में भी अपने छोटे-से जीवन-काल में जो काम किया तथा सन् १९४२ में घर के अन्दर बैठे-बैठे इतने जोर से आन्दोलन चलाया कि उसकी उस मरणासन्न अवस्था में भी सरकार ने उसे सवा-डेढ़ वर्ष कैद में रखा। इसने मेरे बड़े भाई के नाम को भुलवा दिया और अब अकोला में बचुभाई का ही नाम सबकी जबान पर चढ़ गया।

"हमारे घर में इन सब कामों में योग देनेवाली स्त्रियों में अकेली विजया भाभी ही थीं। बहुओं की मदद तो उनको इधर-इधर अन्तिम वर्षों में ही मिलने लगी। लगभग १३ वर्ष की उम्र में वे इस घर में आयी और ६५ वर्ष की उम्र में ता० ८-७-'५२ को उनकी मृत्यु हुई। शुरू के चार-पाँच वर्ष छोड़ दें, तो शेष सारे समय में घर की सारी जिम्मेवारी उनके सिर पर थी। यह भाई शान्तिलाल की मृत्यु के बाद भी उन्होंने जारी रखी। परिणामस्वरूप उन्होंने स्वतन्त्र रूप से मेरे पिताजी, भाई और भतीजों के समान ही कीर्ति प्राप्त की।

"उनकी बड़ी लड़की सुशीला अपने पति अर्थात् गांधीजी के दूसरे पुत्र श्री मणिलाल गांधी का साथ दक्षिण अफ्रिका में दे रही हैं। दूसरी लड़की तारा नागपुर-विदर्भ प्रान्त में कस्तूरबा ट्रस्ट का संचालन कर रही है। दो अन्य लड़कियाँ भी अपने-अपने ढंग से परिवार को सँभालने के उपरान्त सार्वजनिक कामों में बराबर रस ले रही हैं। ऐसे परिवारों का योगक्षेम तो भगवान् ही चलाता है और ऐन वक्त पर मददगार मित्रों को मदद के लिए भेज देता है। उनकी मदद से परिवार का पालन हो जाता है। नहीं तो ऐसे काम केवल पैसे के बल पर मनुष्य करने लगें, तो स्वार्थियों से ही निभ सकते हैं।"

◆◆◆

सन् ३०–'३२ का सत्याग्रह-संग्राम : ११ :

सन् १९२८ की कडी बीमारी से उठने के बाद जब श्री किशोरलाल भाई विचार करने लगे कि अब क्या करना चाहिए तो उन्हें लगा कि यदि विले पार्ले की राष्ट्रीय शाला में काम करेंगे, तो बम्बईवाले घर पर आसानी से नजर भी रखी जा सकेगी और भाई बालूभाई के बच्चों को जरूरत पडने पर सलाह-सूचना आदि की मदद भी दी जा सकेगी। इसलिए उन्होंने विले पार्ले की शाला में काम करने का निश्चय किया। वहाँ उन्होंने एक वर्ष काम किया होगा कि इतने में नमक-सत्याग्रह का युद्ध छिड गया। राष्ट्रीय शाला को सत्याग्रह की छावनी का रूप दे दिया गया और सेठ जमनालाल बजाज, बालासाहब खेर, स्वामी आनन्द, श्री बादरेकर आदि उसमें शरीक हो गये। किशोरलाल भाई और गोमती बहन भी तो थी ही। छावनी में शामिल होते समय दोनों ने प्रण किया था कि जब तक लडाई जारी रहेगी, घर नहीं लौटेंगे। किशोरलाल भाई, जमनालालजी आदि ने ता० ६ अप्रैल को नमक बनाकर सत्याग्रह प्रारम्भ किया। वे गिरफ्तार कर लिये गये और बादरा के मैजिस्ट्रेट की अदालत में उन पर मुकदमा चला। श्री जमनालालजी तथा विले पार्ले के प्रमुख कार्यकर्ता श्री गोकुलभाई भट्ट भी किशोरलाल भाई के साथ ही गिरफ्तार किये गये थे। किशोरलाल भाई ने अदालत के सामने अपना बयान पढ सुनाया और तीनो व्यक्तियों को दो-दो वर्ष की कडी कैद और कुछ जुर्माने की सजा दी गयी। जुर्माना न देने पर डेढ-डेढ महीने की और अधिक कैद भुगतने की सजा थी। पहले तो वे थाना-जेल में रखे गये, परन्तु बाद में तीनों नासिक सेंट्रल जेल भेज दिये गये। किशोरलाल भाई पहले तो 'अ' श्रेणी में रखे गये, परन्तु नासिक जाने पर 'ब' श्रेणी में कर दिये गये। किशोरलाल भाई जब नासिक आये, तब मैं नासिक-जेल में ही था। इसलिए लगभग आठ महीने पास-पास बिस्तर लगाकर हमें रहने का अवसर मिला। नासिक-जेल में कितने ही समाजवादी तथा कम्युनिस्ट मित्र भी थे। उनके साथ हमारी खूब चर्चाएँ होती थीं।

फलस्वरूप हम दोनों ने समाजवादी और साम्यवादी साहित्य का अच्छा अध्ययन कर लिया और किन-किन मुद्दों में गांधी विचार के साथ वे मिलते हैं तथा किन किन मुद्दों में अलग हैं, इसकी एक सारिका भी हमने बना ली। कम्युनिस्ट लोग अपने विचारों के प्रचार के लिए वर्ग लेते थे। हमने भी गांधी-विचार के वर्ग शुरू कर दिये। साम्यवादी कार्यकर्ता तथा उनके भाषण सुनने के लिए जानेवाले लोग हमारे वर्गों में भी आ सकें, इसलिए हमने अपने भाषणों का समय भी अलग रख दिया। कई बार हम भी साम्यवादियों के भाषण सुनने के लिए जाते। हमारे विचार भिन्न होने पर भी उनके साथ हमारा सम्बन्ध बहुत मधुर तथा मैत्रीपूर्ण हो गया।

उस समय किशोरलाल भाई की 'जीवन-शोधन' नामक पुस्तक का पहला संस्करण प्रकाशित हो चुका था। इसलिए किशोरलाल भाई 'जीवन-शोधन' का भी एक वर्ग लेते थे। इसके अतिरिक्त इसी सजा में किशोरलाल भाई ने मोरिस मिटर्लिंक की 'The life of the white ant' नामक पुस्तक का अनुवाद (उधईनु जीवन) किया। मैंने क्रोपाटकिन के 'Mutual aid' नामक पुस्तक का 'सहायवृत्ति' नाम से अनुवाद किया। अनुवाद में हम दोनों एक-दूसरे की अच्छी तरह मदद लेते थे।

हम दोनों की सजाएँ तो लम्बी थी, परन्तु मार्च १९३१ में गांधीजी और वाइसराय के बीच सुलह हो जाने से ता० ८-३-१९३१ को सजा की अवधि पूरी होने से पहले ही हम छोड़ दिये गये।

गोमती बहन की भी इच्छा थी कि अवसर मिलते ही वे जल्दी-से-जल्दी जेल जायँ। परन्तु वे गिरफ्तार नहीं की गयी। इसलिए उन्हें लम्बे समय तक विले पार्ले की छावनी में रहना पड़ा। अन्त में उन्हें चार महीने की सजा हुई और वे 'क' श्रेणी में रखी गयी। उस समय का वर्गीकरण बड़ा विचित्र था। वास्तव में वर्गीकरण मनुष्य का बाहर का दर्जा और रहन-सहन देखकर करना चाहिए। परन्तु पिता-पुत्र, सगे भाई तथा पति-पत्नी को अलग-अलग वर्गों में रखा जाता था।

सुलह हो जाने के बाद भी विले पार्ले की छावनी चालू रही। क्योंकि यह निश्चय नहीं था कि यह सुलह स्थायी रहेगी या फिर लड़ाई शुरू हो जायगी।

इसलिए विद्यापीठ में भी हमने सात महीने का एक अभ्यासक्रम बनाकर एक वर्ग चलाया और उसका नाम 'स्वराज्य विद्यालय' रखा। इसी प्रकार विले पार्ले की छावनी में भी 'गाधी विद्यालय' के नाम से एक वर्ग शुरू किया था। इसमें विद्यार्थियो को गाधीजी के विचारो का परिचय देने का काम किशोरलाल भाई को सौंपा गया था। उसके लिए जो तैयारी की गयी, उसमें से 'गाधी-विचार-दोहन' नामक पुस्तक का जन्म हुआ।

वाइसरॉय लार्ड इरविन (अब के लार्ड हैलिफैक्स) ने गाधीजी के साथ जो सुल्ह की, वह सिविल सर्विस के अधिकारियो को शुरु से ही अच्छी नही लग रही थी। लार्ड इरविन का कार्यकाल समाप्त होने पर लार्ड विलिंग्डन वाइसरॉय बनकर आ गये। अधिकारियो को उनका सहारा मिला। इसलिए उन्होने सुलह को तोड-ताडकर फेंकनेवाले अनेक कृत्य किये। इस कारण गाधीजी ने गोलमेज-परिषद् में जाने के अपने विचार को बदल दिया। फिर भी वे गोलमेज-परिषद् में गये और किस प्रकार असफल होकर वहाँ से लौटे, यह सारा प्रकरण कहना यहाँ ठीक न होगा। इग्लैंड से गाधीजी के लौटने पर ता० ४-१-१९३२ के दिन वे फिर गिरफ्तार कर लिये गये और उसके दूसरे दिन सारे देश के प्रमुख नेताओ तथा कार्यकर्ताओ को समेट लिया गया। इसमें किशोरलाल भाई भी पकड लिये गये। उन्हें जब सजा सुनाई गयी, तो उन्होने नीचे लिखा बयान अदालत में पढा, जो उनके स्वभाव का द्योतक है

"लापरवाही से अथवा पूज्य गाधीजी या काग्रेस के प्रति अपनी केवल वफादारी से प्रेरित होकर मैं फिर से विनय-भग करने के लिए तैयार नही हुआ हूँ। मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि ब्रिटिश और भारतीय जनता के बीच के इस कलह के परिणाम अत्यन्त गम्भीर होंगे—इतने गभीर कि शायद ही आज तक ससार ने कभी देखे हो।

"स्वभाव से मैं कोई राजकीय पुरुष या लडाकू व्यक्ति नही हूँ। सस्कारो से तथा अपने निजी विश्वास से भी मैं कलह को धिक्कारनेवाला और मानव-मात्र की एकता को माननेवाला हूँ। इस कारण ससार की कमजोर-से-कमजोर जनता ससार की सबसे अधिक पशुबलवाली जाति के विरुद्ध केसरिया बाना पहनकर युद्ध के मैदान में उतरे, यह कल्पना न तो मेरे खून को ठढा करती

और न उसमें गरमी ही ला रही है। परन्तु मनुष्य जितनी एकाग्रता से सोच सकता है, उतना सोचने के बाद मुझे यही लगता है कि मेरे सामने केवल एक भारतीय के नाते ही नहीं, बल्कि एक मानव-सेवक और ईश्वर के एक भक्त के नाते भी यह कठोर कर्तव्य करने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं है।

"मुझे लगता है कि यदि मानव-जाति को अकथनीय क्रूरता और अत्याचार के दृश्यों से बचाना है, तो उसका केवल एक ही मार्ग है—वह यह कि यज्ञ के इस कुण्ड में जहाँ तक सभव हो, केवल पवित्र आहुतियाँ ही दी जायँ, क्योंकि पवित्र अथवा पवित्रता के लिए प्रयत्नशील प्राणी का आत्म-बलिदान शायद अन्य हजारों प्राणियों की रक्षा करने में सहायक सिद्ध हो।

"कम-से-कम आज तो ब्रिटेन के भाग्य-विधाता ने भारत का भुखमरी से बचने और स्वाभिमान के साथ जीवन व्यतीत करने के दावे को मानने से इनकार कर ही दिया है। थोड़े में कहा जाय, तो कांग्रेस का दावा इससे अधिक कुछ नहीं है। ब्रिटेन के भाग्य-विधाता ने इस दावे को मानने से केवल इनकार ही नहीं किया है, बल्कि उसने यह भी निश्चय किया है कि जो इस तरह का दावा करने की धृष्टता करेगा, उसे भी वह कुचल देगा। वह चाहता है कि भारत की लूट को केवल जारी ही नहीं रहने देना चाहिए, बल्कि लुटते हुए भारत को इसमें हँसते भी रहना चाहिए। भारत को कुचलने की अपनी शक्ति में अत्यन्त विश्वास होने के कारण इस भाग्य-विधाता को ऐसा भी लगता है कि पिछली बार इस शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग न करके उसने भूल की और इसलिए अबकी बार ऐसा करने के लिए वह अधीर हो गया है।

"इन तमाम चिह्नों को देखकर अब ऐसा अनुमान करने में कोई हर्ज नहीं दीखता कि भारत में हमारे जीवन का अत्यन्त करुण प्रसंग अब आनेवाला है।

"मुझे ऐसा लगता है कि अंग्रेज जाति का भला चाहनेवाले और उनके हाथ मृत्यु आये, तो भी उन्हें ईश्वर के आशीर्वाद प्राप्त हों, ऐसी प्रार्थना करनेवाले जो थोड़े-से व्यक्ति भारत में हैं, उनमें से मैं एक हूँ।

"इस प्रकार की मान्यताएँ होने के कारण मुझे लगता है कि मानव-समाज की सेवा के लिए मुझसे जितना बलिदान दिया जा सकता है, मुझे देना चाहिए। इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। परमात्मा के तरीके अगम्य

होते है। इतिहास बताता है कि मानव-जाति को प्रगति के मार्ग पर आगे बढने देने से पहले उससे वह ऐसे बलिदान लेता ही आया है।

"इन विचारो का सार यह भी है कि हमें जो उद्देश्य सिद्ध करने है, उनके लिए केवल जेल की सजा भोगना पर्याप्त बलिदान नही है। इससे अधिक कष्ट उठाने का सौभाग्य भी मुझे मिले, ऐसी मेरी इच्छा है। परन्तु यह पसदगी भी मेरे हाथ में नही है। इसलिए मुझे तो यही श्रद्धा रखनी पडती है कि मेरे लिए ईश्वर ने जो योजना की है, वह उन्होने अधिक-से-अधिक समझ-कर ही की होगी।

"भारत को कुचलने के ये प्रयत्न हो रहे है, फिर भी मेरे मन में यह आशा तो है ही कि भारत का उद्धार अवश्यभावी है। हाँ, इसके लिए उसे अवश्य ही भारी कीमत चुकानी पडेगी। किन्तु इस युद्ध के परिणामस्वरूप भारत का विनाश नही होगा। परन्तु यदि ब्रिटेन का भाग्य-विधाता आज की नीति पर ही काम करता रहेगा, तो मुझे यही भय हो रहा है कि ब्रिटेन की भावी जनता अपने लिए इतने बडे विनाश को निमन्त्रण दे देगी कि जितना आज तक ससार में किसी कौम का नही हुआ होगा। इस भयकर विनाश को रोकने में मेरी आहुति यदि किसी प्रकार सहायक हो सके, तो मैं इसे अपना सौभाग्य मानूँगा। परन्तु हमें तो यही समाधान मान लेना है कि उसकी इच्छा मे हमारी इच्छाएँ आ ही जाती है।"

किशोरलाल भाई को दो वर्ष की सजा हुई। इस अवधि का प्रारम्भिक भाग उन्होने थाना में काटा और शेष बडा भाग नासिक में।

सन् १९३० में जब उन्हें सजा हुई थी, तब उन्होने शुद्ध खादी के कपडो की माँग की थी। वह मजूर नही हुई, इस कारण उन्होने शाम का भोजन छोड दिया था। सुपरिंटेंडेंट ने हमसे कहा कि आप सब चरखा चलाकर मुझे जल्दी सूत दे देंगे, तो उसे बुनवाकर मै किशोरलाल भाई के लिए कपडे बनवाकर दे सकता हूँ। हमने पद्रह दिन में ही सूत कातकर दे दिया। उसके कपडे मिलते ही किशोरलाल भाई ने शाम को भोजन लेना शुरू कर दिया। कपडो का भण्डारी डिप्टी जेलर समझदार था। उसने ये कपडे अलग रख छोडे थे। इसलिए जब दूसरी बार किशोरलाल भाई नासिक गये, तब उन्हें कोई तक्लीफ नही हुई। यही कपडे उन्हें मिल गये।

सन् १९३० के जेल-प्रवास में भी वे अक्सर बीमार रहते और उन्हें अस्पताल में दिन काटने पड़ते। परन्तु दूसरी बार की जेल में तो उन्होंने अधिकांश सजा अस्पताल में ही काटी। 'गांधी-विचार-दोहन' के अलावा गांधी विद्यालय के लिए गीता के अभ्यास को सरल करने की दृष्टि से उन्होंने 'गीता-मन्थन' नाम की एक पुस्तक शुरू की थी। वह इस बार की सजा में पूरी हो गयी।

सितम्बर १९३२ में इंग्लैंड के प्रधान मंत्री रैम्से मॅक्डोनल्ड ने अपना साम्प्रदायिक निर्णय दिया। इसमें हरिजनों के लिए अलग मतदान-मंडल की योजना करके उन्हें हिन्दू-समाज से अलग कर दिया। निर्णय के इस भाग को रद्द करने के लिए गांधीजी ने उपवास शुरू कर दिया था। इस प्रसंग पर गांधीजी ने किशोरलाल भाई को एक पत्र लिखा था। यह पत्र और इस पर किशोरलाल भाई का उत्तर इस प्रकार है :

यरवदा जेल, पूना

ता० २१-९-'३२

चि० किशोरलाल,

मेरा यह कदम तुम्हें नीतियुक्त लगा या नहीं, यह जानने की इच्छा तो है ही। नाथ को शंका है। उन्हें मैंने उत्तर दे दिया है। तुमने सोचा हो, तो लिखना। यदि कदम धर्म के अनुसार लगे, तो हमारे लिए यह आनन्दोत्सव है, यह तो तुमने समझ ही लिया होगा।

वल्लभभाई की संस्कृत के विषय में तुम्हें जो भय है, उसके लिए कोई कारण नहीं है। वल्लभभाई से उनकी देहाती गुजराती को तो कोई छीन ही नहीं सकता। उस प्रवाह को संस्कृत अधिक मजबूत करेगी और इस उम्र में वे जो भगीरथ प्रयत्न करते हैं, हमारे लिए तो यही उन्हें बधाई देने की चीज है। दूसरा असर विद्यार्थी-वर्ग पर पड़े बिना नहीं रह सकता। संस्कृत हमारी भाषा के लिए गंगा नदी है। यदि यह सूख जाय, तो मैं मानता हूं कि सारी भाषाएं निर्माल्य हो जायं, ऐसा मुझे लगता ही रहता है। मैं समझता हूं कि इसका सामान्य ज्ञान आवश्यक है।

मुझे ऐसी सहूलियत मिल गयी है कि तुम मुझे तुरन्त लिख सकते हो।

बापू के आशीर्वाद

सेंट्रल जेल, नासिक
ता० २४-९-'३२

पूज्य बापूजी की सेवा में,

इस प्रसग पर हम आपको कैसे लिखें, यह हमें सूझ ही नही रहा था। और मै तो आज सोच रहा था कि यदि इस महीने कोई मिलने के लिए न आये, तो मै अपने इस विशेष अधिकार का उपयोग कर लूं। परन्तु अब इसकी जरूरत नही रही।

आपके उपवास का सकल्प प्रकट होने के बाद दो-तीन दिन मै आपके हृदय और विचार-सरणी का पता नही लगा सका, इसलिए चिन्तित रहा। परन्तु बाद में एक रात में ऐसा लगा, जैसे आपका यह कदम मेरी समझ मे आ गया। इसलिए मन स्वस्थ हो गया। परन्तु अभी भी यह तो लग ही रहा है कि यह कदम भय से खाली नही है। अहमदाबाद के मिल-मजदूरो की हड़ताल के दिनों में आपने जो उपवास किया था, उसमें मिल-मालिकों के प्रति कर्तव्य की दृष्टि से उस उपवास में जो दोष कहा जा सकता था, उस दोष से यह उपवास मुक्त है, ऐसा नही लगता। इस उपवास के कारण यदि आपके शरीर को खतरा उपस्थित हो गया, तो डॉ० अम्बेडकर ने जिस खून-खराबी और छूत-अछूत जातियो के बीच द्वेष फैलाने का भय प्रकट किया है, वह भय मुझे भी लगता है। यह भी सत्य है कि आपके उपवास से उनकी स्थिति—जैसा कि उन्होने बताया है—विषम (unenviable) हो सकती है। परन्तु जेल में तो इस कदम के सिवा आपके सामने कोई चारा ही नही था। इग्लैंड से लौटते ही आपकी स्वतन्त्रता का अपहरण करके सरकार ने आपको लाचार बना दिया था। इस कारण इस कदम की धर्ममयता के बारे में शका के लिए अब कोई गुजाइश ही नही रही और एक बार जब यह सिद्ध हो जाता है कि यह कदम धर्मयुक्त है, उसके बाद इसके कुछ अनिष्ट परिणाम भी हो सकते है, तो भी इस विचार से इस कदम को [illegible] नहीं जा सकता है। फिर तो यही कहना पड़ता है कि—'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता।'

यह सब तो मेरे मन की कलाबाजी है। वही लिख दी है। इसके उपरान्त

तो कविवर रवीन्द्रनाथ ने आपको जो सन्देश भेजा है, वह मुझे बहुत उपयुक्त लगा। मेरे मन की भावना भी वैसी ही है।

× × ×

इस प्रसग पर मन में तो ऐसा लग रहा है कि उडकर आपके पास पहुँच जाऊँ। इसे आप क्षम्य मानेंगे। कभी-कभी इस विचार से निराशा-सी होने लगती है कि कुछ ही महीने सही—आपके निकट सहवास में रहने की अभिलाषा कही मन-की-मन में तो नही रह जायगी और सयोग भी ऐसे रहे कि आपकी ऐसी तपश्चर्या के दिनो में तो मुझे हमेशा आपसे दूर ही रहना पडा। आपके उपवास के दिनो में प्रतिदिन एक हजार गज सूत कातने का विचार किया था। दो दिन उसके अनुसार काता भी, परन्तु कल से तो बायाँ हाथ खीच ही नही सकता। इस कारण मन-की-मन में रह गयी।

सरदार के सस्कृत के अध्ययन के बारे में मेरे मन में कम आदर नही है। वह तो मैंने कुछ विनोद में लिख दिया था।

यहाँ के भाई अत्यन्त विनयपूर्वक आपको प्रणाम लिखवा रहे है। वे भी अपने-अपने ढग से कुछ अलग-अलग सकल्प कर रहे है और भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं कि उपवास आनन्दपूर्वक परिपूर्ण हो जाय।

अपने मन की स्थिति तो क्या कहूँ! बहुत बार तो लगता है कि सब कुशलपूर्वक पार हो जायगा। परन्तु कभी-कभी मन में डर भी लगता है। तब यह कल्पना असह्य हो जाती है। परन्तु मेरी मनोरचना ही कुछ इस ढग की है कि मैं बहुत बेचैन नही होता। इसलिए ऊपर से किसीको पता नहीं चलता कि मेरे मन में अशान्ति है। अपने मन को कुछ-कुछ इस प्रकार विनोद-पूर्वक समझा देता हूँ कि अहिंसा का अर्थ है—द्वेष होते हुए भी न मारना अथवा प्रेम से प्रेमी को मारना!

'न त्वह कामये' इत्यादि मन्त्रो का आपने हमेशा जप किया है। इसके गुजराती अनुवाद में मैंने दूसरी पक्ति में कुछ फेरफार किया है। वह इस समय आप पर अधिक अच्छी तरह लागू होती है :

ना हूँ इच्छूं स्वर्ग वा इहि ऋद्धि,
ना हूँ इच्छूं जन्म मृत्यू भी मुक्ति।
हूँ तो इच्छूं सर्व मारूँ सदामे,
को प्राणीना दु खनाशार्थ थामे॥

कामये जीवित मे स्यार्दतिनाशाय प्राणिनाम्। पहली प्रार्थना (कामये दु खतप्तानाम् प्राणिनामर्तिनाशनम्) तो ससार में केवल एक इच्छा के रूप में रह सकती है। यह प्रार्थना हमारे जैसे नही, तो आपके जैसे सच्ची करके वता सकते हैं।

और अधिक लिखकर आपका बोझ नही बढाऊँगा।

आपका सदैव कृपाकित
किशोरलाल के दण्डवत् प्रणाम

ता० ५-१०-१९३३ को दो वर्ष की सजा पूरी करके वे छूटे। वे जेल से ही बीमारी लेकर निकले। इसके लिए लगभग बारह महीने उन्हें वम्बई, देवलाली और अकोला में काटने पडे। कुछ ठीक होने पर अगस्त १९३४ में वे वर्धा गये और नवम्वर में गाधी-सेवा-सघ के अध्यक्ष बनाये गये। ◆◆◆

गांधी-सेवा-संघ के अध्यक्ष : २० :

सन् १९३४ के उत्तरार्द्ध में बीमारी से कुछ अच्छे होने पर किशोरलाल भाई के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि अब कहाँ रहना चाहिए और क्या काम करना चाहिए। जमनालालजी उन्हें वर्धा खींच रहे थे। बापू ने हरिजन-यात्रा पूरी करके वर्धा को अपना स्थायी निवास-स्थान बना लिया था। काका साहब भी वर्धा के पास के किसी गाँव में रहने का विचार कर रहे थे। किशोरलाल भाई सन् १९३४ के अगस्त में वर्धा गये। उस समय गाधी-सेवा-सघ की पुनर्रचना के विचार वहाँ चल रहे थे। जमनालालजी इस सघ के अध्यक्ष थे। परन्तु वे यह महसूस कर रहे थे कि गाधी-सेवा-सघ जैसी गाधीजी के आदर्शों को अर्पित सस्था का अध्यक्ष होने की योग्यता उनमें नही है। अब तक गाधी-सेवा-सघ केवल उसके सेवकों का ही सघ था। परन्तु इन सेवकों के अतिरिक्त भारत में ऐसे बहुत-से मनुष्य थे, जो गाधीजी के विचारो का अनुसरण करने का यत्न कर रहे थे। इसलिए जमनालालजी चाहते थे कि ऐसे विचारवाले सभी भाई-बहनों को सगठित कर लिया जाय। उन्हें लग रहा था कि कोई त्यागी अथवा विवेकी पुरुष ही ऐसे सघ के अध्यक्ष-स्थान पर शोभा दे सकता है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के कई नामों पर विचार किया गया। अत में किशोरलाल भाई का नाम ही पसन्द किया गया।

यह पद स्वीकार करने में किशोरलाल भाई के सामने कई कठिनाइयाँ थी। एक तो यह कि वे सदा बीमार रहते थे और रोगी मनुष्य के विचारो पर उसके रोग का कुछ तो असर पड़ता ही है। इस विचार से उन्हें सकोच हो रहा था। दूसरी बात यह थी कि बापू के विचार और उनके विचार कहीं-कहीं मिलते भी नहीं थे। इस बात को बापू जानते थे। दूसरे मित्र भी जानते थे। इसलिए उन्हें यह उचित नहीं लग रहा था कि बापू के विचारों को माननेवाली सस्था के वे अध्यक्ष बनें। फिर भी उन्होंने अध्यक्ष-पद क्यों स्वीकार कर लिया, इस बारे में स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा था कि :

"मनुष्य कभी किसी विषय पर जब अपने विचारों को दृढ कर लेता है, तब उनकी सिद्धि में से वह अपने को बचा नही सकता। यह संस्था किस प्रकार की होनी चाहिए तथा सत्याग्रही समाज का स्वरूप क्या हो सकता है, इस बारे मे सन् १९२८ से मेरे विचार व्यवस्थित हो गये थे। गत जुलाई और अगस्त १९३४ में इन विचारों का कुछ विकास हो गया था।"

संघ के सदस्यों से बापू ने अध्यक्ष-पद के लिए नाम सुझाने को कहा। बहुत से नामो की चर्चा हुई। अन्त में अन्य किसी अधिक योग्य नाम के अभाव में किशोरलाल भाई का नाम मजूर हुआ। इस विषय में वे लिखते है

"रात के आठ-साढे-आठ बजे मैं थक्कर लेटा ही था और आँखें भारी हो रही थी कि इतने में महादेव भाई आये और कहने लगे कि 'बापूजी ने आपका ही नाम पसन्द किया है और आपको इनकार नही करना चाहिए, ऐसा उन्होने कहलाया है।' उन्होने यह भी कहा कि मत-गणना की तफसील आपको नही बताऊँगा। परन्तु इतना ही कहना चाहता हूँ कि आपका नाम बहुत से लोगो ने सुझाया है।' मुझे जो भय था, वह उनके सामने रखते हुए मैंने कहा कि 'यदि कोई दूसरा उपाय ही न हो, तो मैंने अपने मन को इसके लिए तैयार कर लिया है।' महादेव भाई चले गये। इसके बाद जमनालालजी आये। उन्हें मैंने अपना उत्तर सुना दिया। मैंने देखा कि उसे सुनकर उन्हें सन्तोष हुआ। अर्थात दूसरे नम्बर का आदमी मिलने पर जितना सन्तोष हो सकता है उतना ही हुआ होगा।

"बापू से जब मिला, तब मैंने उनके सामने अपनी कमजोरियाँ रख दी। पहले भी कह दिया था कि मेरे निराग्रहो के पीछे मेरे आग्रह भी है।"

दूसरे दिन अर्थात् ता० २९-११-१९३४ के दिन बापू ने सभा में किशोरलाल भाई का नाम अध्यक्ष के रूप में घोषित कर दिया। सबने इसका स्वागत किया। स्वय बापू ने किशोरलाल भाई को सूत की माला पहनाते हुए उन्हें यह जिम्मेदारी सौंपी। किशोरलाल भाई ने अध्यक्ष के रूप में काम करना भी शुरू कर दिया।

इसके बाद गाधी-सेवा-संघ का विधान सोचने और बनाने में — लग गये।

इसके कुछ दिन बाद गाधी-सेवा-संघ का पहला अधिवेशन वर्धा

इसमें केवल सघ के सेवक ही बुलाये गये थे। परन्तु इसके बाद तो दूसरे लोग भी सघ के सदस्य बना लिये गये और सघ का वार्षिक अधिवेशन ऐसे स्थान पर करने का निश्चय किया गया, जहाँ रचनात्मक कार्य अच्छा चल रहा हो। इस निश्चय के अनुसार सघ का दूसरा अधिवेशन महाराष्ट्र चरखा-सघ के मुख्य केन्द्र सावली में सन् १९३६ के फरवरी-मार्च में हुआ। इसमें सघ के सेवकों के अतिरिक्त बहुत से नये सदस्य भी आये थे। अर्थात् इस प्रकार का तो यह पहला ही अधिवेशन था।

अपने अध्यक्षीय भाषण में किशोरलाल भाई ने विस्तारपूर्वक बताया कि रचनात्मक काम करनेवाले ग्राम-सेवकों को कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पडता है। इस भाषण में उन्होंने यह भी बताया कि इनका निवारण उन्हें किस प्रकार करना चाहिए। अधिवेशन लगभग सात दिन चला। इसमें कार्यकर्ताओं ने भी अपनी कठिनाइयाँ और शकाएँ पेश की। 'सघ के कार्यक्रम का आधार जीवन की एक निश्चित निष्ठा होनी चाहिए' इस विषय पर बोलते हुए किशोरलाल भाई ने कहा "सच तो यह है कि अपने देश में पुराने किले की जगह हमें अब नया बनाना है। परन्तु हम जिस पुराने किले में रहते हैं, उसीको नया रूप देना होगा। पुराने किले को पूरी तरह से धराशायी करके हम नया किला नही बना सकते। इसलिए सबसे पहली प्रेरणा हमें यह होती है कि जहाँ-तहाँ थोडी मरम्मत करके हम काम चला लें। परन्तु अनुभव कहता है कि बहुत अधिक मरम्मत की जरूरत है। कुछ भाग तो पूरे तौर पर गिरा देना होगा। इसलिए हम दूसरा रचनात्मक कार्य बना रहे है। परन्तु इसे हम पूरा करते है, तब तक तो हमारा ध्यान इससे भी बडा और अधिक गहरी खराबी की ओर जाता है। इसलिए हम तीसरा कार्यक्रम बनाते है। हमारा प्रगति का मार्ग इस तरह का है। मुझे लगता है कि इस तरह करते-करते हमें मानव-जाति की ठेठ जड तक जाना होगा। मानव-जीवन की असली जड उसकी आध्यात्मिक अथवा धार्मिक दृष्टि में है। इस धर्म-दृष्टि में जब तक सुधार नहीं होगा—अर्थात् इसकी जड में जब तक सुधार नहीं होगा—तब तक समाज की नवरचना अथवा नया सगठन नहीं हो सकता। हमारी—विशेष रूप से हिन्दू-समाज की—आध्यात्मिक दृष्टि शुरू से ही रोगी बन गयी है। हमारे धर्म, अर्थ, काम और

मोक्ष सम्बन्धी व्यवहार भले ही श्रद्धापूर्वक चल रहे हो, परन्तु उनके मूल में जो दृष्टि है, वह रोगी है। इसलिए हमारे कार्य टेढे-मेढे और भ्रान्त हो रहे है। जिस प्रकार हमने निश्चय किया है कि अस्पृश्यता-निवारण, साम्प्रदायिक एकता, स्त्री-जाति का उत्कर्ष, खादी, ग्रामोद्योग आदि में स्वराज्य है, इसी प्रकार हमें किसी दिन यह भी निश्चय करना पडेगा कि अस्पृश्यता, साम्प्रदायिक विरोध, स्त्रियो की दुर्दशा, औद्योगिक विनाश आदि की जड में हमारी गलत धर्म-दृष्टि है। उसे हमें ठेठ जड से सुधारना होगा अर्थात् धर्म का सशोधन करना होगा। इसके लिए हमें तपश्चर्या करनी होगी और इसके द्वारा आध्यात्मिकता तथा धर्म की नयी दृष्टि प्राप्त करनी होगी। फिर इस नवीन दृष्टि को लेकर आज के हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मों को शुद्ध करना होगा अथवा उनके स्थान पर किसी नये धर्म का निर्माण करना होगा। हमारा रचनात्मक कार्य अभी यहाँ तक नही पहुँचा है। अभी हमने जनता के धार्मिक विचार, उसकी भली या वुरी श्रद्धा, अश्रद्धा, अथवा अधश्रद्धा की जडो को स्पर्श ही नही किया है। . . ...

एक पौधा जिस भूमि पर उगता है, उसके गुण-दोषो को वह नही जानता। परन्तु फिर भी उसके विकास पर उस जमीन के गुण-दोषो का असर पडे बिना नही रहता। यह उसकी शाखाओ, पत्तियो, फूलो और फलो पर दीखता ही है। यही वात मनुष्यरूपी पौधे की है। उसके जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति उसकी जमीन के गुण-दोषो का परिचय हमें देती है। इस भूमि से उखाडकर उसे दूसरी जमीन में लगा दीजिये, तो वह एक नया ही आदमी वन जायगा। रोमन कैथोलिक चर्च की जो आध्यात्मिक दृष्टि थी, उसीके आधार पर यूरोप के समाज का स्वरूप बना। मार्टिन ल्यूथर ने इस दृष्टि में जो परिवर्तन किया, उसके परिणामस्वरूप प्रोटेस्टण्ट देशो के समाज के अग-प्रत्यङ्ग में नवरचना हुई। इसलाम को नयी आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त हुई, तब जहाँ-जहाँ भी इसलाम का प्रचार था, वहाँ-वहाँ शुरु की समाज-रचना से भिन्न प्रकार की समाज-रचना हो गयी। हमारे देश की आध्यात्मिक दृष्टि में भी अनेक परिवर्तन हुए है। इस कारण समाज का स्वरूप आमूलाग्र बदल गया है। यह हम इतिहास पर से देख सकते है। बौद्ध दृष्टि के परिणामस्वरूप वैदिक समाज का स्वरूप पूर्णत बदल गया। भागवत सप्रदायो की आध्यात्मिक दृष्टि ने मीमासावादी तथा स्मार्त समाज-

रचना में फेरफार कर डाले हैं। पंजाब को नयी दृष्टि प्राप्त हुई, तो वहाँ सिग-समाज की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार हमारे भारतीय समाज का नवीन जन्म हमारी आध्यात्मिक दृष्टि का संशोधन करने पर ही हो सकता है। जब तक हमें रचनात्मक काम की यह दृष्टि प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक रचनात्मक तथा राजनैतिक कार्यक्रम की शाखाओं को ही हमें सँभालना पड़ेगा।"

संघ का तीसरा अधिवेशन सन् १९३५ की १६वीं अप्रैल से २० अप्रैल तक बेलगाँव जिले के हुदली नामक ग्राम में हुआ। उस समय धारा-सभा के चुनाव हो चुके थे। उनमें कांग्रेस ने पूरा-पूरा भाग लिया था और बहुत से प्रान्तों में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ था। कांग्रेस का मन्त्रिमण्डल बनाना चाहिए या नहीं, इस विषय पर उन दिनों चर्चाएँ चल रही थीं।

इस वातावरण में यह सम्मेलन हो रहा था। गांधी-सेवा-संघ के सामने तो यह प्रश्न था कि उसके सेवक तथा सहयोगी सदस्य धारा-सभा के सदस्य हो सकते हैं या नहीं? किशोरलाल भाई ने अध्यक्ष की हैसियत से भाषण करते हुए अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये थे :

"यदि हम अपने ध्येय को स्पष्ट रूप से समझ लें, तो उस विषय में शंका अथवा बुद्धिभेद के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। जिनकी मनोवृत्ति धारा-सभाओं के काम के अनुकूल हो, वे भले ही उनमें जायें। वे भी राष्ट्र के सिपाही हैं। उनकी सेवा से हम खुश हैं। उनकी मदद भी करते हैं और उन्हें यदि मदद की

यदि मुझे सगीत द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना होगा, तो मैं खरे शास्त्री और बालकोबा को वहाँ भेजूँगा। यदि रचनात्मक कार्य में आपकी दृढ श्रद्धा हो, जैसी मेरी गो-सेवा में है, तो आपको यही काम करना चाहिए। मुझे तो सपने भी गाय के ही आते हैं। अपने-अपने काम में और अपने-अपने स्थान पर हम सबको ध्याना-वस्थित हो जाना चाहिए। इसीको आप स्वधर्म समझें। परधर्म उत्तम लगे, तो भी याद रखें कि वह भयावह है।"

इसके बाद उन्होंने कहा

"गाधी-सेवा-सघ की कार्यवाहक समिति ने ता० २८ अगस्त १९३६ को पूरी चर्चा के बाद गाधीजी की उपस्थिति में यह निर्णय किया था कि सघ के सेवक तथा सहयोगी सदस्य धारा-सभा के चुनावो में उम्मीदवारी के लिए खडे नही हो सकते। हाँ, सहायक सदस्य यदि उम्मीदवार बनना चाहें, तो उनके लिए कोई रुकावट नही।"

उन्होने आगे कहा

"परन्तु इस निर्णय की जड में जो विचार था, वह कितने ही सदस्यो की समझ में ठीक से नही आया और मुझसे अनेक बार प्रश्न पूछे गये हैं। इस प्रकार की शका के लिए कुछ कारण भी है। धारा-सभा के चुनावो के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए जिन लोगो ने जी-तोड मेहनत की है और जो केन्द्रीय तथा प्रान्तीय बोर्डों के सूत्रधार है, उनमें से छह तो हमारी कार्यसमिति के ही सदस्य हैं। अन्य भी अनेक प्रौढ सदस्यो ने यह काम किया है। जिस कार्यक्रम को सफल करने के लिए सरदार वल्लभभाई, राजेन्द्र बाबू, प्रफुल्ल बाबू, गगाधररावजी, जमनालालजी, शकरराव देव आदि ने अपने स्वास्थ्य तथा प्राणो को भी खतरे में डालकर परिश्रम किया है और अनेक स्त्री-पुरुषो को खडे रहने, मत देने के और चन्दा देने के लिए प्रेरणा दी है, उस काम के लिए यदि हमारे सेवक अथवा सहयोगी सदस्य खडे रहें, तो उन्हें सघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे देना चाहिए, यह बात बहुत से लोगो की समझ में नही आती। इसलिए इस विषय में अधिक स्पष्टता कर देना अच्छा होगा।

मेरी तो राय यह है कि प्रत्येक तहसील में ऐसे बहुत से काग्रेस-निष्ठ स्त्री-पुरुष अवश्य होगे, जिन्हें धारासभाओ तथा म्युनिसिपैलिटियो के

के लिए बड़ी खुशी के साथ भेजा जा सकता है। अपने निर्वाह के लिए भिन्न-भिन्न काम करते हुए भी बिना किसी प्रकार के स्वार्थ की इच्छा रखते हुए उत्साह तथा निष्ठापूर्वक सेवा करनेवाले कांग्रेस-भक्तों की अटूट परम्परा कायम रहनी चाहिए। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न ही नही होनी चाहिए कि जिससे इन स्थानो के लिए ऐसे आजन्म सेवकों को पसन्द करना पड़े, जिन्होंने अपना धन्धा तथा परिग्रह और धारा-सभा आदि के पदाधिकारों से प्राप्त होनेवाली प्रतिष्ठा की लालसा को छोड़कर जनता के प्रत्यक्ष संपर्क में आकर सेवा करने की दीक्षा ली है। यदि ऐसा करना पड़ता है, तो इसमें कुछ अंशों में हमारा कच्चापन है, ऐसा ही मुझे दिखाई देता है।"

संघ की बैठक में इस प्रश्न पर विभिन्न सदस्यों ने अपनी-अपनी राय प्रकट की। राजेन्द्र बाबू ने कहा

"हमारे कहने से जो धारासभाओं में गये, उनसे हमने त्यागपत्र लिये, परन्तु उन्हें भेजनेवाले और यह काम करनेवाले हम अपने-अपने स्थानों पर चिपके बैठे है। यदि यह स्थिति अच्छी हो, तो भेजनेवालों के समान जानेवालों को भी (सदस्य बने रहने की) इजाजत दे दी जानी चाहिए और यदि जानेवालों को मना किया जाता है, तो मदद करनेवालों को भी मना किया जाना चाहिए। जमनालालजी ने कार्यवाहक समिति में कहा था कि धारा-सभा में जानेवाले सत्य और अहिंसा का पालन नही कर सकते। मैं भी मानता हूँ कि उसमें यह भय अवश्य है। परन्तु ऐसे मोह में फँसानेवाले भय को हमें छोड़ देना चाहिए। इस मोह को हमें जीतना चाहिए। मेरी राय तो यह है कि हमारे सदस्यों को धारा-सभा में जाने की इजाजत हमें देनी चाहिए।"

सरदार वल्लभभाई ने कहा .

"तीन करोड़ जनता को अपना मत देने का अधिकार मिला है। इन लोगों को ऐसे ही छांट देना ठीक नही। ऐसा करने में हानि है। धारा-सभाओं का कार्यक्रम भी देश का ही काम है। इसलिए गाधी-सेवा-संघ के जो सदस्य उनमें जाना चाहें, उन्हें जाने देना चाहिए। जिन्हें उनका अपना प्रान्त भी वहाँ भेजना चाहता हो, उन्हें इजाजत देने में कोई हानि नहीं है।"

जमनालालजी ने कहा :

"मेरी राय यह है कि गाधी-सेवा-सघ ऐसी सस्था हो कि जो देश के सामने एक खास कार्यक्रम रखे और उसे पूरा करने की प्रतिज्ञा ले। उसमें कोई फेरफार करना पडे, तो वह हमारे सिद्धान्तो के अनुकूल हो। हम गाधी-सेवा-सघ में एक प्रतिज्ञा लें, काग्रेस मे दूसरी प्रतिज्ञा लें और धारा-सभाओ में जाकर तीसरी प्रतिज्ञा लें। इसमें मेरे जैसे सीधे-सादे आदमी का मेल नही बैठ सकता। सघ में सत्य और अहिंसा की प्रतिज्ञा लें, काग्रेस से कहें कि आपका कार्यक्रम पूरा करने की हम प्रतिज्ञा लेते है और धारासभाओ में जाकर राजनिष्ठ रहने की प्रतिज्ञा लें, यह सब यदि सत्य और अहिंसा के अन्दर आ सकता है, तो दुनियाभर की सब चीजें उसमें आ सकती है।"

इसके बाद बहुत से सदस्यो ने इसमें अपने-अपने विचार प्रकट किये। इन सबको सुनकर किशोरलाल भाई ने जो भाषण किया, उसका महत्त्वपूर्ण अश इस प्रकार है :

"धारासभा के विषय में मेरे मन में से एक शका निकल ही नही रही है। और वह यह है कि धारासभा के प्रति किस प्रकार की वृत्ति अथवा भक्ति हमारे दिलो में है ? मैं जब सत्य और अहिंसा का विचार करता हूँ, तब मुझे यह जरूरी मालूम होता है कि हम जिस सस्था में प्रवेश करें, उसके प्रति हमारे मन में अभिमान होना चाहिए। हम उसके गौरव को बढायें। यदि उसके अन्दर बुराइयाँ हो, तो हममें इतना आत्मविश्वास हो कि इन बुराइयो को दूर करके हम इस सस्था को उज्ज्वल बनायेंगे। उस सस्था का नाश करने की इच्छा से अथवा उस पर शाप बरसाते हुए उसके भीतर हमें प्रवेश नही करना चाहिए। . . हमें तो यह कहना चाहिए कि धारासभा को सफल करते हुए हम उसके विधान में सुधार करवा सकेंगे और ज्यो-ज्यो इसका विधान सुधरता जायगा, त्यो-त्यो स्वराज्य का विधान बनता जायगा। हमारी जबान से इस तरह की रागद्वेषात्मक भाषा नही निकलनी चाहिए कि हमें १९३५ का सुधार-कानून तोडकर उसे निकम्मा बना देना है, हम जिसे पैदा कर देंगे। देखिये, यह विधान टूट गया। हमने मन्त्रिमडल बनाने से इनकार कर दिया, यह हमारी एक महान् विजय है— आदि। हम तो केवल इतना कह सकते है कि यदि सरकार हमें काम करने का

पूरा-पूरा अवसर दे और राष्ट्र-निर्माण के काम में अडगे न डालने का वचन दे, तो धारासभाओं के द्वारा हम जनता की सब प्रकार से सेवा कर सकेंगे, ऐसी हमें आशा है। राजनिष्ठा की प्रतिज्ञा के बारे में जमनालालजी ने जो आशका प्रकट की है, वह ध्यान देने लायक है। यदि हम धारासभाओं को स्वीकार करते है, तब तो प्रतिज्ञा लेने में सत्य का कही भग नही होता, परन्तु एक ओर तो हम यह घोषणा करें कि हम उन्हें मजूर नही कर रहे है और दूसरी ओर प्रतिज्ञा भी ले लें, इसमें तो मुझे अवश्य ही दोष दिखाई देता है। इस समय मैं काग्रेस के किसी भी क्षेत्र में कोई काम नही कर रहा हूँ। इसलिए मेरे विचारो का शायद कोई मूल्य न भी हो। परन्तु मेरे कुछ विचार तो निश्चित है ही। वर्तमान धारासभाओ में मेरा विश्वास भी नही है। मैं नही मानता कि राजाजी जैसे प्रधान मन्त्री भी इन धारासभाओंके द्वारा जनता की कोई बडी सेवा कर सकेंगे। जिस प्रकार की लोकशक्ति का निर्माण करने के सपने मैं देख रहा हूँ, वह इन धारासभाओंके द्वारा निर्माण हो सकेगी, इसका मुझे जरा भी विश्वास नही है।"

इसके बाद इन सब शकाओं का समाधान करते हुए बापू ने अपने भाषण में कहा

"जमनालालजी कहते है कि यदि हम धारासभाओं में जायेंगे, तो सत्य और अहिंसा का पालन नही कर सकेंगे। उन्होने यह एक बहुत बडी बात कह दी। परन्तु मैं ऐसा नही मानता। यदि हम सत्य और अहिंसा का पालन नही कर सकते, तो लोक-शासन भी नही चला सकते। क्योंकि ऐसी स्थिति में तो वह भी सत्य और अहिंसा के विरुद्ध होगा। परन्तु यदि लोकतत्र में हमारा विश्वास है, तो हमें उसके द्वारा करोडो लोगो का सच्चा हित करना होगा। इस हित के बारे में विचार करने के लिए हम सब एक जगह एकत्र नही हो सकेंगे। इसके लिए थोडे-से प्रतिनिधियो को चुनकर भेजना होगा। यदि वे जनता के सच्चे सेवक होगे और सच्चे लोकतत्री भी होंगे, तो वे शुद्ध हृदय से जनता की माँग समझने की कोशिश करेंगे और उसे प्रकट भी करेंगे। ... ... सघ के सदस्य सत्य के पुजारी है। जिन्हें गाधी-सेवा-सघ आज्ञा देगा, वे वहाँ जायेंगे। यह प्रश्न किसी व्यक्ति का नही है। इस दृष्टि से इसके भीतर स्वार्थ या प्रलोभन की बात नही आती। जो स्वार्थ या प्रलोभन के वशीभूत होकर वहाँ जाने की

इच्छा करेगा, वह तो गाधी-सेवा-सघ का तथा सत्य का भी द्रोही साबित होगा। जिसे चौबीसों घण्टे चरखे का ही ध्यान करना है, वह तो धारासभा में बैठकर भी कर सकेगा। हम तो दरिद्रनारायण के सेवक हैं। सेवक बनकर ही वहाँ जाना है और काग्रेस बुलाये, तभी जाना है। यदि अपनी शर्तों पर हम मन्त्रिमण्डल बना सकते हैं, तो फिर मान ही लीजिये कि हमें स्वराज्य का रास्ता मिल गया। और यदि ऐसे लोग वहाँ पहुँच गये, तो ग्यारह प्रान्तों में से एक में भी हमारी हार नही होगी। यदि काग्रेस हमें नही बुलाती है, तो हम यहाँ बैठे ही हैं। इसमें श्रेष्ठ-कनिष्ठ का प्रश्न ही नही है। हमारे लिए तो रचनात्मक कार्यक्रम और यह कार्यक्रम दोनों समान हैं।"

इसके बाद राजनिष्ठा का प्रश्न हाथ में लिया गया। श्री के० टी० शाह की पुस्तक में से बापू ने प्रतिज्ञा पढकर सुनायी।

राजेन्द्रबाबू विधान में परिवर्तन करना तो इसमें सोलहो आने आ जाता है।

बापू मैंने इग्लैंड के सविधान का थोडा-बहुत अध्ययन किया है। इन लोगों की राजनिष्ठा की प्रतिज्ञा में तो राजा को पदच्युत करने की बात भी आ जाती है। तब क्या हम पूर्ण स्वराज्य की बात मन में रखकर यह प्रतिज्ञा नही ले सकते ?

किशोरलाल भाई यदि हम राजा को नही चाहते और उसके लिए हमारे दिलों में किसी भी प्रकार का प्रेमभाव न हो, तो हम किस प्रकार यह प्रतिज्ञा ले सकते हैं ?

सरदार हम अपना कार्यक्रम लेकर वहाँ जाते हैं। सरकार के दिल में हमारे उद्देश्य के बारे में किसी भी प्रकार की गलतफहमी नही है।

जमनालालजी यदि दूसरा की प्रतिज्ञाओ का अपने मन के अनुकूल अर्थ हम करने लगेंगे, तो दूसरे भी हमारी प्रतिज्ञाओ का मनमाना अर्थ लगाकर हमारी सस्थाओ में घुस आयेंगे।

बापू मेरी राय तो यह है कि इन्हीके किसी विधान शास्त्री (कान्स्टिट्यूशनल लॉयर) की—जैसे कीथ की—राय हमें लेनी चाहिए। आठवें एडवर्ड ने यदि स्वय राज्य का त्याग न कर दिया होता, तो पार्लियामेंट उसे राजा के पद से

देती और यह राजनिष्ठा की प्रतिज्ञा के विरुद्ध नहीं होता। इनकी प्रतिज्ञा में तो यह सब आ जाता है। उपनिवेशों की बात लीजिये, वे इग्लैंड के साथ अपने सम्बन्ध तोड़ सकते हैं। तात्पर्य यह कि हमें विधान-शास्त्रियों से पूछ लेना चाहिए कि जिनका उद्देश्य पूर्ण स्वाधीनता है, ऐसे लोग यह प्रतिज्ञा ले सकते हैं या नहीं? मैं इस प्रश्न को नैतिक नहीं मानता। हम किसी विधान-शास्त्री से नैतिक व्यवस्था नहीं माँगते। यदि कानून के अनुसार हम प्रतिज्ञा ले सकते हैं, तो नैतिक दृष्टि से भी वह ली जा सकती है।

राजेन्द्रबाबू क्या हम कानूनी और नैतिक इस तरह के भेद कर सकते हैं?

बापू यहाँ तो नैतिक प्रश्न कानूनी भूमिका में से ही उत्पन्न होता है।

किशोरलाल भाई क्या 'प्रतिज्ञा लेना'—शब्द ही नैतिक भूमिका सूचित नहीं करते?

बापू इसमें 'प्रतिज्ञा लेना' ये शब्द है तो अवश्य। परन्तु ब्रिटिश-संविधान एक विचित्र वस्तु है। इसमें परिपाटियाँ (कन्वेन्शन्स) भी आ जाती हैं। इसके अलावा कानूनी संकेत (लीगल फिक्शन) भी है। इनकी परम्पराओं में राजा को गोली मार देना भी प्रतिज्ञा से सुसंगत है। परन्तु मेरे पास एक श्रेष्ठ कानून—नीतिधर्म का पड़ा है। इसके अनुसार किसीको गोली मारना उचित नहीं है। इसलिए यदि यह बात भी इस प्रतिज्ञा में आ जाती है, तो जिस दुश्मन ने यह प्रतिज्ञा बनायी है, मैं तो उसकी बहादुरी की कद्र करूँगा। यह कहूँगा कि दुश्मन तो है, परन्तु दाता है। यदि राजेन्द्रबाबू यह निर्णय देते हैं कि इसमें कानून की कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, तो मैं जोर देकर कहूँगा कि फिर तो इसमें नैतिक दृष्टि से भी कोई बाधा नहीं।

राजेन्द्रबाबू - मुझे तो नैतिक अड़चन ही परेशान कर रही है। कानूनी बाधा तो कुछ भी नहीं।

किशोरलाल भाई - परन्तु मेरा मन तो कहता है कि मेरे मन में तो तिल-भर भी राजनिष्ठा नहीं है (Owe no allegience)। तब मैं ऐसी प्रतिज्ञा क्या लूँ?

बापू : क्या हर्ज है? वकीलों को तो ऐसी प्रतिज्ञा लेनी ही पड़ती है। मैं तो द्रोही (डिसलॉयल) होकर भी वकालत करता हूँ। धारासभा में जाकर

तो हम कोई गैर कानूनी काम कर नही सकते। और यो तो राजनिष्ठा भी केवल एक कानूनी सज्ञा है, नैतिक नही। खुद यही लोग इसे कानूनी कहते हैं तो हम क्यो इसे नैतिक मानें ? मेरे दिल में तो कोई शका नही है। हम जरूर प्रतिज्ञा ले सकते है।

इसके बाद धारासभा-प्रवेशवाले प्रश्न पर मत लिये गये। जमनालालजी और किशोरलाल भाई विरुद्ध रहे। अन्य सबने प्रस्ताव के पक्ष में अपने मत दिये। अत में किशोरलाल भाई ने कहा

"प्रस्ताव तो मजूर हो गया। परन्तु इससे सघ के इतिहास में एक नया प्रकरण शुरू हो रहा है। ऐसा करने का आपको सपूर्ण अधिकार है। परन्तु इस नयी नीति को कार्यान्वित करने के लिए आपको ऐसे मनुष्य की योजना करनी चाहिए, जो इस नीति को मानता हो और उसे पूरा करने का जिसमें उत्साह हो। मुझे लगता है कि इस काम के लिए मै असमर्थ हूँ। इसलिए आपका दूसरा अध्यक्ष ढूँढ लेना चाहिए।"

अतिम दिन अपने भाषण में बापूजी ने किशोरलाल भाई के अध्यक्ष-पद छोडने के बारे में उनके साथ की चर्चा सुना दी। किशोरलाल भाई की कठिनाइयाँ ये थी

(१) धारासभाओ में जाकर हम सत्य और अहिसा को छोड देंगे। धारासभा का कार्यक्रम ऐसा है कि उसमें बहुत जोश आ जाता है। हम मान लेते हैं कि उससे स्वराज्य जल्दी मिल जायगा। इस कारण हम उसमें साधन का विवेक नही रख पाते। मनुष्य की पशुता इसमें जाग्रत हो जाती है।

(२) धारा-सभा का कार्यक्रम बडा प्रलोभन-भरा है। आज तक हम इन प्रलोभनो से दूर रहे हैं। आज भी हम उनको शका की दृष्टि से ही देखते है। अन्य कितने ही महत्त्वपूर्ण काम करने को पडे हैं। ऐसी हालत में हम यह आफत क्यो अपने सिर पर लें ?

(३) अब तक हमने जल के प्रवाह को रोक रखा था। अब इस बाँध को हम तोड रहे है। आज तक हम कौंसिलो, स्कूलो और अदालतो के बहिष्कार की बातें करते रहे और उनके नाश की कामना करते रहे। परन्तु आज हम इससे एकदम उल्टी बातें करने लगे है।

इन सारी शकाओ का उत्तर बापू ने यो दिया : "सत्य और अहिंसा कोई गुफाओ में बैठकर पालन करने की चीजें नही है। यदि अपने सारे व्यवहारो में हम इनका पालन नही कर सकते और उनका असर नही डाल सकते, तो ये किसी काम की नही है। यदि अपने कार्यक्षेत्र में से किसी भाग को हम केवल इसलिए छोड देते हैं कि उसमें अहिंसा काम नही दे सकती, तो फिर यह अहिंसा किसी काम की नही है। मैं किस क्षेत्र को छोडूँ? मेरा शरीर तो काम करता ही रहेगा। इन्द्रियाँ भी अपना काम करती ही रहेंगी। मैं आत्महत्या तो करना नही चाहता। अपनी नाक और कान मैं बद नही कर सकता। तब मुझे क्या करना चाहिए? यही एक रास्ता रह जाता है कि अपनी सारी इन्द्रियों को मैं अहिंसा की दासी बना दूँ।

"दूसरा उपाय किशोरलाल ने आजमा लिया है। बात बहुत पुरानी है। साधना के लिए उन्होने एकान्तवास किया था। रेलगाडी की सीटी की आवाज से इनकी शान्ति भग होती थी। एक दिन जब मैं हमेशा की भाँति इनसे मिलने गया, तब मुझसे कहने लगे कि 'इस सीटी से मुझे बडी तकलीफ होती है। कानो में रुई या रबर रखने की सोच रहा हूँ।' मैंने कहा 'इस उपाय को भी आजमाकर देख लो। परन्तु यह तो बाह्य वस्तु है। ईश्वर में ध्यान नही लगता, इसी कारण तो सीटी की आवाज सुनाई देती है।' किशोरलाल स्वय भी इस बात को समझ गये। दूसरे दिन मैं इन्हें कानो में रखने के लिए रुई और रबर देने लगा। तब उन्होने कहा कि 'अब इसकी कोई जरूरत नही मालूम होती। हमारे कान है। परन्तु वे व्यभिचार के लिए नही है।' यही बात दूसरी इन्द्रियो पर भी लागू होती है। हमारी सारी इन्द्रियाँ शरीर को सुरक्षित रखने के लिए है।

"धारासभा के कार्य को स्वीकार करके हम अहिंसा से बतई दूर नही जाते। आपके द्वारा यह काम करवाकर मैं आपको अहिंसा की दिशा में दो कदम आगे ही बढा रहा हूँ। मेरी इस बात को जरा समझ लें। इसके अनुसार चलेंगे, तो इस एक वर्ष के अन्दर हम इतने आगे बढ जायेंगे, जितने आज तक नही बढे थे। मुझे ऐसा लगता है कि प्रसग आने पर आप अपने दरवाजे बन्द करके बैठे नहीं रह सकते। हमें यह सिद्ध करके दिखा देना है कि सपूर्ण राष्ट्र के रूप में अहिंसा की दिशा में हम आगे बढ रहे है या नही? तीन करोड मतदाताओं को भुलाकर

यदि आप एक कोने में बैठ जायेंगे, तो यह कायरपन होगा। यदि हम मिथ्याचारी नहीं हैं, तो धारा-सभा में भी हम सत्य और अहिंसा का बल लेकर जायँ। यदि हम मिथ्याचारी भी साबित हुए, तो मुझे कोई क्षोभ नहीं होगा। हमारे मिथ्याचार की कलई खुल जायेगी, तो उससे हमारा हित ही होगा। सत्य और अहिंसा संघ की आत्मा है। यदि ये इसमें से चले जायँ, तो किशोरलाल का कर्तव्य यह होगा कि वह इसका अग्निसंस्कार कर दे। यदि यह आत्मा उसमें रहेगी, तो संघ में तेज आयेगा। यदि आज भी उसके अन्दर यह आत्मा नहीं है, तो हम मिथ्याचारी हैं और संघ को चालू रखना व्यर्थ है।"

बापू की इस बात से किशोरलाल भाई के मन को समाधान नहीं हुआ। तब बापू ने नाथजी को बुलाया और उनके साथ बातचीत की। बापू ने देखा कि नाथजी की वृत्ति उनकी तरफ है। परन्तु नाथजी ने कहा कि इस समय मैं कुछ नहीं कह सकता। किशोरलाल भाई को क्या करना चाहिए, इस विषय में आप ही उन्हें आज्ञा दीजिये। यों तो बापू छोटे बच्चों को भी आज्ञा नहीं देते थे। परन्तु उन्हें लगा कि किशोरलाल भाई इस मौके पर अध्यक्ष-पद छोड़ देंगे, तो अधर्म होगा। इसलिए उन्होंने किशोरलाल भाई को आज्ञा दी और कहा कि संघ के सदस्य यदि इस मार्ग पर कदम रखेंगे, तो प्रलोभन में पड़ जायँगे। इस भय से आप संघ का त्याग कर दें, यह आपके लिए धर्म नहीं है। यदि आपको यह लगे कि संघ के सदस्य अपने सिद्धान्त पर दृढ़ नहीं रह सकते, तो आपका कर्तव्य तो यह है कि आप संघ को तोड़ दें और उसे अच्छी तरह दफना दें। आप साफ-साफ कह दें कि ऐसे संघ को मैं नहीं चला सकता। यही नहीं, बल्कि ऐसा प्रबन्ध कर देना चाहिए कि दूसरा भी कोई इसे न चला सके। किशोरलाल भाई ने बापू की आज्ञा को शिरोधार्य किया और अध्यक्ष-पद पर बने रहे।

परन्तु इस सारी परिस्थिति का और अपने स्वभाव का उन्होंने जो पृथक्करण किया है, वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण और पढ़ने लायक है

"कल मैंने अपनी स्थिति आपके समक्ष प्रस्तुत की थी। यह भी बताया था कि मैंने लिखित त्यागपत्र नहीं दिया, इसका कारण क्या है। पूज्य बापू ने मुझे लाचार बना दिया है। मैंने उनके निर्णय को लाचार होकर मान लिया है। परन्तु बापू ने जिस प्रकार इस बात को पेश किया है, उस तरह मैं इसे नहीं

मानता। मैं यह नही मानता कि मेरे मन में धर्माधर्म के विषय में कोई शका थी। मेरी पत्नी ने कहा कि मैं खिन्न था। यह उनकी भूल है। मैं थका हुआ अवश्य था, परन्तु खिन्न नही था। हाँ, आज खिन्न हूँ। उन दिनो में तो बेचैन भी नहीं था, प्रसन्न था। बापू की यह आज्ञा स्वीकार करते हुए मुझे दुख होता है, खेद नही होता। मैं स्वीकार करता हूँ कि इस नयी परिस्थिति में मैं ठीक नही बैठता। बापू ने कई बार कहा है और वह सच है कि मेरी विचारसरणी उनका अनुसरण नही करती, बल्कि समानान्तर चलती है। मैं बहुत छोटा, परन्तु सत्य का स्वतत्र उपासक रहा हूँ। इसमें मुझे बापू से तथा दूसरा से भी मार्ग-दर्शन मिला है। बापू ने कहा है कि वे जन्म से ही सत्य के उपासक रहे है, अहिसक नही। मेरी बात इससे उल्टी है। मैं जन्मत अहिसा का उपासक रहा और सत्य का पुजारी बाद में बना। बापू को सत्य की खोज में अहिसा मिली। परन्तु मुझे अहिसा में से सत्य की झाँकी हुई। इसलिए यदि मुझे यह दृढ श्रद्धा हो कि अमुक बात सत्य है, तो भी उसका अमल करने में जहाँ तक सभव हो, मैं अविरोध साधना चाहता हूँ। पूज्य बापू ने प्रसगोपात्त जिस एकान्तवास का उल्लेख किया, उसमें भी मेरी वृत्ति यही थी। मेरी पत्नी को बहुत दुख हो रहा था। वह रात के दो-दो बजे तक सोती नही थी। उसे भय था कि मैं भागकर कही चला न जाऊँ। पुराने जमाने में विरक्त मनुष्य ऐसा ही करते थे। परन्तु मैं भागा नही। मैंने सोचा कि यदि मैं सत्य धर्म का आचरण कर रहा हूँ, तो किसी दिन मेरी पत्नी भी अवश्य ही उसे स्वीकार करेगी। मेरी वृत्ति यह थी कि यदि जाने के लिए मैं उसकी अनुमति प्राप्त कर सकूँ, तो मुझे इसके लिए क्यो न यत्न करना चाहिए? पिछले दो दिन से मेरी यही कोशिश रही है कि आपकी अनुमति प्राप्त करके मैं मुक्त हो जाऊँ। मेरी अहिसा की उपासना के कारण मेरा यह स्वभाव बन गया है। मेरा स्वभाव कुछ ऐसा हो बन गया है कि यदि मुझे पीछे हटना है, तो उसमें भी मैं किसीकी सम्मति लेना चाहता हूँ। सत्य धर्म के पालन की तत्परता की दृष्टि से इसमें सत्य का त्याग हो जाता है, यह भी कहा जा सकता है। फिर भी यह मेरा स्वभाव बन गया है। मैं एक गाँव में जाकर बैठ गया था। वल्लभभाई मुझे वहाँ से जबर-दस्ती ले आये और मैं भी आ गया और गुजरात-विद्यापीठ का काम करने लगा।

इसी तरह आज भी मैं अध्यक्ष बना रहूँगा, परन्तु निष्प्राण बनकर ही रहूँगा। जैसा कि मैंने बापू से कहा है, कार्यवाहक-समिति जो चाहेगी और जिस तरह करना चाहेगी, उस तरह मैं अमल करता रहूँगा। वह जब उचित समझे, तब बापू की राय भी ले सकती है। वही यह जिम्मेदारी भी उठायेगी। मैं तो केवल अमल करनेवाला हूँ।"

सघ की बैठक में राजनिष्ठा की प्रतिज्ञा के विषय में गाधीजी ने जो विवेचन किया था, उससे किशोरलाल भाई को सन्तोष नही हुआ था। परन्तु एक महीने बाद विचार करते-करते प्रतिज्ञा का रहस्य स्वत उनकी समझ में आ गया। तब 'धारासभा की शपथ' शीर्षक एक लेख लिखकर उसमें उन्होंने बताया

"मुझे लगता है कि धारा-सभा में ली जानेवाली शपथ के बारे मे गाधीजी की बात लोगो की समझ में ठीक से नही आयी है।

"कानूनी शपथ नैतिक अथवा धार्मिक शपथ से भिन्न है। कानूनी शपथ वह है, जिसे मनुष्य ने खुद नही बनाया, बल्कि जो धारासभा को अपने अधीन रखकर उसका सचालन करता है, उसने बनाया है। धारासभा ने इस शपथ के अन्दर जिस अर्थ का आरोप करने का निश्चय किया होगा, उतना ही उसका अर्थ माना जाय, उससे अधिक नही।

"धारासभा की शपथ का मसविदा जिन्होंने बनाया अथवा इसका प्रमाण-भूत अर्थ जिन्होने किया, उनके द्वारा नहीं, बल्कि साधारण लोग इसका जो अर्थ करते है, वह अर्थ इसका लगाया जाने के कारण इसमें बहुत गडबडी पैदा हुई दिखाई देती है।

"साधारण मनुष्य जो अर्थ करता है, उसके पीछे कोई इतिहास नही है, ऐसी बात नही। तथापि इस अर्थ को प्रमाण मानकर स्वीकार नही किया जा सकता। धारासभा के भीतर वफादारी की जो शपथ ली जाती है, उसका सामान्य मनुष्य शायद ऐसा अर्थ करते है कि शपथ लेनेवाला राजा के प्रति व्यक्तिश इतनी भक्ति प्रकट करता है कि मानो वह राजा के लिए अपनी जान भी देने के लिए तैयार हो जाय। साधारण मनुष्य यह भी मानता है कि यदि मनुष्य एक बार यह शपथ ले लेता है, तो वह अपने समस्त जीवन के लिए उसमें बँध जाता है। मैंने सुना है कि राज्यो के सविधान का जिन्होंने खूब गहराई के साथ अध्ययन

किया है, ऐसे विधान-शास्त्रियों की राय में ये दोनों अर्थ गलत हैं। उनके मत में इस शपथ का अर्थ केवल इतना ही होता है कि जहाँ तक यह शपथ लेनेवाला इस शपथ से अपने आपको बँधा हुआ मानेगा (अर्थात् इस शपथ को बनानेवाली संस्था का वह सदस्य होगा), तब तक वह राजा के विरुद्ध सशस्त्र बगावत नहीं करेगा। अथवा विधान से बाहर अथवा प्रतिकूल किसी भी प्रकार राजा की जान लेने में वह शामिल नहीं होगा। हाँ, विधान के अनुसार और विधान के द्वारा तो उसे यह करने—राजा की जान लेने का भी अधिकार है। विधान में बतायी विधि के अनुसार अधिकारप्राप्त धारासभा को तो इस शपथ में सुधार करने या इसे एकदम हटा देने का अधिकार भी है। वह राजा को केवल सिंहासन से नीचे ही नहीं उतार सकती, बल्कि उसका सिर उड़वा देने की आज्ञा देने का भी अधिकार उसे है। परन्तु यदि धारासभा को यह मंजूर नहीं है, तो इस धारासभा का कोई भी सदस्य इस संस्था का सदस्य रहते हुए राजा के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग नहीं कर सकता।

"गांधी-सेवा-संघ के सदस्य के समान जो भी कोई व्यक्ति सत्य और अहिंसा के पालन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है, वह तो किसी भी हालत में राजा के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग नहीं करेगा, ऐसा माना जा सकता है। इसलिए ऊपर के अर्थ में वफादारी की प्रतिज्ञा लेने में उसके सामने किसी भी प्रकार का धर्मसंकट खड़ा नहीं होगा। यदि वह विधान-सम्मत मार्गों द्वारा पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना चाहता है, तो धारासभा का सदस्य रहते हुए भी ऐसा करने में उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं होगी। यदि वह किसी दूसरे मार्ग द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना चाहता है, तो अपनी जगह का त्यागपत्र देकर वह पूर्ण स्वराज्य के लिए उस मार्ग का भी अवलम्बन कर सकता है। इस प्रकार इस विषय के कानूनी और नैतिक पहलुओं के बीच में जो अन्तर माना जाता है, ऐसा कोई अन्तर उनमें नहीं है।" गांधीजी ने इस लेख के नीचे लिखा कि "धारासभा और धार्मिक शपथ के बीच मैंने जो भेद बताया है, उसमें मेरा जो हेतु रहा है, उसके इस विवरण को मैं हृदय से स्वीकार करता हूँ।" राजेन्द्रबाबू को शपथ के नैतिक पहलू के बारे में शंका थी। परन्तु इस लेख को पढ़कर उन्होंने भी सूचित किया कि किशोरलाल भाई के इस विवरण से मेरी शंका का निवारण हो गया है।

गाधी-सेवा-मघ का चौथा अधिवेशन सन् १९३८ के मार्च मास के अन्त में उडीसा प्रान्त के डेलाग नामक ग्राम में हुआ था। उन दिनो हमारे देश के कितने ही भागा में हिन्दू-मुसलिम दगे हुए थे। इस कारण सम्मेलन में मुख्य चर्चा का विषय यही बन गया और इस पर काफी चर्चा और विचारा की सफाई हुई।

उपसहार के रूप में किये गये अपने अतिम भाषण में अहिंसा की भावरूप वृत्ति वैसी हो, यह समझाते हुए किशोरलाल भाई ने कहा था .

"अहिंसा और क्रोध न करना—केवल इतना ही काफी नही होगा। यह तो अभावरूप धर्म हुआ। बापू का समग्र जीवन भावरूप करुणा से भरा हुआ है। दरिद्रनारायण को देखते ही उनकी करुणा उमड पडती है। आश्रम में जिस प्रकार साथियो के सामने अपने हृदय की वेदना वे प्रकट करते थे, उसी प्रकार हमारे इन सम्मेलना में भी वे करते है। उस समय सारा वायुमण्डल करुणा से भर जाता है। एक बार मैंने अपने गुरु से पूछा कि ईश्वर की उपासना मैं किस सगुण रूप में करूँ? तब उन्होने कहा—सत्य, प्रेम आदि गुणो से युक्त रूपो को छोड दो और उसके करुणागुण-युक्त रूप की पूजा करो। बुद्ध, ईसा, तथा बापू इन सब श्रेष्ठ पुरुपा में मुख्य गुण करुणा ही है। इस करुणा को यदि हम समझ लें, तो सभी प्रश्ना का उत्तर मिल जायगा। हिन्दू मुसलमान दगो का भी यही न्याय लागू होता है। दगा करानेवाले वहुत हुआ, तो भी दो-बारे (habitual) कैदिया से अधिक खराब आदमी नही होते। असल गुण्डे तो वे है, जो इनके पीछे बैठकर डोरी हिलाते रहते है। दगा करनेवाले गुण्डे तो इनके हाथो की कठपुतली मात्र है। वे अपनी इच्छा से या दुश्मनी के कारण किसीके साथ मार-पीट नही करते। उन्हें तो एक आदत पड जाती है और पैसे के लालच में आकर वे ऐसे काम करते रहते है। ऐसे मनुष्यो के प्रति भी जब हमारे दिलो में करुणा पैदा होगी, तभी उनके सुधार का उपाय हमें मिलेगा।"

अलिप्त नही रह पाये थे। इसलिए किशोरलाल भाई ने अपने अध्यक्षीय भाषण में इस स्थिति का खास तौर पर उल्लेख किया और कहा .

"आपको याद होगा कि डेलाग में हमारा बहुत-सा समय साम्प्रदायिक दगों का अहिंसात्मक उपाय ढूँढने में बीता था। हमारी खोज का विषय यह था कि अहिंसा द्वारा हम गुण्डो का मुकाबला किस प्रकार कर सकते है। पूज्य बापू ने हमारे सामने अहिंसक सेना की कल्पना रखी थी। परन्तु हम किसी निर्णय पर नही पहुँच सके थे। वही प्रश्न आज भी हमारे सामने ज्यो-का-त्यो खडा है। आज तो गुण्डापन ने अनेक रूप धारण कर लिये है। साम्प्रदायिक दगे, देशी राज्यों के झगडे और काग्रेस के झगडे सभी जगह विद्यमान है। जो गुण्डापन पढ़े-लिखे लोगों में पैदा हो रहा है, वह उन पेशेवर गुण्डो की अपेक्षा अधिक खराब है। एक पेशेवर गुण्डा तो बुरी आदत के कारण या धन के लालच से बदमाशियाँ करता है। उसके भीतर द्वेष नही होता, परन्तु इनके गुण्डेपन की जड में तो गहरा हेतु होता है। वह द्वेषमूलक होता है। झूठे और विषैले प्रचार का यह परिणाम है।

"हुदली में धारासभा-प्रवेश के बारे में हमने जो निश्चय किया था तथा डेलाग में काग्रेस के कामो में दिलचस्पी लेने के बारे में अपने सदस्यों को हमने जो प्रोत्साहन दिया था, उस पर अधिक विचार करने की जरूरत हमारे कितने ही सदस्य महसूस करते है। हमारे सदस्यों में दो विचारो के व्यक्ति दीख पडते है। एक वर्ग मानता है कि हमें सारा सकोच छोडकर एक गाधीपक्ष कायम करना चाहिए। पिछले वर्ष युक्तप्रान्त में गाधी-सेवा-सघ की शाखा खोलने की इजाजत दी गयी, तब यह शर्त रखी गयी कि सघ के नाम पर यह शाखा रचनात्मक काम तो कर सकती है, परन्तु राजनैतिक कामो में सघ के नाम का उपयोग नही कर सकती। इन भाइयो को लगा कि यह शर्त लगाकर हमने अपने सघ की कमजोरी प्रकट की है। दूसरी तरफ कितने ही सदस्यों ने अनुभव किया है कि हुदली और डेलाग के निश्चय हमें वापस ले लेने चाहिए। जनता में सघ के प्रति जो आदरभाव था, वह इन निश्चयों के कारण कम हो गया है। समाचार-पत्रों में सघ के विरुद्ध प्रचार शुरू हो गया है। बम्बई की धारासभा में एक सदस्य ने तो यहाँ तक कह दिया कि मजदूरो के बारे में बनाया गया कानून

सघ को मजबूत करने के लिए बनाया गया है। बगाल के बारे में भी मैंने सुना है कि वहाँ भी कई पत्रों में सघ के विरुद्ध लेख आते है। कर्नाटक में भी सघ के विरुद्ध इसी प्रकार की हवा बह चली है। इस बाहरी विरोध के अतिरिक्त प्रत्यक्ष सघ के अन्दर भी काग्रेस के काम को लेकर सदस्यो में आतरिक कलह पैदा हो गया है। इसलिए इन सदस्यो की राय है कि सघ को इस सकट से बचा लेना चाहिए।

"विरोधियो की टीका से मुझे कुछ भी दु ख नही हुआ है। परन्तु इन दो-तीन वर्षों में हमारे सदस्यो के बीच जो भीतरी राग-द्वेष पैदा हो गये है, उन्हें देखकर मुझे बहुत दु ख हो रहा है। यदि हम अपने ही भीतर एक-दूसरे के प्रति सद्भाव और मित्रता कायम नही रख सकते, तो सघ के द्वारा भिन्न-भिन्न कौमों और प्रान्तों के लोगो के बीच सद्भाव पैदा करने में हम कभी सफल नही हो सकेंगे। सघ के भीतरी मनोमालिन्य को देखकर नये लोगो को सघ के सदस्य बनाने में मुझे कोई उत्साह नही हो रहा है।"

सघ की भीतरी स्थिति का किशोरलाल भाई ने जो पृथक्करण किया, इस पर सदस्यों के बीच काफी चर्चा हुई। कई बार सघ के सदस्य चुनावों में आपस में ही एक-दूसरे के साथ स्पर्धा करते थे। इसलिए एक प्रस्ताव द्वारा उन्हें चेतावनी देनी पडी

"सघ के सदस्यो को स्वय सत्य और अहिंसा का सूक्ष्मतापूर्वक पालन करना चाहिए। यही नही, बल्कि अपने साथ काम करनेवाले दूसरे कार्यकर्ताओ के ऐसे कामो से लाभ भी नही उठाना चाहिए, जो सत्य और अहिंसा के विरुद्ध हो। जहाँ तक सभव हो, उनसे भी सत्य और अहिंसा का पालन कराने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त राजनैतिक चुनावो में सघ के सदस्यों को आपस में प्रतिस्पर्धा अथवा एक-दूसरे का विरोध नही करना चाहिए।"

सघ का छठा अधिवेशन फरवरी सन् १९४० में बगाल के ढाका जिले के मलिकान्दा नामक ग्राम में हुआ। वृन्दावन में सघ के सदस्यो को अच्छी तरह सूचनाएँ तथा हिदायतें दे दी गयी थी। फिर भी इसका कोई खास परिणाम नही दिखाई दे रहा था। १९३९ के सितम्बर में विश्वयुद्ध छिड गया था। इस युद्ध में काग्रेस भाग ले या न ले, यह भी एक विचारणीय प्रश्न था। काग्रेस को लग रहा था कि केवल अहिंसा के कारण हम युद्ध में भाग न लें, यह तो हमसे नही

बन्द कर देना चाहिए या चालू रखना चाहिए। क्योंकि इसमें अहिंसा के सिद्धान्त और सरकार के कामकाज के बीच विरोध और धर्म-संकट पैदा हो जाता है। एक ओर तो अहिंसा भंग हो जायगी, इस भय से हमारे अन्दर शक्ति होने पर भी यदि इन कामों से हम दूर रहते हैं, तो हमारी अहिंसा एक तुच्छ शक्ति बन जाती है। दूसरी ओर यदि हम इस काम में पड़ते हैं, तो अहिंसा की मर्यादा का पालन करने की जितनी शक्ति कांग्रेस में होगी, वहीं तक तो हम जा सकेंगे और इसमें हिंसक उपायों का अवलम्बन करना कर्तव्यरूप भी हो जाता है। सरदार वल्लभभाई को इस धर्म-संकट का अनुभव हुआ है। अंत में वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यद्यपि उनकी अपनी निष्ठा तो अहिंसा पर ही है, फिर भी यदि इस सिद्धान्त पर दृढ़ रहते हैं, तो वे पार्लमेंटरी बोर्ड का काम नहीं चला सकते। सिद्धान्तवादी होने का दावा करके निष्क्रिय पड़े रहें, यह उनके जैसे कर्ममार्गी के लिए कठिन है। मेरा खयाल भी यही है कि मानव-समाज की आज की हालत में केवल वल्लभभाई के लिए ही नहीं, बल्कि हम सबके लिए यह लगभग असंभव है कि हम राजनैतिक सत्ता को स्वीकार कर लें और उसके साथ-साथ अहिंसा का पूरा-पूरा पालन भी करते रहें। स्वभाव से ही जिनकी रुचि हिंसा की ओर है, उनकी तो बात ही मैं छोड़ देता हूँ, परन्तु स्वभाव और बुद्धि से जिनकी श्रद्धा अहिंसा में है, वे भी यह मानते हैं कि समाज के कितने ही कामों के लिए थोड़ी-बहुत हिंसा का स्वीकार तो करना ही पड़ता है। उन्हें यह आशंका है कि इतनी-सी हिंसा के लिए भी यदि अपवाद नहीं रखा गया, तो समाज में अराजकता और अरक्षितता फैलने का भय है।

'मेरी अपनी कल्पना तो यह है कि हम ऐसा सत्याग्रही समाज बना सकते हैं, जो समाज के हिंसाभिमुख प्रवाह को भले ही एकदम न भी बदल सकता हो, फिर भी उसके साथ बहने से अपने-आपको रोक तो अवश्य सकता है और कभी-कभी इस प्रवाह का सफलतापूर्वक विरोध भी कर सकता है। इस ध्येय के साथ यह समाज राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी प्रकार के कामों में भाग लेता रहे। उसे जो काम अच्छे लगें, उनमें वह सहयोग करे, परन्तु जिस काम में हिंसा का स्वीकार अनिवार्य हो, ऐसी किसी संस्था में वह अधिकार को स्वीकार न करे। इस समाज का यह निश्चय है कि चाहे कितनी भी हानि हो, फिर भी

अपनी प्रवृत्तियों में हिंसात्मक उपायों का आश्रय तो वह कदापि नहीं लेगा। जब कभी किसी अनिष्ट को दूर करने के लिए वह कोई अहिंसात्मक उपाय बता सके, तब उसका प्रयोग करने के लिए वह स्वयं आगे आये। उस समय यदि किसी समाज अथवा संस्था में उसे अधिकार स्वीकार करना जरूरी हो जाय, तो उतने समय के लिए वह अधिकार का स्वीकार भी कर सकता है। परन्तु वह काम पूरा होते ही जनता के प्रतिनिधियों को वह यह अधिकार वापस सौंप दे। मुझे निश्चय है कि उच्च चारित्र्य-बुद्धि, व्यवहार-कुशलता और अपने क्षेत्र का अच्छा ज्ञान रखनेवाले सत्याग्रहियों का एक ऐसा समाज हो सकता है, जो बगैर अधिकार लिये भी इस प्रकार अपनी नैतिक प्रतिष्ठा पैदा कर सकता है। यह तो विविध क्षेत्रों में केवल सेवा ही किया करे, फिर भी इसकी प्रतिष्ठा इतनी बढ़ सकती है कि जब वह किसी भी विषय पर अपने विचार प्रकट करेगा, तो लोगों को तथा राज्य को भी आदरपूर्वक उनकी ओर ध्यान देना ही पड़ेगा, अन्यथा उनके सत्याग्रही उपाय का सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ेगा।"

इसके बाद किशोरलाल भाई ने शारीरिक अस्वस्थता के कारण जितना प्रवास करना चाहिए, उतना प्रवास न कर सकने तथा सभा-समारम्भों में जितना भाग लेना चाहिए, उतना भाग न ले सकने—आदि के कारण अध्यक्षपद से मुक्त कर दिये जाने की माँग की। उन्होंने यह भी बताया कि इस विषय में उन्होंने पू० बापू तथा कार्यवाहक-समिति के सदस्यों से बातचीत कर ली है। बापू ने उनसे कहा कि "अबकी बार मैं आपसे आग्रह नहीं करूँगा। अध्यक्ष बने रहने में धर्म है, यह आपको स्वतन्त्र रूप से सूझ सके, तो उत्तम। परन्तु यदि आपको इसमें उल्टा ही लग रहा हो, तो मुझे आपको अनुकूलता कर देनी होगी।"

किशोरलाल भाई ने अपने भाषण में जो विचार प्रकट किये, उन पर बहुत चर्चा हुई।

बापू ने अहिंसा के महत्त्व के विषय में बहुत विशद और विस्तृत विवेचन किया और यह भी समझाया कि वर्तमान परिस्थिति में संघ की नीति क्या होनी चाहिए। संक्षेप में उनके मुद्दे ये हैं :

(१) संघ में जितने ही सदस्य ऐसे हैं, जो संघ को प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं, जब कि कितने ही ऐसे भी हैं, जिनको संघ की ओर से प्रतिष्ठा मिलती है और

इस प्रतिष्ठा का उपयोग वे राजनीति में करते हैं। इसका एकमात्र उपाय यही है कि सघ ऐसो को प्रतिष्ठा न दे। इन सदस्या को भी चाहिए कि दूसरे से माँगने पर मिली इस प्रतिष्ठा को वे स्वय छोड दें। यदि हम अपने सदस्यो को ऐसी प्रतिष्ठा दें और वे उसे ग्रहण करें, तो हम काग्रेस, समाजवादियो अथवा साम्य-वादियों की पक्ति में खडे होने लायक बन जायेंगे।

(२) इस प्रकार की सत्ता की राजनीति सघ में से निकल जानी चाहिए। आत्मशुद्धि के लिए यह करना जरूरी है। मैं राजनीति-मात्र का निषेध नही कर रहा हूँ। मैं तो जानता हूँ कि हमारे देश में सब प्रकार का रचनात्मक काम भी राजनीति का ही एक अग है और मेरी दृष्टि में तो यही सच्चा राजनैतिक काम है। परन्तु सत्ता की राजनीति के साथ अहिंसा का कोई सम्बन्ध नही हो सकता।

(३) यदि हमारे अन्दर अहिसक पुरुषार्थ के सच्चे लक्षण होते, तो आज हमारी जो दशा हो रही है, वह न होती। हमारे अन्दर एक नयी ही शक्ति पैदा होती, तब आपको न मेरी सलाह की जरूरत पडती और न इस सघ की।

सरदार ने कहा

"कितने ही लोग मानते हैं कि गाधी-सेवा-सघ वस्तुत तो एक राजनैतिक पक्ष (दल) ही है। परन्तु इस बात को छिपाने के लिए ये लोग रचनात्मक कार्यों का नाम ले रहे है। काग्रेस की सपूर्ण सत्ता को अपने हाथ में लेने की इनकी यह एक चाल-मात्र है। परन्तु जब तक किसी जिम्मेदार व्यक्ति ने यह बात नही कही थी, तब तक मैंने इसे कोई महत्त्व नही दिया। परन्तु जब प० जवाहरलालजी को भी लगा कि यह एक राजनैतिक पक्ष है और यह काग्रेस पर कब्जा चाहता है, तब मुझे बहुत बुरा लगा।"

इसके बाद सघ के उन सदस्या की एक सूची बनायी गयी, जो सत्ता की राजनीति में अर्थात् धारा-सभाओ, म्युनिसिपैलिटियो, लोकल बोर्डों आदि सस्थाओ के सदस्य थे। इससे साफ-साफ प्रकट हो गया कि सघ के अधिकाश और महत्त्वपूर्ण सदस्य तो इन सस्थाओ में थे ही। इसलिए यह निश्चय किया गया कि सघ के वर्तमान रूप का विसर्जन कर दिया जाय। सघ का विसर्जन करने-वाला निश्चय इस प्रकार था:

"संघ के लम्बे अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि यह इष्ट नहीं कि संघ के सदस्य राजनैतिक संस्थाओं में भाग लें। इसलिए वर्तमान परिस्थिति में संघ की यह राय है कि अभी संघ के जो सदस्य राजनैतिक संस्थाओं में हैं, और जो उनमें रहना चाहते हैं, वे संघ के सदस्य न रहें।

"इस निर्णय का यह अर्थ हरगिज नहीं कि जो व्यक्ति राजनैतिक संस्थाओं में काम कर रहे हैं, वे संघ के सदस्य रहने के काबिल नहीं हैं, अथवा यह कि राजनैतिक काम दूसरे कामों की अपेक्षा महत्त्व में किसी प्रकार भी कम है। इस निर्णय पर पहुँचने का एक खास कारण तो यह बन गया है कि संघ के कितने ही सदस्य राजनैतिक संस्थाओं में भाग लेते है, इससे संघ के अन्दर वैमनस्य पैदा होने लगा है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारा अहिंसा का आचरण अधूरा और दूषित है। अहिंसा का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे हिंसा की वृद्धि का निमित्त कभी नहीं बनना चाहिए।

"संघ की सदा यह मान्यता रही है कि भारत के करोड़ों लोगों की उन्नति रचनात्मक काम से ही हो सकती है। रचनात्मक काम एक ऐसा काम है, जिसमें आम जनता सीधा भाग ले सकती है। इसलिए संघ की प्रवृत्ति रचनात्मक काम तक ही सीमित रहेगी। जो रचनात्मक कार्य चरखा-संघ जैसे रचनात्मक कार्य के संघों में नहीं आते, वे अब संघ के क्षेत्र में आयेंगे—उदाहरणार्थ रचनात्मक कार्य के साथ अहिंसा का क्या सम्बन्ध है, इसका अवलोकन, अध्ययन तथा संशोधन करना तथा रचनात्मक कार्य का व्यक्ति के निजी तथा समाज के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका निरीक्षण करना।

"संघ की राय यह भी है कि रचनात्मक काम का यह विभाग, जो रचनात्मक संस्थाओं से अलग है, उसका अच्छी तरह अध्ययन तथा संशोधन करने के लिए अभी पर्याप्त व्यक्ति गांधी-सेवा-संघ के पास नहीं हैं। इसलिए जब तक ऐसे अध्ययन तथा संशोधन के लिए आवश्यक साधन नहीं मिल जाते, तब तक संघ का आर्थिक व्यवहार और 'सर्वोदय' मासिक इन दो को छोड़ गांधी-सेवा-संघ की अन्य सब प्रवृत्तियाँ स्थगित कर दी जायें।"

इसके बाद नौ आदमियों की कार्यवाहक-समिति बना दी गयी और उसके अध्यक्ष श्री जाजूजी नियुक्त कर दिये गये।

गाधी-सेवा-सघ का विसर्जन हो जाने के कारण किशोरलाल भाई के सिर पर से जिम्मेदारी का एक बहुत वडा बोझ हट गया। स्वास्थ्य अच्छा न होने पर भी कर्तव्यवश सघ के सदस्यो से मिलने तथा उनकी प्रवृत्तियो का निरीक्षण करने के लिए उन्हें सारे देश में घूमना पडता था। गाधी-सेवा-सघ के अध्यक्ष होने के कारण देश के रचनात्मक काम में लगे तमाम छोटे-बडे कार्यकर्ताओ से उनका सपर्क हो गया। इस काम की वजह से भिन्न-भिन्न प्रान्तो—देश—के नेताओं से भी उनका परिचय हो गया और अपने नम्र तथा प्रेमभरे स्वभाव के कारण उन्होंने सबका सद्भाव भी सपादन किया। ◆◆◆

सन् १९४२ का युद्ध

किशोरलाल भाई जब गाधी-सेवा-सघ के काम से मुक्त हुए, तब साम्प्रदायिक दगो के कारण महादेव भाई को बाहर बहुत घूमना पडता था। १९४१ में उन्हें बहुत लम्बे समय तक अहमदाबाद में रहना पडा। उसके बाद गुजरात के कितने ही भागों में बाढें आयी। बाढपीडितो के लिए चन्दा एकत्र करने के लिए उन्हें बहुत दिन तक बम्बई में रहना पडा। तब किशोरलाल भाई बापू के पत्र-व्यवहार आदि कामो में मदद करते। शुरू-शुरू में तो वे रोज वर्धा से सेवाग्राम जाते। किन्तु बाद में वही रहने लग गये।

सन् १९४२ की ९ अगस्त को सरकार ने काग्रेस पर हमला बोल दिया। इससे पहले ससार में चलनेवाली व्यापक हिंसा और हमारे देश में कानून के नाम पर चलनेवाली अराजकता का प्रतिकार करने के लिए बापू उपवास करने का विचार कर रहे थे। काग्रेस की कार्यसमिति के लगभग सभी सदस्यो को यह कदम पसन्द नही था। इस पर ता० २०-७-१९४२ को बापू ने 'अहिंसा की पद्धति में उपवास का स्थान' शीर्षक एक लेख लिखा। ('हरिजन-बन्धु' ता० २६-७-१९४२) उसमें अपने पिछले उपवासो का उल्लेख करने के बाद उन्होंने लिखा था

"मेरे इन तमाम उपवासो के बावजूद सत्याग्रह के एक शस्त्र के रूप में उपवास मान्य नही हुआ। राजकाज में पडे हुए लोगो ने केवल उन्हें सह लिया, बस इतना ही। फिर भी मुझे इस निर्णय पर पहुँचना पडा है कि आमरण उपवास सत्याग्रह के कार्यक्रम का एक अत्यत महत्त्वपूर्ण अग है और कुछ निश्चित अवस्थाओं में वह सत्याग्रह का सबसे बडा और रामबाण शस्त्र है। परन्तु मनुष्य जब तक उचित तालीम नही प्राप्त कर लेता, वह इसका अधिकारी नहीं होता। रचनात्मक अर्थ में अहिंसा सबसे अधिक समर्थ शक्ति है। क्योंकि बुरा काम करनेवालो को किसी भी प्रकार शारीरिक अथवा भौतिक हानि पहुँचाये बिना ऐसा विचार भी न रखते हुए—कष्ट-सहन के लिए इसमें पूरा

अवकाश है। सत्याग्रह में सदा बुराई करनेवाले के हृदय के उत्तम अंश को जाग्रत करने का हेतु होता है। जहाँ कष्ट-सहन उसकी दैवी प्रकृति को स्पर्श करता है, वहाँ प्रतिकार उसकी आसुरी प्रकृति को उभाडता है। उचित सयोगो में सत्याग्रह इस प्रकार की एक उत्तम कोटि की अपील है। राजकाज मे पडे हुए कार्यकर्ता राजनैतिक मामलो में इसके औचित्य को इसलिए नहीं देख पाते कि इस उत्तम शस्त्र का यह उपयोग सर्वथा नयी वस्तु है। ऐहिक बातो में अहिंसा का उपयोग हम कर सकें, तभी तो यह काम की चीज होगी।"

किशोरलाल भाई ने ता० २५-७-१९४२ को 'मृत्यु का रचनात्मक बल' शीर्षक लेख लिखकर बापू के इन विचारो का समर्थन किया। उनकी दलील सक्षेप में इस प्रकार पेश की जा सकती है

"अहिंसात्मक प्रतिकार के साधन के रूप में उपवास पेश किया जाता है। यह मार्ग नया तो है ही नही। बहुत प्राचीन काल से हमारे देश में इसका अवलबन होता रहा है। एक प्रकार से आत्महत्या द्वारा मरने का एक तरीका इसे कहा जा सकता है। इसमें से यह प्रश्न उठता है कि जीवन के निर्माण में मृत्यु का स्थान क्या है? ··· ······मनुष्य बहुत गहराई में यह अनुभव करता है कि इसके शरीर को केवल धारण किये रखनेवाली जो सत्ता है, उसकी अपेक्षा जीवन का स्वरूप अधिक सूक्ष्म, अधिक व्यापक और अधिक चिरन्तन है। · ··अपने व्यक्तित्व से परे और अधिक व्यापक जीवन के विषय में उसे प्रतीति होती है और उसमें उसे रस भी होता है। ये अनुभूतियाँ देह के प्रति रस की अपेक्षा अधिक बलवती होती है। अपने बादवाले और अभी जो पैदा नही हुआ है, उस ससार के लिए वह कुछ छोड जाना चाहता है। कुछ और भी है। वह ससार को कुछ अधिक अच्छा-खराब नही—छोडकर जाना चाहता है। जहां तक उसकी बुद्धि पहुँच सकती है, उतने अश में यह व्यापक जीवन अधिक उन्नत और प्रगतिशील बने, ऐसा हर देहधारी का स्वाभाविक-अनसीखा—प्रयत्न होता है। यह व्यापक जीवन सब देहो के द्वारा प्रकट होता है और सभी मृत्युओं में वह दिखाई देता है और मृत्यु के बावजूद बाद में वह कायम रहता है। सच तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन के द्वारा व्यापक जीवन का निर्माण

जीवन ही जीवन का सच्चा स्वरूप है और वह जिस प्रकार शरीर के धारण द्वारा, उसी प्रकार शरीर के नाश द्वारा भी बनता रहता है। कितने ही प्रसग ऐसे भी होते है, जब जीवित प्राणियो की अतिवृद्धियुक्त और तीव्र प्रवृत्ति की अपेक्षा मरण का बल अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। ऐसे प्रसग पर मृत्यु मानो किसी गुप्त शक्ति को मुक्त कर देती है, ऐसा लगता है। यह शक्ति देहधारण की अवस्था में सारे प्रयत्न करते हुए भी पूरी तरह यशस्वी नही हो रही थी। परन्तु देह छूट जाने के बाद थोडे ही समय में जीवन की प्रगति में बाधा पहुँचानेवाली रुकावटो को वह अलग हटा देती है। तटस्थतापूर्वक विचार करते है, तो ऐसा मालूम होता है कि मृत्यु भी जीवित अवस्था की भाँति ही जीवन को बनानेवाला एक साधन है। सभव है कि जिस काम को कराने में प्राण की शक्ति सफल न हो सकी, उसीको सफल करने के लिए देश के कितने ही अच्छे-से-अच्छे पुत्रो-पुत्रियो की स्वेच्छा-मृत्यु की आवश्यकता हो। हाँ, इसे शक्तिरूप बनाने के लिए इसका निश्चय शान्तिपूर्वक खूब सोच-विचार के बाद अथवा पारिभाषिक शब्दो में कहें, तो अहिंसा की एक योजना के रूप में होना चाहिए। आवेश में अथवा निराशा में की गयी आत्महत्या के रूप में यह नही किया जाना चाहिए।"

आश्रम में इस बात को तो सभी जानते थे कि किसी विशेष परिस्थिति में प्राणत्याग करना धर्म हो सकता है। परन्तु वहाँ भी सबको ऐसा ही लगता था कि यह प्रसग और समय आमरण उपवास करने लायक नही है। इसके समस्त कारण बताकर यह कदम न उठाने के लिए महादेव भाई आदि ने बापू से प्रार्थना की। व्यक्तिगत सत्याग्रह के समय भी बापू उपवास का विचार कर रहे थे। तब महादेव भाई की एक दलील का उन पर असर पडा था और उन्होंने उपवास का विचार छोड दिया। उनकी दलील यह थी कि आप उपवास करते हैं तो उसका अर्थ यह होता है कि कार्यकर्ताओ और जनता पर आपका विश्वास नही है। वे सरकार से लडने के लिए तैयार हैं और इसके फलस्वरूप जो मुसीबतें आयें, उन्हें भी झेलने के लिए तैयार है। परन्तु अपने उपवास द्वारा उन्हें आप इसका अवसर देने से इनकार कर रहे हैं और उनके प्रति अन्याय कर रहे हैं। इस बार भी जब बापू ने उपवास की बात छेडी, तब यह तथा अन्य दलीलें देते हुए कितने ही साथियो ने बापू को पत्र लिखे। किशोरलाल भाई ने भी उन्हें

एक पत्र भेजा। यह पत्र उनके विचार और पद्धति का द्योतक होने के कारण यहाँ दिया जा रहा है :

ता० २८-७-'४२

"पूज्य बापू की सेवा में,

"आप पर उपवास और प्रायोपवेशन (आमरण उपवास) के संस्कार बचपन से है। उनके प्रयोग करके उनके बारे में विशेष ज्ञान भी आपने प्राप्त कर लिया है। फिर आपका सम्पूर्ण जीवन बड़े-बड़े आन्दोलन चलाने में बीता है। इसलिए मै इतना तो जान गया हूँ कि आपके जीवन का अत एक सामान्य वृद्ध मनुष्य की भाँति बीमार पडकर मृत्यु के द्वारा तो शायद नही होगा। इसलिए व्यक्तिगत भावनाओ को अलग रखकर तटस्थता के साथ मै विचार कर सकता हूँ और अपने-आपको व्याकुल नही होने देता।

"परन्तु मरण के द्वारा कोई शक्ति प्रकट करनी है, तो वह केवल तर्कपूर्वक नही, बल्कि गभीर चिंतन और दर्शन के साथ होनी चाहिए। दर्शनरहित श्रद्धा को मै श्रद्धा ही नही मानता। यह मै अनुयायियो के लिए नही, गुरु के लिए कह रहा हूँ। अनुयायियो के लिए तो गुरु की आज्ञा पर्याप्त हो सकती है। क्योकि उसका ध्येय आलम्बन के बगैर चढने का होता ही नही। गुरु को जो दीखे, वही उसकी श्रद्धा और वही उसका दर्शन होता है।

"इसका अर्थ यह है कि ऐसे मनुष्य के सामने मरण का आवाहन करने के प्रकार और प्रसग का स्पष्ट दर्शन होना जरूरी है और वह उसके जीवनभर के आदेश के अनुरूप होना चाहिए। खून के समान आत्महत्या भी हिंसक तथा अहिंसक दोनो प्रकार की शक्ति को उत्पन्न कर सकती है।

"प्रधानरूपेण आप किस भाव के पैगम्बर है? अग्रेजी सल्तनत के विनाश के? भारत की स्वतन्त्रता के? अन्याय-निवारण के? अहिंसा के? सत्य के? अग्रेजो के प्रति मित्र-भाव के? युद्ध-विरोध के? कौमी एकता के? अस्पृश्यता-निवारण के? आपके जीवन का जो मुख्य सन्देश हो, वही मरण मे भी मुख्य दृष्टिगोचर होना चाहिए। यदि अग्रेजी सल्तनत का नाश करने के लिए आप मृत्यु का आवाहन करेंगे, तो वही शक्ति आपकी मौत का कारण बनेगी।

अहिंसा आदि गौण हो जायँगे। अंग्रेजों के प्रति असत्रुता और जापानियों के प्रति विरोध गौण बन जायँगे।

"ऊपर का प्रत्येक भाव भिन्न-भिन्न आदमियों का मुख्य ध्येय हो सकता है। और उस-उस ध्येय के लिए जीने-मरने का अवसर उसे मिलेगा, तो वह अपने को कृतार्थ मानेगा और उसकी मृत्यु भी जीवन का रचनात्मक बल बन सकती है। ऐसे अवसर का दर्शन सेनापति के रूप में आप हर मनुष्य को करवा सकते हैं। इनमें से किस ध्येय को आप अपने जीवन का प्रधान भाव मानते हैं, उस पर से अपनी मृत्यु को खोज लेने की दृष्टि आपको स्थिरतापूर्वक मिल जानी चाहिए।

यं यं वापि स्मरन् भावं, त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥*

इस श्लोक का सही अर्थ यही है। इसमें 'स्मरन्' शब्द शायद अधूरा भी कहा जा सकता है। यहाँ शायद 'समाचरन्' शब्द अधिक सही होगा।

"जो शक्ति विह्वलता और निराशा पैदा करती है, उसमें से उत्पन्न शक्ति अहिंसक नहीं रह सकती। इसी प्रकार यह भी निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि उसमें से सन्तोषजनक फल नहीं उत्पन्न हो सकता। यदि आप कांग्रेस को साथ में रखकर उपवास का कदम उठायेंगे, तो कांग्रेस के मुखिया में जितनी लम्बी छलांग मारने की शक्ति होगी और 'दुर्जनस्तुष्यतु' इस न्याय से जितना कम-से-कम छोड़ने से सरकार का काम चल जाने की स्थिति होगी, बस, उतने ही पर समझौता हो जायगा। और यह तो किसीसे छिपा नहीं है कि कांग्रेस के मुखिया कोई समझौता कर लेने की फिराक में हैं। वे कह देंगे कि इतने से हमारा सन्तोष हो गया है। तब आपको भी उसीमें सन्तोष मानकर बैठ जाना पड़ेगा और उन लोगों को भी, जो आपके पीछे मूक बलिदान देने के लिए तैयार रहते हैं। परन्तु यदि उनका सन्तोष नहीं हुआ, तो वे नेताओं के द्वेष्टा बन जाते हैं। इसीमें से फारवर्ड ब्लॉक जैसी संस्थाओं का निर्माण होता है। इसी-

---

* हे कौन्तेय ! मनुष्य जिस जिस स्वरूप का ध्यान करता है, अन्तकाल में उसी स्वरूप का स्मरण करता हुआ यह देह छोड़ता है और उस भाव से भावित होने के कारण वह उसी स्वरूप को प्राप्त होता है।

सी प्राप्ति तो आपके उपवास की महँगी कीमत चुकाये बगैर भी हो सकती है। क्रिप्स-योजना में थोडा-बहुत सुधार करवा लेना असभव नही है। उसमे काग्रेस के नेताओ को सन्तोष हो जायगा। जिनको असन्तोष है, वे सब काग्रेस से बाहर—मूक कार्यकर्ता और मूक जनता—हैं। आज उनका समय नही है। अथवा उनमें आज यह शक्ति नही कि अपने बल पर अपने ध्येय को पेश कर सकें। इसलिए वे मन मसोसकर रह जाते हैं। अधूरे समझौता से उनकी आत्मा को कृतार्थता का समाधान नही मिलता। फिर भी आप वही ध्येय उनके सामने एक तात्कालिक कदम के रूप मे रखकर उनके द्वारा प्राप्त करवा सकते हैं। इसके लिए आवश्यक बलिदान वे खुशी-खुशी कर देंगे। इसके लिए आपको उपवास जैसी कीमत चुकाने की जरूरत नही है। आपके उपवास से अनुयायियो का बल नही बढेगा, क्योकि काग्रेस के मुखिया का लक्ष्य छोटा है।

"मरण की शक्ति का आप उपयोग करे, इसमें मुझे कुछ भी दोष नहीं दिखाई देता। परन्तु अभी तो आपको सेनापति की हैसियत से ही यह काम करना है। आपका अपना बलिदान करने का जब क्षण आयेगा, तब वह इतना असदिग्ध होगा कि एक छोटा-सा बच्चा भी उसकी अनिवार्यता को समझ सकेगा। कौमी निर्णय इस प्रकार के उपवास के लिए अवश्य ही उपयुक्त कारण था।

आज्ञांकित
किशोरलाल के दण्डवत् प्रणाम"

दूसरे साथियो के पत्रो में मुख्य दलील यह थी कि "आज यदि अधीर होकर आप अपना बलिदान देने जायँगे, तो उसमें अग्रेजो के प्रति आप जीवनभर जो उदारता प्रकट करते आये हैं, उसे खो देंगे। यदि कही आपको अपने प्राण अर्पण कर देने पड़े, तो भारतीयो और अग्रेजो के बीच हमेशा के लिए दुश्मनी की दीवार खडी हो जायगी।"

समस्त साथियो की दलीलें अपना काम कर गयी। अथवा उस समय बापू को उपवास करना अनिवार्य नही मालूम हुआ या यह भी कह सकते हैं कि उन्हें इस समय ईश्वरीय प्रेरणा नही हुई। तात्पर्य [illegible] उपवास नही किया गया।

सन् १९४२ के युद्ध में किशोरलाल भाई पर एक बडी जिम्मेदारी यह आयी कि ता० ९ अगस्त को बहुत से नेता गिरफ्तार कर लिये गये और 'हरिजन' पत्रो का सचालन उनके हाथो में आ गया। उस समय बहुत से लोग विध्वसात्मक आन्दोलन चलाना चाहते थे। उनका मार्ग-दर्शन किस प्रकार किया जाय, यह प्रश्न था। किशोरलाल भाई के सचालन में 'हरिजन' पत्रो के केवल दो ही अक प्रकाशित हो सके थे। ता० २२ की सुबह उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया, परन्तु अहिंसा की मर्यादा में रहकर सरकार को तोडने के लिए क्या-क्या किया जा सकता है, इस प्रश्न का उत्तर ता० १४ को लिखे एक पत्र में उन्होने बताया था। यह विध्वस करनेवालो के लिए बहुत अनुकूल हो गया और इसकी लाखो प्रतियाँ सारे देश में पहुँचा दी गयी। उनका उत्तर यह था -

"मै अपनी व्यक्तिगत राय दे सकता हूँ। मेरा खयाल है कि आफिस, बैंक, गोदाम आदि लूटे या जलाये नही जाने चाहिए। परन्तु अहिंसक रीति से अर्थात् किसीके प्राणो को खतरा न हो, इस ढग से वाहन-व्यवहार और सन्देश-व्यवहार बन्द किया जा सकता है। हडतालो की योजना सबसे अच्छा साधन होगा। यदि वे सफल सिद्ध हो सकें, तो केवल वे ही प्रभावकारी और पर्याप्त हो सकती है। यह ऐसी अहिंसा होगी, जिस पर किसीको आपत्ति नही हो सकती। तार काटना, रेल की पटरियाँ उखाडना भी इस अतिम फैसला करनेवाली लडाई में आपत्ति-जनक नही माने जा सकते। केवल एक बात का पूरा खयाल रहे कि किसीके प्राणो की हानि न होने पाये। यदि जापान का आक्रमण हो जाय, तो अहिंसक बचाव की दृष्टि से हमें यह सब करना चाहिए, इसमें कोई सन्देह नही। साराश यह कि धुरी राष्ट्रो के प्रति अहिंसक क्रान्तिकारी जो व्यवहार करें, वही व्यवहार अग्रेजो के प्रति भी हो और वही कदम जापान के विरुद्ध भी उठायें।"

इसके साथ ही उन्होने यह भी चेतावनी दी थी

"गाधीजी के लिए तो सत्य और अहिंसा एक सिक्के की दो बाजुएँ है, और दोनो एक साथ रहते है। एक को दूसरे से अलग नही किया जा सकता और यदि इन्हें अलग करना सभव हो भी, तो अहिंसा की अपेक्षा सत्य ही श्रेष्ठ है। अब सत्य ऐसी वस्तु है कि जो गुप्तता अथवा भय के साथ नहीं रह सकती। अहिंसा

गाधीवादी कार्यकर्ता जो भी कदम उठाये अथवा उठाने का विचार भी करे, वह सब खुल्लमखुल्ला हो और इसके कारण अपने शरीर पर अथवा जायदाद पर जो भी सकट आये, उसमें से छूटकर भागने का जरा भी प्रयत्न न करे। वह परदे के भीतर बैठकर सून-सचालन अथवा योजनाएँ बनाकर देने का काम न करे। हम जो कर रहे है, इसके परिणामों को जो जानते नही, अथवा जो अत्याचारो के सामने दब जायँ, ऐसे लोग इसमें न फँस जायँ, इस बात का वे पूरा खयाल रखें। मेरी सूचना है कि अनजान ग्रामीणो और मजदूरो को ऐसे कामो में नही फँसाना चाहिए। इसी प्रकार इस सारे कार्यक्रम से यह तो सावधानी रखनी ही है कि कही किसीकी प्राणहानि न होने पाये।"

युद्ध के बीच लोगो को किस प्रकार अपना बर्ताव रखना चाहिए, इस विषय में कुछ नियम बताते हुए उन्होने कहा था

"यह मानकर हम काम करें कि आपके सामने अग्रेज सरकार है ही नही, उसके अधिकारियो और डाकुओ अथवा आक्रमण करनेवालो में कोई भेद नही है। इनका समस्त अहिंसक साधनों और तरीको से मुकाबला कीजिये। अपनी स्वतत्र व्यवस्था खडी करके उसकी स्थापना कीजिये। आपकी शक्ति में हो, ऐसे सारे उपाय करके ऐसा यत्न करे कि पद्रह दिन के अन्दर हमारे गाधीजी हमारे बीच वापस पहुँचा दिये जायँ।"

सन् १९४८ के जनवरी मास में इन सूचनाओ पर टीका करते हुए उन्होने कहा था .

"इन दोनो सूचनाओ में जन-स्वभाव का पूरा विचार नही किया गया है। इसलिए व्यवहार की दृष्टि से वे अमल में आने लायक नही थी। इसमें अधिकारियों की तुलना डाका डालनेवालो और हमला करनेवालो के साथ की गयी है। इसी प्रकार पद्रह दिन के अन्दर गाधीजी को छुडा लेने की प्रेरणा इनमें है। इस तरह उत्तेजित किये जाने के बाद यह आशा रखना बहुत अधिक है कि लोग अहिंसक साधनो से ही चिपटे रहेंगे।"

परन्तु उन दिनो किशोरलाल भाई की वृत्ति ऐसी थी कि अग्रेज सरकार के लिए राज चलाना अशक्य कर दिया जाय। ऐसी भावना जिस समय बहुत तीव्र होती है, तब अहिंसा का खूब सूक्ष्म रीति से पालन करने

रखना बहुत कठिन होता है। उस समय तो अहिंसा की व्याख्या को ढीला करने की वृत्ति होना ही अधिक स्वाभाविक है।

इसके बाद सरकार ने 'सन् १९४२-४३ के उपद्रवों में कांग्रेस की जिम्मेदारी' इस नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें किशोरलाल भाई के लेखों के विषय में इस तरह टीका की गयी थी

"इसके बाद 'हरिजन' के दो अंक प्रकाशित हुए। इनके सम्पादक गांधीजी के मुखरूप (Mouthpiece) श्री कि० घ० मशरूवाला थे। इनमें लड़ाई के विविध अंगों का संचालन किस प्रकार किया जाय, इस विषय में तफसीलों के साथ सूचनाएँ दी गयी हैं। (कांग्रेसनी जवाबदारी पृ० १९)

"'हरिजन' की भिन्न-भिन्न भाषाओं के संस्करणों के संपादक श्री गांधी के विचारों से सर्वथा भिन्न विचार प्रकट करने की हिम्मत शायद ही कर सकते थे। फिर भी *इनमें तार काटना, रेल की पटरियाँ उखाड़ना, पुलों को तोड़ना और पेट्रोल की टंकियों को आग लगाना—ये सब काम अहिंसा में शुमार करने लायक* बताये गये हैं।" (वही पुस्तक पृ० ३७)

इस सरकारी पुस्तक का गांधीजी ने ता० १५-७-१९४७ को विस्तृत जवाब दिया है। (देखिये, गांधी-सरकार पत्र-व्यवहार १९४२–४४) उसमें से प्रस्तुत भाग नीचे दिया है

"५९ दूसरा उदाहरण ता० २३ अगस्त १९४२ के 'हरिजन' से श्री कि० घ० मशरूवाला के लेख से एक उद्धरण लेखक ने दिया है। श्री मशरूवाला एक आदरणीय साथी हैं। वे अहिंसा को इस हद तक ले जाते हैं कि जो उन्हें व्यक्तिशः पहचानते हैं, वह हार जाते हैं। फिर भी जो वाक्य उद्धृत किये गये हैं, उनका बचाव मैं नहीं करूँगा। *उन्होंने यह कहकर कि यह तो मेरी व्यक्तिगत राय है, गलतफहमी को रोकने का यत्न किया है। पुल, पटरियाँ आदि को तोड़ना अहिंसा है या नहीं,* इन प्रश्नों की चर्चा करते हुए शायद उन्होंने मुझे कभी सुना हो।*

---

* गांधीजी के मन पर यह छाप है कि पुल तोड़ने आदि के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए मैंने शायद उन्हें सुना हो। मैं आदरपूर्वक कहता हूँ कि मुझे याद नहीं कि मैंने उनके मुँह से ऐसी कोई चर्चा सुनी हो।—कि० घ० म०

परन्तु मुझे हमेशा इस बात का सन्देह रहा है कि ऐसी तोडफोड अहिंसक रह सकती है या नही। इस तरह की तोडफोड अहिंसक रह सकती है, ऐसी हम कल्पना कर सकते है और मै मानता हूँ कि वह ऐसी रह सकती है। परन्तु आम जनता से यह आशा नही रखी जा सकती कि वह ये काम अहिंसा के साथ कर सकती है। उसके सामने यह बात रखना भी खतरनाक है। फिर लडाई के सम्बन्ध में ब्रिटिश सत्ता को जापान की पंक्ति में रखा जा सकता है, ऐसी मेरी धारणा नही है।

"एक सभावित (प्रतिष्ठित) साथी की राय का परीक्षण कर लेने के बाद मै कहना चाहता हूँ कि श्री मशरूवाला की राय को हिंसक हेतु के प्रमाण के रूप मे पेश नही किया जा सकता। बहुत अधिक तो इसमें निर्णय की भूल है, जो सभी क्षेत्रो में अहिसा का आचरण करने की योग्यता जनता मे किस हद तक है, इसका विचार करने में स्वभावत हो सकती है। बडे-बडे सेनापतियो और राजनैतिक पुरुषों से भूलें होती हमने कई बार देखी ही है। परन्तु इस कारण उन्हे किसीने नीचे की पंक्ति में नही गिना है, अथवा उन पर दुष्ट हेतु का आरोपण नही किया है।"

जिस दिन गाधीजी ने यह जवाब सरकार को भेजा, उसी दिन एक विचित्र योगायोग की बात है कि किशोरलाल भाई नागपुर सेण्ट्रल जेल में मध्यप्रदेश के चीफ सेक्रेटरी के नाम इसी विषय पर एक पत्र तैयार कर रहे थे। यह पत्र ता० १६ जुलाई को उन्होने जेल के अधिकारियो को सौंपा। वह नीचे लिखे अनुसार है।

श्री चीफ सेक्रेटरी,
मध्यप्रदेश तथा बरार की सरकार,
नागपुर

"साहब,

सक्षेप की दृष्टि से उपर्युक्त पत्रको तथा पत्रों की ओर मै आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। इसके अन्दर जो प्रार्थना की गयी है, वह नामजूर होने के बाद मैंने यह निर्णय किया था कि ईश्वरेच्छा से जब तक मै मुक्त नही हो जाऊँ तब तक इस विषय में फिर से कुछ नही कहूँगा। यदि अंत करण की प्रेरणा ।

में निषेध किया है। उदाहरणार्थ, दफ्तर, बैंक आदि को लूटने और आग लगाने का। दो बातो (तार-व्यवहार और वाहन-व्यवहार तोडने) के बारे में मेरा जवाब कमजोर था। जहाँ तक मुझे याद है, मेरे जवाब के बाद के पैरे (इनको सरकार ने प्रकाशित नही किया) उन सब बातो को सौम्य कर देते है, जिनको मैंने स्वीकारयोग्य कहा है। यही नही, उनके प्रति इनमें मेरी नापसन्दी भी प्रकट होती है।

"परन्तु यह पत्र मैं अपने बचाव के लिए नही लिख रहा हूँ। मैं तो अपना दिल साफ करना चाहता हूँ। (इस दृष्टि से) मैं आज देखता हूँ कि इन दो बातो के विषय में मेरी नापसन्दगी बहुत ढीली थी और दृढता के साथ अपनी राय प्रकट न करने में मैंने कमजोरी प्रकट की थी। मुझे लगता है कि श्री एमरी ने जो कार्यक्रम प्रकट किया था, उसकी जाँच करते समय मुझे तार्किक पृथक्करण का आधार नही, अपने हृदय में जलती हुई ज्योति की ही मदद लेनी चाहिए थी। मुझे यह लग रहा है कि अपने हृदय की ज्योति के प्रकाश में न चलने का प्रमाद मैंने किया। यही नही, बल्कि उस समय जितने ही साथी हाजिर थे, उनकी राय की भी मैंने पूरी परवाह नही की। आज मुझे मालूम होता है कि जिस प्रकार मैंने लूटने और आग लगानेवाले कार्यक्रम का निषेध किया, उसी प्रकार तार तोडने, पटरियाँ उखाडने, पुल तोडने और वाहन तथा तार-व्यवस्था को बिगाडनेवाली दूसरी क्रियाओ का भी मुझे स्पष्ट शब्दो में निषेध करना चाहिए था।

"मैं जानता हूँ कि यह इकबाल भेजने में बहुत देर हो गयी है। परन्तु मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ कि मुझे इसका भान होने के बाद मैंने जरा भी विलम्ब नही किया है। गत आषाढी एकादशी अर्थात् ता० १४ जुलाई की रात में मुझे यह जाग्रति हुई तथा इसकी सूचना आपके पास भेजने की प्रेरणा भी हुई।"

इस पत्र का सरकार की तरफ से किशोरलाल भाई को कोई उत्तर नही मिला। जेल से छूटने के बाद ता० २६-१०-१९४४ को उन्होंने एक जाहिर निवेदन के साथ यह पत्र भी प्रकाशित कर दिया।

इस सारे प्रकरण की समालोचना करते हुए ता० २१-१-'४८ को किशोरलाल भाई ने लिखा था :

"मेरे मन में मुख्य विचार यह था कि 'हरिजन' की जिम्मेवारी मुझ पर आ गयी है। इसलिए इसमें सत्य और अहिंसा की मर्यादा रखते हुए भी मुझे इसमें कोई ऐसी कमजोरी की बात नहीं लिखनी चाहिए, जो पीछे काम करनेवालों को सुस्त या ढीला बना दे अथवा उनके मन में संशय पैदा कर दे। खरी-खोटी जैसी भी हो, परन्तु स्पष्ट सूचना देने की हिम्मत करनी चाहिए। इन लेखों में प्रकट की गयी राय के बारे में आज मेरे क्या विचार हैं, यह मैं बता दूँ, तो अनुचित नहीं होगा।

"मुझे लगता है कि मुझे हिंसा-अहिंसा की चर्चा में नहीं पड़ना चाहिए था, क्योंकि इस कार्यक्रम को अहिंसक बताने पर भी मैंने यह राय दी है कि व्यावहारिक दृष्टि से यह कार्यक्रम करने लायक नहीं है। तात्त्विक चर्चा करने के बजाय केवल व्यावहारिकता का निर्णय ही मैं देता, तो अच्छा होता। अब भले ही मैं इसका भार भगवान् पर डालकर अपने मन को इस तरह समझाऊँ कि भगवान् इस लड़ाई को इसी तरह चलाना चाहता था और उसमें प्रेरक के रूप में वह मेरा उपयोग करना चाहता था। इस कारण यद्यपि मैं स्पष्ट निर्णय देना चाहता था, फिर भी मेरे द्वारा द्विमुखी निर्णय दे दिया गया। परन्तु भगवान् पर यह भार न डालूँ, तो मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मेरी विवेक-बुद्धि पर आवरण पड़ गया था।

"तत्त्वतः ऐसे काम अहिंसक तरीकों से हो सकते हैं, यह राय गांधीजी ने भी प्रकट की है और मैंने भी कहा है। इसका अर्थ यह है कि उस समय हम दोनों के विचार एक-से थे। परन्तु आज (बल्कि सरकार को मैंने १६ जुलाई १९४३ को यह पत्र लिखा, तब से) विचार करने पर मुझे लगता है—और शायद गांधीजी भी आज यही कहें—कि तात्त्विक दृष्टि से भी यह अहिंसा का कार्यक्रम नहीं था। यह तो विरोधी को पराजित करने का कार्यक्रम था। उसमें विरोधी के प्रति अहिंसक भावना—मैत्री अथवा करुणा नहीं थी, उपेक्षा भी नहीं थी। बल्कि इसमें तो उसे मार गिराने की आकांक्षा थी। इसे अहिंसक कार्यक्रम नहीं कहा जा सकता।"

किशोरलाल भाई सन् १९४२ के सितम्बर में जबलपुर सेण्ट्रल जेल में थे। तब 'क' श्रेणी के राजबन्दियों के प्रति जेल-अधिकारियों के अमानुषिक व्यवहार

के समाचार बाहर आये थे । जेल के दूसरे कैदियों तथा बाहर के लोगों की शंकाओं एवं भय के निवारणार्थ जेल के अधिकारियों के द्वारा इसके कोई समाचार प्रकट नहीं किये गये । यहाँ तक कि जेल का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त कमेटी के गैर-सरकारी सदस्यों तक को जेल में जाने से मना कर दिया गया। इसके विरोध में कैदियों ने अपनी बैरकों में बन्द होने से इनकार कर दिया। तब हथियारबन्द पुलिस बुलायी गयी। उसने कैदियों को घसीट-घसीटकर तथा मार-पीटकर बैरकों में बन्द कर दिया। इस पर वहाँ उन्होंने खाना लेने से इनकार कर दिया। यह समाचार मिलने पर किशोरलाल भाई तथा उनके वर्ग के अन्य कैदियों ने यह माँग की कि उन्हें इन कैदियों के वार्ड में जाने की इजाजत मिले, ताकि वे उनसे मिलकर वहाँ की स्थिति की जानकारी खुद प्राप्त कर सकें। जिला मैजिस्ट्रेट ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया। तब ता० २३-९-१९४२ को जबलपुर-जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट को उन्होंने नीचे लिखा पत्र भेजा :

'प्रिय मित्र,

"मैंने और मेरे साथी नजरबन्दों ने कल एक अर्जी भेजी थी, जो नामंजूर कर दी गयी। मुझे लगता है कि इन परिस्थितियों में मैं अपनी मानसिक शान्ति की अधिक समय तक रक्षा नहीं कर सकूँगा। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि जब तक मेरी बात नहीं मान ली जायगी अथवा मुझे छोड़ नहीं दिया जायगा, मैं अन्न तथा जल नहीं ग्रहण करूँगा। आपसे मेरी केवल इतनी ही प्रार्थना है कि मुझे शान्ति से पड़ा रहने दें और ऐसे कोई प्रयत्न न करें, जिनसे मुझे शारीरिक या मानसिक कष्ट हो। जब सत्ताधारियों को ऐसा लगे कि मेरा जीवन केवल बोझा मात्र और पीड़ा ही पीड़ा रह गया है, तब इस पत्र द्वारा मैं जेल के अधिकारियों को इजाजत देता हूँ कि वे मुझे आवश्यक जहर देकर मेरे जीवन का अन्त कर दें। इस सम्बन्ध में सारी जिम्मेदारी से मैं उन्हें इस पत्र द्वारा मुक्त करता हूँ। इसके साथ मैं उनसे यह भी कह देना चाहता हूँ कि—वे मुझे मुँह के द्वारा या अन्य किसी प्रकार से शराब, प्राणियों के शरीर से बनी कोई दवा खुराक अथवा इंजेक्शन उदाहरणार्थ एड्रिनेलिन, कॉडलिवर, लिवर के सत्त्व और खून आदि देकर मेरे शरीर को अपवित्र न करें।

"यह कहना तो कठिन है कि मैंने किसी भी व्यक्ति के प्रति अनजान में भी

द्वेषभाव नहीं रखा। परन्तु ऐसे भावो को टालने का मेरा प्रयत्न जरूर रहा है। मैं आशा करता हूँ कि होश खोने से पहले ऐसे भावो से मैं पूर्णत मुक्त हो जाऊँगा। परमात्मा मुझे, आपको और सरकार को सन्मार्ग पर चलने की बुद्धि दे।

मित्रभावपूर्वक आपका

कि० घ० मशरूवाला"

यह पत्र मिलने के बाद सरकार ने किशोरलाल भाई को छोडा तो नहीं, परन्तु उन्हें दूसरी जेल में भेज दिया। कहने की जरूरत नहीं कि 'क' वर्ग के उन कैदियो की शिकायतें भी दूर कर दी गयी। ◆◆◆

'हरिजन'-पत्रों के सम्पादक : २२ :

गांधीजी ने जब से 'नवजीवन' पत्र शुरू किया, तब से किशोरलाल भाई उनमें जब-तब लिखते रहते थे। १९३२ के अंत में उन्होंने 'हरिजन' और बाद में 'हरिजन-बन्धु' शुरू किया। तब किशोरलाल भाई जेल में थे। परन्तु जेल से छूटने के बाद अस्पृश्यता-निवारण पर तथा ग्रामोद्योगो पर वे लिखने लगे। बापू ने जब वर्धा-शिक्षा-योजना जनता तथा सरकार के सामने रखी, तो उस पर भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। किसी भी विषय का सूक्ष्मता के साथ पृथक्करण करने तथा उसके मर्म तक पहुँचने में किशोरलाल भाई का दिमाग खूब चलता था। इसलिए बापू की बातो को जनता के समक्ष स्पष्टता के साथ रखने में किशोरलाल भाई का विवरण बडा मददगार होता। 'गाधी-विचार-दोहन' के बारे में बापू ने लिखा है कि "भाई किशोरलाल को मेरे विचारों का असाधारण परिचय है।" कितनी ही बातो में किशोरलाल भाई के विचार और मान्यताएँ बापू से भिन्न थी। परन्तु कुल मिलाकर यों कहा जा सकता है कि बहुत से विषयों में उनके और बापू के विचार एक-से थे।

सन् १९४२ में ता० ९ अगस्त के बाद के दो हफ्ते अत्यंत नाजुक और चित्त को क्षोभ पहुँचानेवाले थे। ऐसे समय 'हरिजन' पत्रों के सम्पादन का भार उन्ही पर पडा था।

उस समय लोगो का मार्गदर्शन करने में उन्होंने कमजोरी प्रकट की, यह बात उन्होंने बाद में स्वीकार की थी। इसका विवरण पिछले प्रकरण में आ ही गया है।

इसके बाद सन् १९४६ में जब बापू ने नोआखाली की पदयात्रा शुरू की, तब उन्हें लगा कि 'हरिजन'-पत्रो का सपादन-कार्य तथा विशाल पत्र-व्यवहार का सारा काम वे खुद नही सँभाल सकेंगे। तब यह काम उन्होंने चार आदमियों को सौंपा—काकासाहब, किशोरलाल भाई, विनोबा तथा मैं। हम चारों में से इस काम का मुख्य भार तो किशोरलाल भाई ने ही उठाया और इसके

वे मेरे पास साबरमती-आश्रम आकर रहने लगे। यहाँ उनकी तन्दुरस्ती अच्छी नही रहती थी, फिर भी लगभग चार महीने उन्होंने 'हरिजन'-पत्रों के सम्पादन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

बापू के देहान्त के बाद चार अक प्यारेलालजी ने निकाले। इसके बाद उन्होंने प्रकट किया कि "जैसा कि पिछले हफ्ते राजाजी ने कहा था, यह तो स्पष्ट है कि बापू के जाने के बाद 'हरिजन' उसके वर्तमान स्वरूप में नही चलाया जा सकता, इसलिए मित्रो और गुरुजनो की सलाह से जब तक इस विषय में हम अंतिम निर्णय पर नही पहुँच जाते, तब तक 'हरिजन' का वर्तमान रूप में प्रकाशन बन्द करने का मैंने निश्चय किया है।" इस पर से 'हरिजन'-पत्रो के व्यवस्थापक भाई जीवणजी देसाई ने लिखा कि प्रस्तुत पत्रों को पुन शुरू करने या न करने के विषय में अतिम निर्णय अगले महीने वर्धा मे किया जायगा। इस प्रकार ता० २२ फरवरी से ४ अप्रैल तक पत्रों का प्रकाशन बद रहा और इसके बाद वे किशोरलाल भाई के सपादकत्व में पुन शुरू कर दिये गये। उस समय सरदार वल्लभभाई ने लिखा था

"गाधीजी तथा उनके आदर्शों के साथ सहानुभूति रखनेवाले और प्रशसक सारे ससार में फैले हुए है। इन सबकी यह इच्छा है कि गाधीजी की प्रवृत्तियाँ भारत में किस प्रकार चल रही है, इसकी उन्हें जानकारी मिलती रहे तथा इनके साथ उनका सपर्क बना रहे। इसके लिए कोई साधन निर्माण करना चाहिए, ऐसी माँगें उनकी तरफ से आती रहती है। उनकी इस स्वाभाविक माँग की पूर्ति यदि न की गयी, तो अनुचित होगा।"

किशोरलाल भाई ने इन पत्रो का सपादन करना स्वीकार किया, इस पर उन्होंने लिखा था

"श्री किशोरलाल मशरूवाला ने अपने स्वास्थ्य की भारी मर्यादा की परवाह न करते हुए 'हरिजन' के कार्य में कूदने का साहसपूर्ण निर्णय किया, इसी कारण 'हरिजन'-पत्रों का पुन प्रकाशन सभव हो सका है। अपने सम्पूर्ण जीवन में गाधीजी के आदर्शों का केवल अध्ययन ही नही, इन आदर्शों को अपने जीवन में उतारने का अनवरत यत्न करनेवाले श्री विनोबा के समान हमारे पास वे एक निष्ठावान् सत्य-शोधक है। अपनी मर्यादाओ को वे खूब अच्छी तरह जानते है।"

'हरिजन'-पत्रो का भार अपने सिर पर लेते हुए किशोरलाल भाई ने अपने 'भगवान् भरोसे' शीर्षक लेख में लिखा था

"हरिजन'-पत्रो के सपादन का भार मै भगवान् के भरोसे ही उठा रहा हूँ। यह मै नम्रता से शिष्टाचार की भाषा में नही कह रहा हूँ। व्यवहार-बुद्धि से देखा जाय, तो मै यह एक साहस का ही कार्य कर रहा हूँ। मेरी अपनी शक्ति को देखते हुए केवल लेख लिखने और सपादन का भार उठाने में बहुत बडा अतर है।

"एक बात पहले से ही साफ कर देना जरूरी है। कुछ दिन पहले जो बात विनोबा ने अपने बारे में कही थी, वह मै खुद अपने बारे में भी सही पाता हूँ। बहुत-सी बाते मैने गाधीजी से ली है। बहुत-सी दूसरो से भी ली है। मेरे अत -करण मे ये सब घुल-मिल गयी है और मेरे मानस के रूप में बन गयी है। इस कारण जो विचार मै पेश करूँगा, वे सब गाधीजी के अनुसार ही होगे; ऐसा नही कहा जा सकता। उन्हें आप मेरे अपने विचार ही समझें। मै कभी-कभी शायद यह भी लिख जाऊँ कि ये विचार गाधीजी के है। इसके लिए खुद गाधीजी के प्रत्यक्ष लेखन को ही यदि मै उद्धृत न करूँ, तो आप यही समझें कि मैने गाधीजी के विचारो को जिस प्रकार समझा है, केवल उसी प्रकार मै बता रहा हूँ। जो बात मैने अपने विषय में कही, वही दूसरे लेखको के बारे में भी समझी जाय।"

ता० ११-४-१९४८ के अर्थात् अपने सपादकत्व के दूसरे अक में ही उन्होने लिखा

"किसी भी पत्र का सपादक बनकर उसे चलाने का उत्साह मुझमें नही है। परन्तु गाधीजी ने मुझ पर जो विश्वास किया, जो प्रेम मुझ पर बरसाया, वह ऋण अपनी सेवा द्वारा उनके रहते मै पूरी तरह से अदा नही कर सका। मेरा यह दुर्भाग्य मुझे सदा दु ख देता रहता है और उसीने मुझे इस भार को उठाने से इनकार करने से रोका है। मै इनकार कर दूँ और नवजीवन कार्यालय को सपादन की दूसरी सन्तोषजनक व्यवस्था के अभाव में गाधीजी का पत्र बन्द करने का निर्णय करना पडे, तो यह मेरे लिए लज्जा की बात होगी।"

किशोरलाल भाई ने 'हरिजन'-पत्रो का सपादन लगभग साढे चार वर्ष किया। इस बीच उन्होने गाधीजी के विचारो, भावनाओ और आदर्शो का विवरण इतनी यथार्थता तथा प्रभावपूर्वक किया कि कितने ही पा०

कहते कि मानो गांधीजी उनके हृदय में बैठकर यह सब उनके द्वारा लिखवा रहे हैं। पाठकों को इतना सन्तोष होने पर भी किशोरलाल भाई को एक बात बहुत खटकती रहती थी। वह यह कि गांधीजी जो भी कुछ लिखते, उसे अमल में लाने के लिए इतनी जबरदस्त हलचल उठा देते थे और ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देते थे कि जनता के बहुत बड़े भाग को तथा सरकार को भी लगता कि यह वस्तु किये बगैर काम नही चलेगा। उदाहरणार्थ—उन्होंने अनाज पर लगी बहुत-सी बन्दिशें (कण्ट्रोल) और परिमाण (राशनिंग) निश्चित करने के विरुद्ध जबरदस्त हलचल खड़ी कर दी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकार को ये बन्दिशें लगभग उठा देनी पड़ी। इनके उठ जाने पर जनता को साथ में लेकर गरीब जनता को अनाज की तकलीफ न हो, ऐसी योजनाएँ, यदि गांधीजी अधिक जिये होते, तो जरूर बनाते। परन्तु बहुत जल्दी उनका देहान्त हो गया और फिर बन्दिशों के बगैर काम चल ही नही सकता, इस विचार के माननेवाले अर्थशास्त्रियों और अधिकारियों ने इतना शोर मचाया और कठिनाइयाँ बतायी कि सरकार को ये बन्दिशें फिर लगा देनी पड़ी। किशोरलाल भाई ने सरकार की इस नीति के विषय में लिखने में कुछ बाकी नहीं रखा। इसमें से काला बाजार पैदा होता है, रिश्वत और भ्रष्टाचार के दरवाजे खुल जाते है, यह सब उन्होंने लिखा। परन्तु इसका कोई परिणाम नही हुआ। फिर भी विचारों का मूल्य कम नहीं होता। कोई भी सद्विचार आगे-पीछे अंकुरित हुए बिना और आचार में परिणत हुए बिना नही रहता। सरकार किसी प्रकार का नियन्त्रण न रखे, यह उनका आशय नही था। परन्तु उनके कहने का हेतु यह था कि यदि नियन्त्रण लगाने है, तो बड़े मालदारों पर नियन्त्रण लगाने की अधिक जरूरत है। 'नियन्त्रण का वाद' इस शीर्षक से उन्होंने 'हरिजन' के ता० २-१२-१९५० के अंक में जो लिखा है, वह आज भी विचार करने योग्य है :

"मेरा मतलब यह नही कि नियन्त्रणों (कण्ट्रोलों) की जरूरत नहीं है। खानगी संपत्ति और आय पर नियन्त्रण लगाने की जरूरत तो है ही। कितने बड़े पैमाने पर कारखाने खोलने दिये जायें तथा एक ही स्थान में किस हद तक कारखाने बनाने दिये जायें, इस पर भी नियन्त्रण लगाना जरूरी है। नियन्त्रण इस बात पर भी लगाना जरूरी है कि बड़े-बड़े कारखाने उसी प्रकार का माल

बनानेवाले छोटे उद्योगों का गला न घोट दे और हजारों आदमियों की रोजी न छीन लें। उद्योग दो तरह के होते हैं। एक तो वे, जो विलास, स्वैराचार, उत्तेजना तथा हलकी वृत्तियों को उभाडते हैं और आबादी तथा धन द्वारा शहरों को बढाते है। दूसरे प्रकार के उद्योग वे है, जो जीवन के लिए महत्त्व की जरूरत की चीजें पैदा करते हैं और आरोग्य, बल, आत्म-सयम, ज्ञान, उद्योग-परायणता को बढाते हैं और देश की आबादी का वितरण उचित प्रकार से करते हैं।

"वितरण पर भी नियन्त्रण लगाने की जरूरत है। परन्तु आज जिस प्रकार के नियन्त्रण लगे हुए है, उस प्रकार के नही। हमसे कहा जाता है कि जब तक वितरण के लिए आवश्यक सपत्ति का उत्पादन नही होता, तब तक वितरण का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। पहले हमें अपना उत्पादन इतना बढा लेना चाहिए कि जिससे प्रत्येक मनुष्य को वितरण करने लायक वस्तु तैयार हो जाय।

"यह दलील भुलावे में डालनेवाली और मुख्य मुद्दे को हवा में उडाकर बुद्धि में भ्रम उत्पन्न करनेवाली है। यदि हम यह मान लेते है कि आज वितरण के प्रश्न पर विचार भी करने की जरूरत नही है, तब तो फिर भाव-नियन्त्रण, माल का मर्यादित वितरण, दूकानदारों को सरकार की ओर से लैसन्स देने की झझट, माल के आने-जाने की बन्दी—आदि अनेक कदमो के लिए कोई कारण ही नही रह जाता। परन्तु फिर भी ये सारे कदम उठाये जा रहे है, क्योंकि इनकी जड में यह भावना है कि उत्पादन पर्याप्त हो या न हो, फिर भी जितना भी माल उत्पन्न होता है, उसका वितरण न्यायपूर्वक होना हमेशा जरूरी है। और सच तो यह है कि जब पर्याप्त उत्पादन होता है, तब की अपेक्षा उत्पादन जब अपर्याप्त होता है, तब न्यायपूर्वक वितरण का विशेष ध्यान रखने की जरूरत होती है।

'वितरण के पहले उत्पादन पर जोर देना चाहिए—इस तरह की जो दलील पेश की जाती है, वह बडे उद्योगों के लाभ के लिए ही की जाती है। अलबत्ता और खास तौर पर अनाज के विषय में यदि कोई प्रान्त या किसान ऐसी दलील पेश करे कि अपने प्रान्त की जरूरतें पूरी करने के बाद जो बचेगा, उतना ही [illegible]

वह बाहर भेज सकेगा, तो उस पर स्वार्थ या संकुचितता का आरोप लगाया जायगा। अनाज की कमीवाले प्रान्त के लोगों को जब केवल छह औंस राशन दिया जा रहा हो, तब पूरे अनाजवाला प्रान्त या किसान भरपेट खाने का विचार कैसे कर सकता है? *मतलब यह कि अनाज की कमी भी सबको बाँट लेनी चाहिए। यही सिद्धान्त उद्योगों के मुनाफे और माल पर भी लागू किया जाना चाहिए।*

"सच तो यह है कि वितरण के नियन्त्रण को एक कदम और आगे जाना चाहिए। मान लीजिये कि एक जमींदार है और उसके पास पिछले वर्ष के अनाज का काफी बड़ा संग्रह है और देश में नयी फसल पर्याप्त मात्रा में नहीं हुई है तो उसे नयी फसल में से कुछ भी नहीं दिया जाना चाहिए। हाँ, वह पुराने अनाज के बदले में नया अनाज ले सकता है। इसी प्रकार जिन्होंने पूँजी एकत्र कर ली है, *उन्हें धंधे के मुनाफे या कमीशन में से कुछ भी नहीं दिया जाना चाहिए,* बल्कि उन्हें यह कहा जाना चाहिए कि जब तक हम उत्पादन निश्चित परिमाण में नहीं बढ़ा लेते, तब तक उन्हें अपनी सेवाएँ देश को मुफ्त में देनी चाहिए। ताकि गरीब लोगों के लिए कीमतें कुछ कम और उनकी मजदूरी की दरों में वृद्धि की जा सके। यह करना केवल न्याय करने के बराबर होगा।

"यदि हम नियन्त्रणों का उपयोग उत्पादन के साधनों और स्थानगी संपत्ति और आय पर नहीं करेंगे और केवल माल के भाव और वितरण के क्षेत्र में ही करते रहेंगे, तो व्यवहार में इस नीति का परिणाम विपरीत ही होगा। वितरण पर लगाये गये ये नियन्त्रण उन लोगों के लिए मददगार होने के बदले हानिकर सिद्ध होते हैं, जिनका जीवन-स्तर और आय कम होती है तथा जिनकी आजीविका के साधन अल्प हैं, यद्यपि इसमें उनकी अधिकता है। इस नियन्त्रण के परिणाम अधिक खराब होते हैं।"

आजकल बात-बात में गांधीजी के नाम का उपयोग किया जाता है *और गांधीजी के अनुयायी कहे जानेवाले लोग भी एक-दूसरे पर गांधीजी के प्रति बेवफा होने का आरोप लगाते हैं।* इस विषय में ता० १२-२-१९५० के 'हरिजन बन्धु' में किशोरलाल भाई लिखते हैं

"जहाँ तक यह बात मुझ पर लागू होती है, मुझे स्वीकार करना चाहिए

कि कितनी ही बार मैंने ऐसे विचार प्रकट किये हैं, अथवा ऐसे काम भी किये हैं, जिनके कारण कितने ही लोगों की दृष्टि में मैं गांधीजी के प्रति बेवफा सिद्ध हुआ हूँ। इस आक्षेप का पात्र शायद मैं बन गया हूँगा। गांधीजी थे, तब भी उनका पूरी तरह से अनुयायी होना मेरे भाग्य में नहीं लिखा था। कई बार उनके विचारों से सहमत होने में मुझे जरा भी देर नहीं लगती थी और इन विचारों को विकसित करने में मैं कुछ भाग भी ले सकता था। कई बातें ऐसी भी खड़ी होतीं, जिनका प्रारम्भ में मैंने विरोध किया अथवा जिन्हें स्वीकार करने में मैंने बड़ी देर लगायी और तब तक तटस्थ भाव रखा। परन्तु कई बातें ऐसी भी थीं कि जिनके बारे में मैं गांधीजी के विचारों से अजातप्रत्यय रहा अर्थात् उन पर अपने मन में श्रद्धा नहीं उत्पन्न कर सका, अन्त तक असहमत ही रहा। स्वयं गांधीजी मेरी इस स्थिति को अच्छी तरह जानते थे। और मैं जैसा कि मैं था, उसी रूप में उन्होंने मुझे स्वीकार कर लिया था।

"समाज-सेवा के सहारे लगभग आधी सदी तक गांधीजी के जीवन का विकास होता रहा है। कुछ-कुछ विषयों की तफसीलों के बारे में उनके विचारों में कई बार फेरफार होते रहे हैं। जिसका जीवन निरन्तर विकासशील रहा है, उसके जीवन में विचारों का परिवर्तन अनिवार्य है। इसलिए हर तफसील की बात में उनके वचनों में प्रामाण्य की खोज करना उचित नहीं। असल महत्व की बात तो विचार और आचार के आधार हैं। सत्य, अहिंसा, हर क्षेत्र में संयम और जहाँ नैतिक तथा आर्थिक हितों में विरोध हो, वहाँ नैतिक हित को पसन्द करना—ये हैं उनके विचार और आचार की बुनियादें।

"गांधीजी के प्रति बेवफा होने का आक्षेप करने का आजकल एक फैशन-सा चल पड़ा है। इसका एक खास कारण है। हमारे कितने ही भाइयों को 'गांधी', 'सर्वोदय', 'सत्य' और 'अहिंसा' आदि शब्दों का बार-बार उच्चारण करने की ऐसी आदत हो गयी है कि अब ये शब्द अर्थहीन पादपूरक बन गये हैं। हर नेता अथवा अध्यक्ष को यही लगता रहता है कि जब तक वह यह नहीं कहेगा कि 'हमारे राष्ट्रपिता का यही उपदेश था' अथवा 'संसार का कल्याण गांधीजी के बताये मार्ग पर चलने में ही है', तब तक उसके भाषण की बुनियाद कच्ची ही रह जायगी।

"राष्ट्रपिता के नाम का बार-बार सहारा लेने के बजाय हम अपने हृदय में बैठे हुए सत्य और प्रेमस्वरूप परमात्मा का आधार लें, तो अधिक अच्छा हो। क्योंकि गांधीजी ने जो कुछ कहा अथवा किया, वह उनकी सत्य की खोज और उनके हृदय में बसी हुई अहिंसा में से ही प्रकट होता रहता था।"

जिस प्रकार गांधीजी के नाम का सहारा न लेने के बारे में वे कहा करते थे, उसी प्रकार रचनात्मक कार्यकर्ताओं को वे बार-बार सावधान किया करते थे कि वे सरकार पर आधार न रखें

"रचनात्मक कार्य करनेवाले सेवकों और सुधारकों के दिमाग में एक बात मैं पुनः-पुनः अंकित कर देना चाहता हूँ कि वे सरकारी तंत्र से अधिक आशा-अपेक्षा न करें। अच्छी-से-अच्छी सरकार बहुत हुआ, तो सेवकों के मार्ग की रुकावटों को दूर कर सकती है। जनता के पुनरुद्धार का, बल्कि उसके भीतर नवीन प्राणों का संचार करने का काम तो अपनी इच्छा से लोकसेवा करनेवाले सेवकों का ही है।

'सरकार को सभी काम करने चाहिए, ऐसी वृत्ति नहीं रखनी चाहिए। इससे जनता पंगु और सरकार की मुहताज बन जायगी।

'रचनात्मक कार्यकर्ताओं को चाहिए कि वे अपने-आपको तथा अपनी प्रवृत्तियों को सरकार की मदद पर आधारित न बना लें।"

खादी और ग्रामोद्योगों के प्रति सरकार की नीति यद्यपि थोड़ी-बहुत सहानुभूतिपूर्ण है, तथापि उनमें उसकी पूर्ण श्रद्धा नहीं है। यह बात कार्यकर्ताओं को पूरी तरह स्पष्ट करते हुए उन्होंने जो सावधानी की सूचना दी है, वह स्मरणीय है:

'खादी के पीछे पागल हम सब लोगों को जो चिन्ता रहा करती है, उसे मैं समझ सकता हूँ। परन्तु मुझे भय है कि हम वर्तमान सरकार के मानस को समझने में भूल कर रहे हैं। उसकी लम्बी नीति तो स्पष्ट ही है। वह हर क्षेत्र में पूरी तरह से उद्योगीकरण चाहती है। इस क्षेत्र में वह प्रगति नहीं कर रही है, इसका कारण इच्छा का अभाव नहीं है, बल्कि यह है कि बड़े यन्त्र मिल नहीं रहे हैं, अथवा उनके खरीदने अथवा उन्हें यहीं बनाने के साधन उसके पास नहीं है।

"परन्तु सपूर्ण उद्योगीकरण को अभी समय लगेगा। फिर उद्योगीकरण के पहले बीच के समय में बहुत बडी सख्या में लोग एकाएक बेकार हो जायँगे। उन्हें काम देने का सवाल खडा होगा। पश्चिम के लोग रोजीघर (Work house) अथवा सदाव्रत शालाओं के द्वारा इस समस्या को हल करते हैं। रोजीघर भी तो वास्तव में कामचलाऊ धन्धे के नाम पर सदाव्रत ही हैं।

"सरकार चरखा-सघ की ओर न्यूनाधिक परिमाण में स्थायी रोजीघर की दृष्टि से ही देखे। हमारा देश इतना विशाल है और बेकारी, अकाल आदि प्रश्न इतने महान् और व्यापक है कि आनेवाले कितने ही वर्षों तक भारत के भिन्न-भिन्न भागों में न्यूनाधिक रूप में खादी का काम चलाते ही रहना पडेगा। परन्तु इसका अर्थ हमें यह नही करना चाहिए कि सरकार देश की सारी जनता को खादीधारी बना देना चाहती है। फिर जो थोडी-बहुत खादी पैदा होगी, उसे बेचना भी पडेगा ही। इसलिए हमारे जैसे लोग, जो अपनी इच्छा से उसके प्रचारक बनेंगे, उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जायगा और जो सार्वजनिक सस्थाएँ खादी को आश्रय प्रदान करेंगी, उनकी तरफ भी सरकार कृपादृष्टि रखेगी।

"सरकार की इस दृष्टि को यदि हम समझ लेंगे, तो उसके कामो और निवेदनों को देखकर हमें आश्चर्य नही होगा। हमारी विचार करने की पद्धति भले ही भिन्न हो, परन्तु हमें इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि यदि इस विचारसरणी का अमल हमें सरकारी तत्र के द्वारा करवाना है, तो इसके लिए पूरी तरह से हमारे विचारो को माननेवाली सरकार ही होनी चाहिए। परन्तु यह तब तक सभव नही है, जब तक कि जनता भी इसी विचार को मानने न लग जाय। तात्पर्य यह कि हमें सरकार से किसी प्रकार की आशा नही करनी चाहिए। बल्कि लोगों में इस विचारसरणी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए परिश्रम करना चाहिए।" ('हरिजन-बधु' ता० १७-६-१९५०)

पिछले चुनावों के समय काग्रेस की ओर से जो घोषणा-पत्र जारी किया गया था, उसका विवेचन करते हुए इस वस्तु को उन्होंने और भी स्पष्टता के साथ कहा है। यह घोषणा-पत्र सरकार का नही, काग्रेस-पक्ष का [illegible] बात कुछ दूसरे शब्दों में कही गयी है। परन्तु भाव तो वही है

"काग्रेस मान्य करती है कि यद्यपि (गाँवो के) कितने ही लोगों को बडे उद्योगो में स्थान मिल जायगा, तथापि उन्हें रोजी देनेवाले मुख्य साधन तो छोटे पैमाने के और घरेलू उद्योग ही होगे। काग्रेस यह भी मानती है कि :

"इन गृहोद्योगों का भारत में खास करके विशेष महत्त्व है और राज्य की ओर से उनका विकास किया जाना चाहिए तथा उनको रक्षण मिलना चाहिए और इसी तरह के दूसरे उद्योगो के साथ उनका समन्वय भी कर दिया जाना चाहिए।"

परन्तु खादी और ग्रामोद्योगो का काम करनेवाली गाधीजी की सस्थाओ के कार्यकर्ताओ के दिलो में कही झूठी आशाएँ न खडी हो जायँ, इसलिए स्पष्ट कर दिया गया है

"परन्तु यह बात हमेशा ध्यान में रहनी चाहिए कि छोटे पैमाने के तथा घरेलू उद्योगो को अधिक उत्पादक और आर्थिक दृष्टि से लाभदायक बनाने के लिए उनमें अच्छी-से-अच्छी पद्धतियो का उपयोग करना होगा।

"गृहोद्योगो को सशोधन और प्रोत्साहन देकर और जहाँ सभव होगा, औद्योगिक सहकारी मण्डलो की रचना द्वारा उनकी मदद की जायगी। परन्तु उसने चरखा और ग्रामोद्योगो का नाम छोड दिया है। फिर भी हाथ-करघा पर बुननेवालों को सान्त्वना देने के लिए वह आतुर है। उन्हें पूरा आवश्यक सूत देने का प्रबन्ध करने का आश्वासन घोषणा-पत्र में है। घोषणा-पत्र ने चरखे को साफ शब्दो में फेंक तो नही दिया है, परन्तु उसका इशारा तो स्पष्ट ही है। चरखा, घानी, चक्की और ढेंकी आदि को भावी काग्रेस-सरकार से प्रोत्साहन की आशा नही रखनी चाहिए। घोषणा-पत्र पर से मैं यह सार निकालता हूँ कि गृहोद्योगो में काम करनेवालो को इस तरह के बडे उद्योगो के अनुकूल होकर काम करना होगा। यह समझकर ही उन्हें उनमें जाना चाहिए।

"कुल मिलाकर कहूँ, तो घोषणा-पत्र सर्वोदय की अपेक्षाओ को नही पहुँचता। रचनात्मक कार्यक्रम के कितने ही महत्त्वपूर्ण अग—उदाहरणार्थ शराबबदी, ग्रामोद्योग, नयी तालीम आदि के प्रति उसकी दृष्टि ढीली अथवा प्रत्याघाती भी है। फिर उसके सामने कुछ लक्ष्य है—उदाहरणार्थ भाव-नियत्रण

और अनाज के वितरण के द्वारा कीमत की दरें घटाना या बढाना। परन्तु अनिष्टो के मूल कारणो पर ध्यान नही दिया गया हैं। इस कारण इसकी सफलता में मुझे सन्देह हैं।

"हमारे देश की वर्तमान अवस्था में घोषणा-पत्र में दिये गये आश्वासनों की पूर्ति नही, वरन् सरकारी तन्त्रो की शुद्धि और उम्मीदवारो का अपना शुद्ध चरित्र, प्रामाणिकता और लोकसेवा की निष्ठा—ये चीजे अधिक महत्त्व रखती हैं।" (*'हरिजन-बन्धु' ता० २८-७-१९५१ तथा ४-८-१९५१*)

उन चुनावों में रचनात्मक कार्यकर्ता उम्मीदवारो को वोट कैसे दें, इस विषय में भी उन्होंने स्पष्ट रूप से मार्गदर्शन किया था :

"गाधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में विश्वास रखनेवाले लोगों को समझ लेना चाहिए कि इस समय एक भी ऐसा पक्ष नही हो सकता, जो गाधीजी के कार्यक्रम को सोलहो आने चला सके और ऐसा भी नही होगा, जो उसे एकदम फेंक दे। इसलिए उन्हें अपने वोट का उपयोग करने से पहले दो बातें देखनी चाहिए :

(१.) उम्मीदवार साम्प्रदायिक मानसवाला न हो।

(२.) वह शुद्ध-चरित्र और ईमानदार हो।

"यदि कोई पक्ष हमारे क्षेत्र में ऐसा उम्मीदवार खडा न कर सके, तो अच्छा है कि आप वोट देने जायें ही नही।" ('हरिजन-बन्धु' ता०२४-६-१९५०)

काग्रेस के अध्यक्ष-पद के लिए श्री टण्डनजी, आचार्य कृपालानी और श्री शकरराव देव, तीनो के बीच होड पैदा हुई, तब गाधीजी की विचारसरणी को माननेवाले एक भाई ने प्रश्न पूछा कि "इन तीन उम्मीदवारों में से किसे पसन्द किया जाय?" इसका उन्होंने यह उत्तर दिया.

सभव न हो, तो काग्रेस का अध्यक्ष ऐसा योग्य व्यक्ति हो, जो प्रधानमन्त्री को बल समर्थन और सलाह दे सके। दोनो के बीच अत्यन्त निकट का सम्बन्ध और भिन्न प्रश्नो तथा दूरगामी प्रश्नो के प्रति उनकी दृष्टि जितनी भी सभव हो, एक-सी होनी चाहिए। यदि ऐसा नही होगा, तो काग्रेस के अध्यक्ष और प्रधानमन्त्री शायद ही सरकार के साथ-साथ काम कर सकेंगे और आगे-पीछे दोनो में से किसी एक को या तो अलग होना पडेगा या दूसरे के नीचे दबकर रहना पडेगा।" ('हरिजन-बन्धु' ता० २६-८ १९५०)

किशोरलाल भाई का उपर्युक्त जवाब जब प्रकाशित हुआ, तब बहुत से काग्रेसी नेताओ को बुरा लगा कि किशोरलाल भाई अपनी तबीयत के कारण बाहर नही घूम सकते, इसलिए उन्हें वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति की जानकारी नही है। फिर भी ऐसे विचार प्रकट करके वे कठिनाइयाँ पैदा कर दिया करते है। किशोरलाल भाई बाहर नही घूम सकते थे, यह बात सही है। परन्तु उनका पत्र-व्यवहार इतना विशाल था कि उन्हें देश की परिस्थिति की पूरी-पूरी जानकारी रहती थी और अन्त में तो उन्हीकी राय सही साबित हुई। टण्डनजी अध्यक्ष चुने गये। परन्तु बहुत जल्दी उन्हें त्यागपत्र दे देना पडा। फिर इस पद पर प० जवाहरलालजी आये, तब जाकर काग्रेस का ठिकाना लगा।

'हरिजन'-पत्रो के सम्पादक की हैसियत से उनके पास शासन-प्रबन्ध के बारे में भी बहुत-सी शिकायतें आती रहती। उस विषय में उन्होने यह नीति रखी थी कि शिकायत जिस महकमे से सम्बन्ध रखती, उसके पास उसे भेज देते और इस विषय में उसका क्या कहना है, वह जान लेते। इस पद्धति से यह होता कि यदि शिकायत झूठ होती, तो मालूम हो जाता और यदि सच्ची होती, तो शिकायत करनेवाले को बाला-बाला राहत मिल जाती। परन्तु इसके लिए उन्हें बहुत पत्र-व्यवहार करना पडता। लेख लिखने की अपेक्षा इस पत्र-व्यवहार का बोझ उन पर अधिक था। परन्तु इस पत्र-व्यवहार को सम्पादक की हैसियत से वे अपना मुख्य कर्तव्य समझते थे।

मे हुक्म जारी हुआ। उसके लिए एक मकान भी ले लिया गया और जज को छोडकर कोर्ट के कारकून आदि कर्मचारियो की नियुक्तियाँ भी हो गयी, जिनकी तनख्वाह मासिक लगभग एक हजार की थी। परन्तु छह महीने बीतने पर भी जज की नियुक्ति नही हुई। इतने दिन बीत जाने पर भी जब जज की नियुक्ति नही हुई, तब एक छोटे-से व्यापारी ने किशोरलाल भाई को यह बात लिख भेजी। इस मित्र के साथ पत्र-व्यवहार करने में भी कितने ही महीने बीत गये। तब २६-२-१९५२ को किशोरलाल भाई ने बम्बई हाईकोर्ट के अपील-विभाग के रजिस्ट्रार के साथ पत्र-व्यवहार शुरू किया। उसका जवाब नहीं मिला, तब ता० १० मार्च को हाईकोर्ट के बडे जज को पत्र दिया। इसके परिणामस्वरूप ता० १७-३-१९५२ को वहाँ एक मुन्सिफ भेज दिया गया और इस ढील का दोष हाईकोर्ट ने बम्बई-सरकार पर डाला। तब किशोरलाल भाई ने बम्बई-सरकार को लिखा। इसका जवाब उन्हें एक महीने में मिला। उसमे सरकार ने यह दोष हाईकोर्ट पर डाला। असल बात यह थी कि न्याय-विभाग और शासन-प्रबन्ध-विभाग दोनो की ओर से इसमें लापरवाही रही। इसके परिणामस्वरूप सोलह महीने तक मासिक एक हजार के हिसाब से निरर्थक खर्च हुआ।

सरकारी नौकरो के बारे मे भी उनके पास बहुत-सी शिकायते आती रहती। इस पर से सरकारी नौकरो को सम्बोधन करते हुए 'हरिजन-बधु' के ता० २१-८-१९४९ के अक में उन्होंने एक लेख मे लिखा था .

"मुझे यह कहते हुए दु ख होता है कि भिन्न-भिन्न सरकारो के प्रधानमन्त्री भले ही आपकी योग्यता, सेवा और बर्ताव से सन्तुष्ट हो, परन्तु आपके विषय में लोकमत तो इससे उलटा ही है। इतना ही नहीं, यह भी शिकायत है कि जनता के प्रति आपका व्यवहार पिछले शासन से भी अधिक असन्तोषप्रद है।' आपका महकमा पहले की अपेक्षा अधिक उद्धत, अधिक सडा हुआ, कम कुशल, अधिक ढीला, धन और रिश्तों का अधिक खयाल करनेवाला बन गया है। सन् १९४७ मे आपके हाथो मे शासन-प्रबन्ध था, उसकी अपेक्षा आपका आज का शासन-प्रबन्ध जनता के लिए अधिक कष्टदायक हो गया है। ...

कर सकेगी। हाँ, सरकार की शासकीय नीति भले ही इन बुराइयों के विरुद्ध कोई कानून न बना सके, परन्तु हमारे मन्त्री और नेता ऐसे नाटकों, नृत्यों के समारोहों में उपस्थित न रहें, ऐसे सिनेमाघरों और नाटकघरों का उद्घाटन न करें, तो इस प्रकार नैतिक सुधार के कामों में अवश्य कुछ कर सकते हैं। परन्तु इसके लिए भी लोकमत का असर होना चाहिए। इसलिए नैतिक सुधारकों को पहले जनता में इसके लिए खूब काम करना चाहिए और व्यापक लोकमत पैदा करना चाहिए। इसके बाद ही इस सम्बन्ध में कोई कानून बनाने के लिए सरकार से कहा जा सकता है।" ('हरिजन-बन्धु' ता० २९-१२-१९५१)

वनस्पति घी के विषय में सरकार की नीति से उन्हें बड़ा असन्तोष और दुख था। ता० १५-८-१९४८ के 'हरिजन बन्धु' में उन्होंने लिखा था

'मैं इस प्रश्न को नैतिक दृष्टि से देखता हूँ। उसके सामने इसके आरोग्य सम्बन्धी और आर्थिक पहलू गौण हो जाते हैं। वनस्पति घी और किसी अन्य काम की अपेक्षा घी में मेल करने के काम मे सबसे अधिक आता है। इस पर इसका आर्थिक महत्त्व बहुत अधिक अवलम्बन करता है। यह वस्तु ग्रामवासियों तथा व्यापारियों की नीयत को भ्रष्ट कर रही है। केवल वनस्पति घी के रूप में इसका उपयोग करनेवालों की संख्या बहुत कम है। शुद्ध घी खरीदने के लिए आदमी बाजार में जाता है। परन्तु वहाँ उसे थोड़े-से शुद्ध घी के साथ मिला हुआ यह वनस्पति घी ही मिलता है—और सो भी वनस्पति की अपेक्षा अधिक ऊँची कीमत पर। इस बात को जानते हुए भी लोग वनस्पति की तरफ झुकते ही जाते हैं। बहुत-से लोग अभी तक शुद्ध घी खरीदने का आग्रह रखते हैं और उसके लिए वनस्पति की अपेक्षा बहुत ऊँची कीमत चुकाते रहते हैं। फिर भी मिलता है, उन्हें वही मिलावटी घी। किसान भी उस मक्खन के साथ मिलाने की कला सीख गये हैं। परिणामस्वरूप मक्खन खरीदनेवाले को भी शुद्ध मक्खन नहीं मिल सकता। इस तरह यह वनस्पति घी ठगी और बेईमानी को बढ़ावा देता है। इसके उत्पादन को रोकने के लिए और दूसरा कोई कारण न भी हो, तो भी यह एक पर्याप्त कारण माना जाना चाहिए।

"इस पदार्थ के कारण पशु-पालन का काम अधिक कठिन

शुद्ध घी पैदा करनेवाले को अपने माल की पूरी कीमत न मिलने के कारण वह अपने पशुओं की उपेक्षा करने लगता है। इस कारण आरोग्य और दूध भी बिगड़ता जा रहा है। जिस तरह झूठा सिक्का असली सिक्के को बाजार में से निकाल देता है, उसी प्रकार यह वनस्पति घी शुद्ध घी को बाजार में से भगा रहा है। . पोषक तत्त्वों के संशोधन का काम मक्खन, घी, बगैर शुद्ध किया हुआ तेल और शुद्ध किया हुआ तेल—इन सबके गुणों के ज्ञान के लिए अवश्य महत्त्व की वस्तु है। परन्तु हाइड्रोजन की प्रक्रिया से गुजरे हुए तेल की बात अलग है। कितने ही लोग कहते हैं कि शहर में रहनेवाले लोग तेल के बजाय वनस्पति की माँग करते हैं। क्योंकि वनस्पति दानेदार दीखता है। शुद्ध घी के अभाव में वनस्पति खाने से उन्हें शुद्ध घी खाने-जैसा कुछ सन्तोष प्राप्त होता है। यदि सचमुच ऐसे कुछ लोग हों, तो जो वस्तु गुणकारी नहीं है, वह उन्हें देने के बजाय अधिक उचित यह होगा कि उन्हें उनकी भूल बता दी जाय और सच्चा ज्ञान दिया जाय। जो लोग महँगे के कारण घी का उपयोग नहीं कर सकते, वे वनस्पति का उपयोग करने के बजाय शुद्ध तेल का उसके असली रूप में ही उपयोग करें। क्योंकि वनस्पति भले ही घी के जैसा दीखता हो, परन्तु गुण में वह शुद्ध तेल से कम ही होता है। जिस प्रकार हमें अफीम का व्यापार चलने नहीं देना चाहिए, उसी प्रकार हाइड्रोजन की प्रक्रिया से गुजरे हुए खाद्य तेल का भी व्यापार हमें चलने नहीं देना चाहिए।"

सन् १९५१ के आरम्भ में अहमदाबाद की अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक में वनस्पति पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सरकार से प्रार्थना करने का प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से मंजूर किया गया था। परन्तु, चूँकि प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू तथा कुछ अन्य बड़े नेता इसके विरोध में थे; इसलिए सरकार ने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इसी दरमियान श्री ठाकुर-दास भार्गव वनस्पति-निषेध पर संसद् में एक बिल पेश करना चाहते थे, परन्तु प्रधानमन्त्री ने आश्वासन दिया कि घी में होनेवाली मिलावट को रोकने के लिए आवश्यक उपाय सुझाने के लिए एक कमेटी की नियुक्ति कर दी जायगी। इस पर उन्होंने इस बिल को रोक लिया। प्रधानमन्त्री के आश्वासन में तीन बातें थीं : (१) सरकार स्वीकार करती है कि घी में बहुत

मिलावट होती है। (२) सरकार इसे रोकने के लिए चिन्तातुर है। (३) जमे हुए तेल पर किये गयेप्र योगों से सिद्ध हो गया है कि वह हानिकर नही हैं। इस पर टीका करते हुए किशोरलाल भाई ने ता० ६-१-१९५१ के 'हरिजन-बन्धु' में लिखा था .

"कहना होगा कि सरकार की यह कृपा है कि उसने सीधे-सीधे स्वीकार कर लिया कि घी में मिलावट बहुत अधिक होती है और इस बात को सिद्ध करने का भार जनता पर नही डाला। परन्तु इस विषय में हमें पूरी शंका है कि घी में होनेवाली मिलावट को रोकने के लिए सरकार चिन्तातुर है, इस बात को स्वीकार करने की कृपा जनता करेगी या नही। क्योकि सरकार को सचमुच ऐसी कोई चिन्ता है, इस बात को सिद्ध करनेवाली कोई बात जनता के देखने में नही आयी। इस मेल को रोकने के लिए कार्य-समिति द्वारा आदेश जारी हुए अठारह महीने से भी अधिक समय बीत गया है, परन्तु उसके विषय में अभी तक कुछ भी नही किया गया है। सरकार आज जो समिति नियुक्त करने की बात कर रही है, कम-से-कम उसकी नियुक्ति भी तो कर देती। इसी प्रकार इतमीनान दिलानेवाली तीसरी बात में जनता को वैज्ञानिकों के तथा-कथित प्रयोगो से कुछ भी सन्तोष नही होगा। कहूँ तो शायद बुरा लगेगा कि यदि जवाहरलाल नेहरू के स्थान पर इस विषय में भिन्न राय रखनेवाले व्यक्ति—उदाहरणार्थ डॉ० प्रफुल्लचन्द्र घोष—भारत के प्रधानमन्त्री होते, तो शायद परिणाम कुछ दूसरा ही दिखाई देता। सभव है कि प्रधानमन्त्री को सामान्य जनता की अपेक्षा वनस्पति के उत्पादन में लगे हुए व्यापारियो की अधिक चिन्ता है। इससे इन व्यापारियो को यह निश्चय हो जायगा कि इस सरकार के हाथों में उनका उद्योग सुरक्षित है।"

उनके सम्पादन-काल के अतिम दिनो में विनोबा के भूदान-यज्ञ-आन्दोलन को गति देने के लिए उन्होंने बहुत लिखा। ता० २३-८-१९५२ के 'हरिजन-बन्धु' में उन्होंने लिखा था :

"विनोबा इस प्रश्न पर जितनी उत्कटता दिखा रहे हैं तथा शक्ति लगा रहे है, उसका सौवाँ हिस्सा भी कोई सरकार अथवा सार्वजनिक सस्था करती हो, ऐसा नही लगता। ग्रामीण जनता में जो नवीन चेतना पैदा हो गयी हैं,

उसका ध्यान बहुत कम लोगों को है। अभी तक उन्हें होश ही नहीं है। इनमें कितने ही मुख्य-मुख्य रचनात्मक कार्यकर्ता भी हैं। वे नहीं जानते कि वर्तमान स्थिति पके हुए फोडे की तरह है। यदि इसे समय रहते नश्तर नहीं लगाया गया, तो इसका मवाद खून में मिल जायगा और सारे शरीर में इसका विष फैलने में देर नहीं लगेगी। आज तो स्वयं विनोबा ने इस स्थिति का सही-सही और स्पष्ट दर्शन कर लिया है और अपने निर्बल शरीर की बगैर परवाह किये और दूसरे तमाम कार्य छोड़कर इसे उन्होंने 'करो या मरो' का जीवन-कार्य बना लिया है। यदि प्रत्येक पक्ष और प्रत्येक मुख्य कार्यकर्ता भूदान-यज्ञ के कार्य में इसी लगन से लग जाय, तो पाँच वर्ष के अन्दर हम जमीन के प्रश्न को हल कर सकते हैं। विनोबा ने कही कहा भी तो है न कि सन् १७५७ और सन् १८५७ के वर्ष इस देश के लिए क्रान्तिकारी साबित हुए हैं। दोनों का रूप हिंसक था। इसी कारण भारत विदेशियों का गुलाम बन गया। अब विदेशी हुकूमत चली गयी। परन्तु जनता की मुक्ति-साधना तो अभी बाकी ही है। गांधीजी के मार्ग-दर्शन में हम विदेशी हुकूमत से मुक्त हो गये। अब जिस मार्ग से विनोबा के मार्गदर्शन में जमींदारों का हृदय-परिवर्तन हो रहा है, उसी पर चलकर सन् १९५७ तक जनता की मुक्ति के प्रश्न को भी हम हल कर लें।'

अन्त में 'गांधीवाद का विसर्जन' शीर्षक लेख लिखकर उन्होंने बड़ी वीरता दिखायी थी। इसमें गांधीजी तथा गांधीवाद के समस्त अनुयायियों से उन्होंने हार्दिक प्रार्थना की थी कि "हम यह कहना शुरू कर दें कि अहिंसा, लोकशाही या साम्यवाद अथवा अन्य किसी भी प्रश्न पर मेरे ये विचार हैं। यह न कहें कि गांधीजी कहते थे कि यह 'गांधीवाद' है। गांधीजी ने जिस प्रकार 'गांधी-सेवा-संघ' का विसर्जन कर दिया, उसी प्रकार हम गांधीवाद का विसर्जन कर दें।

'इसका मतलब यह नहीं कि गांधीजी के जीवन और उनके लेखों का हम बारीकी से अध्ययन न करें या उनके विचारों को लिख न लें। उनके उदात्त जीवन और विशाल साहित्य के अध्ययन की तो सदा आवश्यकता रहेगी और पढ़नेवाले को उससे लाभ ही होगा।"

किशोरलाल भाई के 'हरिजन बन्धु' में छपे लेखों में से कुछ उद्धरण ऊपर दिये हैं। 'हरिजन'-पत्रों को वे दरख्वी रीति से सँभालते थे, फिर भी पत्रों के

ग्राहक-सख्या प्रतिवर्ष घटती ही जाती थी। 'नवजीवन-ट्रस्ट' को बहुत नुकसान होने लगा, तब फरवरी १९५२ में उन्होंने इन पत्रो को बन्द करने का अपना निर्णय प्रकट किया। परन्तु जनता की ओर से माँग आयी कि ये पत्र तो जारी रहने ही चाहिए। कितने ही भाइयो ने ग्राहक बढाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया और जब ग्राहक-सख्या काफी बढ गयी, तब 'नवजीवन-ट्रस्ट' ने फिर घोषणा कर दी कि पत्र जारी रहेंगे। किशोरलाल भाई ने ता० २३-२-१९५२ के अक में लिखा

"ट्रस्ट का निर्णय बदलवाकर पत्रो को जारी रखने का निर्णय करवाकर जनता ने खुद अपनी, मेरी तथा ट्रस्ट की जिम्मेवारी को बहुत बढा लिया है। ये पत्र मेरी लिखने की या सपादक-पद की हविस पूरी करने के लिए पहले भी नही थे। ट्रस्ट ने तो यह मानकर पत्रो को चालू रखने का निश्चय किया कि बापू के पत्र चालू रहें, ऐसा जनता चाहती है। मैंने भी यही समझकर यह जिम्मेदारी उठायी थी। परन्तु अनुभव से यह शका हो गयी कि जनता की इच्छा उतनी नही है, जितनी कि मान ली गयी थी, नही तो ग्राहक इतने कम नही होने चाहिए थे।

"अब जनता की माँग पर पत्रो को जारी रखा जा रहा है। इसलिए उनको जारी रखने की जनता की जिम्मेवारी बढ जाती है।

"और इस कदम ने मेरी जिम्मेवारी को जितना बढा दिया है, उसका जब विचार करता हूँ; तब तो मेरा दिमाग ही थक जाता है। मेरा शरीर और इस कारण मेरा दिमाग भी यह बोझ उठाने में दिन-ब-दिन अधिकाधिक असमर्थ होता जा रहा है। फिर भी यह स्थिति मुझे बेचैन कर देती है कि ये पत्र इसलिए जारी रहें कि मैं उनका सपादक बना रहूँ।"

जब पत्रो को बद करने की बात चल रही थी, तब किशोरलाल भाई बम्बई में थे। वहाँ से वे वर्धा गये। तब से उनकी तबीयत दिन-ब-दिन बिगडती ही गयी। देहान्त के एक-डेढ महीने पहले उन्होंने मुझे एक पत्र में लिखा था कि "अब ऐसा नही लगता कि अधिक समय काम हो सकेगा।" इसके बाद तो उनकी बीमारी और कष्टो को देखकर खुद 'नवजीवन ट्रस्ट' ने ही निश्चय कर लिया कि उन्हें इस जिम्मेवारी से मुक्त कर दिया जाय।

देहान्त

किशोरलाल भाई को पिछले लगभग सैंतीस वर्ष से दमे की बीमारी थी। इस बीमारी के रहते हुए भी उन्होंने जो काम किया, वह किसी निरोग मनुष्य से कम नही है।

'हरिजन'-पत्रो के सम्पादन-भार से मुक्त होने की सूचना प्रकाशन के लिए लिखने के दूसरे ही दिन दमे का प्राण घातक दौर उन पर हुआ। वे नही चाहते थे कि काम करते-करते ही प्राण निकलें, बल्कि उनकी इच्छा यह थी कि काम से निवृत्त होकर शेष जीवन चिन्तन और मनन में बिताया जाय। परन्तु प्रभु की इच्छा नही थी कि वे निवृत्त जीवन का उपभोग करें।

तारीख ९-९-१९५२ मगलवार की शाम के पौने छह बजे उन्होने अपना शरीर छोड दिया। उस रोज शाम के पाँच बजे तक उन्होने काम किया। लगभग साढे चार बजे मुझे पत्र लिखा, जिसमें 'भूदान-यज्ञ' और 'इकॉनॉमिक होल्डिंग' (लाभकर जोत) के विषय में चर्चा की थी और अन्त में लिखा था कि "पिछले दो-तीन दिनों मे मेरा स्वास्थ्य अधिक खराब है। इस क्षण कुछ ठीक-सा है। मै तो अब सार्वजनिक प्रवृत्तियो से पूर्णत निवृत्त होने जा रहा हूँ। दूसरे विषयो पर भी कोई लेख आदि कही भेजने की इच्छा नहीं है।" फिर भी हम कह सकते हैं कि अन्तिम क्षण तक उन्होंने बापू का काम किया।

भाई हरिप्रसाद व्यास 'हरिजन'-पत्रो में उनके साथ काम करते थे। किशोरलाल भाई के अन्तिम क्षणो का वर्णन उन्होने इस प्रकार किया है

"पाँच बजने के बाद उनकी तबीयत में फेरफार शुरू हो गया। तकलीफ बढने लगी। पू० गोमती बहन ने आदमियों को भेजकर हम साथियों को बुलवा लिया। हम दौडते हुए ही आये। किशोरलाल भाई बन्द कमरे में अपनी चौकी के पास कमोड पर शौच के लिए बैठे थे। शौच जाते समय उनका दम फूल जाया करता था। इस समय भी दम फूल रहा था। उन्होंने कहा कि शौच नहीं हो रहा है। इसके बाद कमोड पर से उठकर अपने लिखने की

चौकी पर आ बैठे। गोमती बहन ने कमरे के दोनों दरवाजे खोल दिये। बजाजवाडी-अतिथिगृह के लोग बाहर खडे थे। वे अन्दर आये। उनमें बहनें भी थीं। इस समय किशोरलाल भाई की धोती कुछ ऊपर चढी हुई थी। बहनों को देखकर उसे खुद उन्होंने नीचे कर लिया। इसके बाद एक-दो बार पीकदानी में थूंका और चौकी पर रखे हुए तकिये पर सिर टेककर और पैर नीचे लटकाकर बैठे रहे। इतने में गोमती बहन ने आकर उनसे दवा के बारे में पूछा। वे दवा लेने के लिए अन्दर गयी। मेरे साथी श्री नादुरकरजी तकिये के पास खडे थे। किशोरलाल भाई ने सिर जरा ऊँचा किया और मेरी ओर लुडक गये। उन्हें मैंने अपने हाथ का सहारा दिया। परन्तु उनके पैर तो अभी तक चौकी के नीचे ही लटक रहे थे, इसलिए फिर बैठ गये। पैर ठीक किये और फिर धीरे से मेरी ओर लुढके। मैंने फिर उन्हें हाथ का सहारा दिया। परन्तु उनके पैर अभी तक नीचे ही लटक रहे थे, ठीक नहीं हुए थे। इसलिए फिर उठ बैठे, पैर ठीक किये और फिर मेरी तरफ लुढके। मैंने फिर हाथ का सहारा देकर धीरे-धीरे अपनी गोद में उनका सिर ले लिया। मेरा हाथ उनकी बाजू में आ गया। वहाँ गति मालूम हो रही थी। परन्तु अब उनकी बायी आँख फिरी। यह मैंने देखा और नादुरकरजी ने गोमती बहन को पुकारा। उन्होंने आकर 'देव' 'देव' कहा और 'स्वामीनारायण, स्वामीनारायण' का उच्चारण करने लगी। इस समय किशोरलाल भाई के हाठ भी हिलते दीख पडे। परन्तु शब्द बाहर नहीं आ रहे थे। अन्त में उन्होंने 'राम' शब्द का उच्चारण किया। गामती बहन ने उनका हाथ अपने हाथ में लेकर नब्ज देखी। परन्तु वह तो बंद थी। तकिये पर से नीचे सिर लेने में और 'राम' बोलने के बीच में मुश्किल से दो मिनट बीते होंगे। मंगल्वार ता० ९-९-१९५२ की शाम के पौने छह बजे उन्होंने देहत्याग किया। हिन्दू तिथि के अनुसार दूसरे दिन उनकी बरसगाँठ थी। पूरे बासठ वर्ष की उम्र में उनका निर्वाण हुआ।"

किशोरलाल भाई की भाभी (मु० नानाभाई की पत्नी) सन् १९५२ के जुलाई मास में शान्त हुईं, तब किशोरलाल भाई अकोला गये थे। उन्हें मृत्यु के समय अतिशय वेदना और कष्ट हुए थे और ठेठ अन्तिम क्षण तक बराबर जाग्रति रही थी। यह देखकर मृत्यु के समय की स्थिति के बारे में

किशोरलाल भाई को अनेक विचार उत्पन्न हुए थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने श्री दामोदरदास मूंदडा के मार्फत विनोबा से अनेक प्रश्न पूछे थे। यह प्रश्न अथवा चिन्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण नीचे दिया जा रहा है.

"परन्तु ऑक्सिजन का भी फेफडो के अन्दर जाना कठिन हो गया। अन्त में फेफडो की क्रिया एकदम बन्द हो गयी, तब हृदय की गति भी बद हो गयी। इसके बाद अपनी वेदना को प्रकट करने में वे असमर्थ हो गयी, तब हमने मान लिया कि अब मृत्यु हो गयी। मेरे मन में यह विचार उठा कि वेदना प्रकट करने की शक्ति नही रही। परन्तु इससे भीतर से वेदना अनुभव करने की शक्ति भी चली गयी, यह मानने के लिए हमारे पास क्या सबूत है? किसीकी मुश्कें बाँधकर और मुंह में कपडा ठूंसकर यदि उसे मारा जाय और सताया जाय, तो वह भी अपनी वेदना प्रकट नही कर सकता। परन्तु इसका मतलब यह थोडे ही है कि उसे कोई वेदना नही होती या उसे इसकी जानकारी नहीं है। इससे भी अधिक जोर से मुश्कें बँधी हो और नाक भी बन्द कर दी गयी हो, तो मुंह पर की रेखाओं से भी वह अपनी वेदना प्रकट नही कर सकता। हृदय बद हो जाने के बाद शरीर द्वारा वेदना प्रकट करना बन्द हो गया। फिर इस शरीर को जो चाहे करते रहें, उसका विरोध अशक्य हो गया। उसके बाद उसे बाँधकर आग लगा दी। वह भी उसने सह लिया। परन्तु चित्त जिस वेदना के साथ तन्मय हो गया था, उसकी तन्मयता और जानकारी भी चली गयी, इसका हमारे पास क्या सबूत है?

"विजया भाभी की अतकाल के समय जो वेदनामय स्थिति हो गयी थी, वह उनके लिए तो पहली और अन्तिम बार की ही थी। परन्तु मुझे तो इस स्थिति का तीव्र, मध्य और मंद अनुभव हमेशा होता रहता है। जिस बीमारी मे अनुभव मे आप सब चिन्तातुर हो गये थे, उसमें इस अनुभव के सिवा और क्या था? विनोबाजी ने कहीं लिखा है कि हवा लेने के लिए भी कही कोई मेहनत करनी पडती है? नाक खुली रहे, तो हवा तो आनी और जानी ही रहेगी। यह पढकर मैंने मन ही मन कहा कि विनोबा क्या जानें कि केवल इस हवा को अन्दर लेने और बाहर निकालने के लिए कितनी हॉर्स पॉवर (अश्व-शक्ति) की जरूरत होनी है? मेरे लिए तो इतना करते रहने में ही

शरीर-श्रम के व्रत का पालन हो जाता है और अन्त में बेचारा हॉर्ट (हृदय) थककर गिर पडता है।

'इसमें से एक और तात्त्विक प्रश्न मन में उठता है। विनोबा ने अपने 'गीता-प्रवचन' मे अतकाल की जाग्रति पर बहुत जोर दिया है। अतकाल तक मनुष्य का आसपास कौन खडा है, इसका भान है, मुंह से आवाज नही निकल पाती, किन्तु इशारे से अथवा धीमी आवाज से वह पानी माँगता है। युकेलिप्टस की गध से उसे कुछ आराम मालूम होता है, इसलिए हाथ को नजदीक लाने या दूर हटाने का इशारा करता है। जब बहुत भीड हो जाती है, तब सबको चले जाने के लिए इशारा करता है। इसे पूर्ण जाग्रति नही, तो और क्या कहा जाय? परन्तु वेदना के साथ चित्त इतना तन्मय हो जाता है कि उससे वह अलग नही हो पाता।

"मुझे भी जब बहुत तकलीफ होती है, तब मन को कितना भी रोकने की इच्छा करूँ, फिर भी वेदना की तीव्रता के कारण कराह निकल ही जाती है और मैं चिल्ला भी उठता हूँ। उस समय मैं दूसरो को घबडाने से खुद रोक नही सकता। उस समय भी यह स्मृति तो रहती ही है कि मै तो वेदना का केवल साक्षीमात्र हूँ। मैं तो जो हूँ सो ही हूँ। फिर भी मैं यह अनुभव नही कर सकता कि वेदना के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नही। चिल्लाते हुए मुझे शर्म भी आती है। परन्तु जब वेदना बहुत तीव्र होती है, तब मैं अपने-आपको रोक नही सकता। आसपास के लोगो का जो चिन्ता होती है, सो न्यूनाधिक परिमाण में—इसीके कारण बीच-बीच में वेदना होते हुए भी मैं दूसरी बातो की ओर ध्यान दे सकता हूँ और कभी-कभी विनोद भी कर लिया करता हूँ। परन्तु इसका कारण तो मैं यह मानता हूँ कि उस समय वेदना इतनी कष्टमय नही होती, जितनी कि मैं अथवा दूसरे समझ लेते है। बापू बहुत बार कहते कि जब वेदना सचमुच असह्य हो जाती है, तब मनुष्य को मूर्च्छा आ जाती है। यह ईश्वर की कृपा है। भाभी की अतकाल की स्थिति से ऐसा मालूम होता है कि यदि ऐसा न हो तो भी वेदना के साथ एकरूपता—अद्वैत—हो सकता है। तब क्या मूर्च्छा वेदना के साथ एकरूपता होने के कारण ही तो नही होती? और क्या जाग्रति भी इसी कारण म नही होती? दोनो स्थितियाँ वाछनीय

नही मालूम होती। जाग्रति होने पर भी वेदना को शान्ति के साथ सह लेने की शक्ति होनी चाहिए।

"हाँ, ऐसे भी आदमी होते हैं, जो ऐसा कर सकते हैं और हँसते-हँसते मृत्यु का स्वागत कर सकते है। वे कठोर वेदना सह सकते हैं। परन्तु इतने से यह नही कहा जा सकता कि उन्होंने 'ब्राह्मी स्थिति' को प्राप्त कर लिया। शायद किसी दूसरे ही ध्येय के साथ उनकी एकरूपता होती है। इन सब स्थितियो की तुलना किस प्रकार की जाय ?

"मेरे अपने मन में उत्तम स्थिति को साधने की इच्छा बढ़ती ही जा रही है। यह तो मान ही लेना चाहिए कि अब मेरे शरीर को अधिक समय तक नही टिकना है। वर्षों से प्रातःस्मरणवाले श्लोकों में से तीसरा श्लोक—'प्रातर्नमामि तमसो' वाला—मैं नही बोलता था। गुजराती अनुवाद में भी मैंने उसे छोड दिया है। क्योंकि 'रज्ज्वा भुजगम् इव प्रतिभासित वै' यह उपमा मुझे जँचती नही। परन्तु आजकल इसीकी तरफ मेरा ध्यान सबसे अधिक जाता है।"

अन्तकाल की स्थिति के बारे में स्वामी सहजानद ने दो स्थानो पर अपने विचार प्रकट किये हैं :

"अन्ते या मति सा गति'—इस उपनिषद्-वाक्य के बारे में उनसे पूछा गया था कि 'यदि अन्त समय भगवान् में मति रखने से सद्‌गति मिल सकती है, तो फिर सारी जिन्दगीभर भक्ति करने में क्या विशेषता है ?' इसके उत्तर में उन्होंने कहा था : 'जिसे साक्षात् भगवान् की प्राप्ति हो गयी है, उसे अतकाल में स्मृति रहे या न रहे, तो भी उसका अकल्याण नही होगा। स्वय भगवान् उसकी रक्षा कर लेते हैं। और जो भगवान् से विमुख है, वे यदि चलते-बोलते देह छोड दें, तो भी उनका कल्याण नहीं हो सकता। वे यमपुरी में ही जायँगे। यदि कोई कसाई जैसा पापी बोलता-चालता मर जाय और दूसरा कोई भगवान् का भक्त अतकाल में विस्मृति के वश होकर मर जाय, तो क्या इससे भक्त का अकल्याण और अभक्त का कल्याण होगा ? हरगिज नहीं। इस पर से मैं इस स्मृति का यह अर्थ करता हूँ कि अभी अर्थात् जीवन-काल में उसकी जैसी मति होगी, वैसी ही उसकी गति अन्तकाल में होगी। (अन्ते मति सा गति,

अर्थात् अधुना या मति अन्ते सा गति) इसलिए जो भक्त है, भगवान् का पूरा दास है, जिसे सन्तों की प्राप्ति हो गयी है, वह किसी भी अवस्था में मरे, उसका कल्याण ही होगा। दूसरी ओर जिसके मन में यह भाव रहा कि मुझे भगवान् नही मिलेंगे, सत नही मिले, मैं अज्ञानी हूँ, मेरा कल्याण नही होगा, उसका कल्याण सचमुच कभी नही होगा। जो भगवान् का दास है, जिसे कुछ प्राप्तव्य नही रहा, जिसके दर्शन से दूसरा का भी कल्याण होता है, उसके कल्याण के विषय में शका हो ही क्यो ? यह सही है कि भगवान् का दासत्व प्राप्त करना बहुत कठिन है। उसके दास का लक्षण यह है कि वह अपनी देह को मिथ्या मानता है, अपनी आत्मा को ही सत्य मानता है और अपने स्वामी (भगवान्) के उपभोग की चीजों की अपने भोग के लिए कभी कामना नही करता। इसी प्रकार भगवान् को जो आचरण पसन्द नही, वह कभी नही करता। यही हरि का दास है। परन्तु अपने को हरि का दास कहते हुए भी जो देहाभिनिवेश से युक्त है, वह केवल प्राकृत भक्त है।'

"उनसे दूसरा प्रश्न यह किया गया था कि कभी-कभी भगवान् के दृढ भक्त को अन्तकाल में बडी पीडा होती देखी गयी है, उसमें बोलने की भी शक्ति नही रहती। दूसरी ओर एक आदमी ऐसा होता है, जो परिपक्व भक्त नही होता, फिर भी मरते समय उसमें पर्याप्त शक्ति होती है। वह भगवान् की महिमा गाता हुआ सुख से शरीर छोडता है। इसका कारण क्या है ? जो उच्च होता है, उसकी मृत्यु शोभादायक नही होती और जो कच्चा होता है, उसकी मृत्यु शोभादायक हो जाती है। ऐसा क्यो ?"

इसका उत्तर देते हुए सहजानद स्वामी ने कहा

"मनुष्य की मृत्यु देश, काल, क्रिया, सग, ध्यान, मन्त्र, दीक्षा और शास्त्र—इन आठ वस्तुओ के अनुसार होती है। ये सब अनुकूल हो, तो मति अच्छी होती है। प्रतिकूल हो, तो मति खराब हो जाती है। फिर मनुष्य के हृदय में परमेश्वर की माया से प्रेरित चारो युगो के धर्मों का चक्र चलता रहता है। इस कारण किसी मनुष्य के अन्तकाल के समय यदि सत्ययुग की बारी आ जाती है, तो उसकी मृत्यु बडी शोभादायक हो जाती है। त्रेता तथा द्वापर में इससे कम शोभा होती है। और कलि का आवर्त होने पर मृत्यु बहुत खराब देखी जाती

है। इस प्रकार अन्त समय में जैसे काल का बल होता है, वह भली या बुरी मृत्यु का कारण बन जाता है। इसके अलावा एक कारण और है। वह है, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था का स्वप्न। पापी भी अन्त समय यदि जाग्रत अवस्था में हो, तो उसकी मृत्यु बोलते चालते होती है। स्वप्नावस्था में हो, तो वह बडबडाते हुए मरता है और सुषुप्तावस्था में हो, तो मूर्च्छित अवस्था में उसकी मृत्यु होती है। परन्तु जो इन तीनों अवस्थाओं से परे आत्मस्थिति को पहुँचा होता है, वह विरल भक्त ईश्वर के समान सामर्थ्य प्रकट करता हुआ स्वतंत्र रीति से अपनी देह का त्याग करता है। उसकी तो बात ही निराली होती है। ऐसी सिद्धि केवल भक्त को ही प्राप्त होती है। विमुख को नही हो सकती, भले ही वह पूर्ण जाग्रति में मरे। तात्पर्य यह कि जाग्रति में मरने से शुभ गति मिलती है और स्वप्न अथवा सुषुप्ति की अवस्था में मरनेवाले को अशुभ गति ही मिलती है, ऐसी कोई बात नही है। तीनों स्थितियों में अभक्त का तो अशुभ ही है और भक्त को अन्तकाल में चाहे जितना शरीर-कष्ट हो और ऊपर से देखने पर वह भले ही भारी कष्ट पा रहा हो, तो भी प्रभु के प्रताप से उसके भीतर आनन्द का स्रोत बहता ही रहता है।

"ये सारे उद्गार मुमुक्षु का अवश्य ही साहस दिलानेवाले है। परन्तु क्या उन्होंने यह केवल साहस देने के लिए ही कहा होगा? मुझे तो लगता है कि इसमें 'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति' का अच्छा विवरण है। जिसने भक्ति की है, वह कभी दुर्गति को प्राप्त हो ही नही सकता। फिर वह किसी भी अवस्था में क्यों न मरे। यदि वह अपूर्ण है, तो इस कारण उसे योगभ्रष्ट तो मानना ही पडेगा। जो चरम सीमा को पहुँच गया है—संभव है—वह सामर्थ्य के साथ मरे। गीता के आठवें अध्याय के पाँचवें और छठे श्लोक* कुछ दूसरे प्रकार के प्रतीत होते है। उनका समाधान विनोबा किस प्रकार करते हैं? ऊपर का कथन उन्हें सही मालूम होता है?

---

*अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
य प्रयाति स मद्भाव याति नास्त्यत्र संशय ॥(८-५)

अन्तकाल में मेरा ही स्मरण करते हुए जो देह छोड़ता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त करता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं।

"गीता के आठवें अध्याय के दसवें श्लोक* का भी अर्थ इसीके साथ करना चाहिए। उसमें योगबल की ओर विशेष रूप से संकेत किया गया है।

"इस दसवें श्लोक में जो विधि बतायी गयी है, उसके अनुसार तो योग का अभ्यास किये बिना केवल अत्यंत भक्तिमान् पुरुष ही देह का विसर्जन कर सकता है न? उदान वायु जिस प्रकार ऊपर जाने का यत्न करते-करते ठेठ हृदय तक पहुँच जाती है, इसका अनुभव अपनी बीमारियों में मुझे कभी-कभी होता है। और अंतकाल में वह किस प्रकार काम करता है, इसका भी अनुमान मैं कुछ-कुछ कर सकता हूँ। परन्तु मुझे यह आत्म-विश्वास नहीं है कि अपनी इच्छा के अनुसार मैं उदान वायु को ऊपर चढ़ा सकता हूँ या चढ़ने से रोक सकता हूँ। अंत समय में यदि मुझे भान रहे तो शायद मैं अंदर ही अन्दर इसकी गति का अनुभव कर सकूँ। परन्तु भान रहना, न रहना तो इस पर निर्भर है कि कफ आदि का कोप कितना होता है। जिसका समस्त जीवन निरोग रहा है, उसे शायद अपने शरीर की क्रियाओं पर ऐसा स्वामित्व प्राप्त हो सके। परन्तु मुझे लगता है कि प्राण जा रहा है, कैसे जा रहा है कब जाता है, क्या यह चिन्ता ही ब्रह्म से द्वैतभाव को प्रकट नहीं करती? यदि मैं प्राण नहीं हूँ, चित्त नहीं हूँ, केवल शुद्ध ब्रह्म ही हूँ, तो शरीर में प्रवेश करना या शरीर में से निकल जाना और किस समय जाना तथा किस प्रकार जाना, इसकी चिन्ता क्या हो? यह विचार भी

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥(८–६)

अथवा हे कौन्तेय, मनुष्य जिस-जिस स्वरूप का ध्यान धरता है, अंतकाल में उसी स्वरूप का स्मरण करते हुए वह देह भी छोड़ता है और उस-उस स्वरूप से भावित अर्थात् पुष्ट होने के कारण उस स्वरूप को ही वह प्राप्त करता है।

*प्रयाणकाले मनसा चलेन, भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्, सत्त्वं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥(८-१०)

जो मनुष्य मृत्यु के समय अचल मन से भक्तियुक्त होकर और योगबल से प्राण को भ्रुकुटि के बीच अच्छी तरह स्थापित करके मेरा स्मरण करता है, वह दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है।

आता है। ज्ञानेश्वर आदि का यही निर्णय है, ऐसा कुछ संस्कार मेरे मन पर है। इस विषय में विनोबा के विचार क्या हैं?"

विनोबा ने इसका उत्तर यों दिया :

ता० १३-७-'५२
बनारस

"श्री किशोरलाल भाई,

मृत्यु निमित्त चिंतन पर पत्र पढ़ा। अंत में आपने निष्कर्ष निकाला है। जाग्रति रहते हुए वेदना को शांति से सहन करने की शक्ति चाहिए। लेकिन इतना होने पर भी वह ब्राह्मी दशा नहीं, यह भी आपने संभव माना है। यह संभव तो है ही। मुझे लगता है, ब्राह्मी दशा को सहन शक्ति से भिन्न पहचानना ही पड़ेगा। दोनों का भेद समाधि और प्रज्ञा के जैसा कह सकते हैं। लेकिन मुझे तो प्रज्ञा भी ब्राह्मी दशा से भिन्न लगती है।

'रज्ज्वा भुजङ्गमिव' यह उपमा इतनी परिचित हो गयी है कि अतिपरिचय के कारण वह कोई असर नहीं कर रही है। लेकिन उस परिचय से अगर हम मुक्त हो सके, तो वह इतनी गहराई में ले जाती है कि उतनी गहराई में और कोई विचार-सरणी नहीं पहुँचाती, ऐसा मुझे लगता है।

गीता में 'धीर' शब्द दोहरे अर्थ में आया है। (अ० २ श्लोक १३, १५) एक 'धृति' पद से (श्लोक १५) और दूसरा 'धी' पद से (श्लोक १३) दोनों के योग के बिना अपने राम का काम नहीं बनेगा, ऐसा विनोबा ने समझ लिया है।

विनोबा का प्रणाम"

किशोरलाल भाई का अंतकाल इस प्रकार एकाएक आया और प्राण इतनी सरलता से चले गये, लगभग अंत तक उन्हें जाग्रति रही और अंत में 'राम' शब्द का उच्चारण भी कर सके, यह सब बताता है कि योगाभ्यास न करने पर भी उन्हें योगी की मृत्यु प्राप्त हुई।

* * *

साहित्य-प्रवृत्ति

किशोरलाल भाई जब कॉलेज में पढते थे, तभी से कुछ-न-कुछ लेखन-कार्य करते रहते थे। कॉलेज की चर्चा-सभा में उन्होंने प्राथमिक शिक्षा पर एक निबन्ध पढा था। कॉलेज-जीवन में और उसके बाद भी वे 'सुन्दरी-सुबोध' में 'रतन डोसीनी वातो' (रतन बुढिया की बातें) इस शीर्षक से छोटे-छोटे लेख लिखते थे। इसमें वे पुरानी बुढियों की मर्यादा-प्रियता का, रोने-पीटने के शौक का तथा हिन्दू-समाज के रीति-रिवाजों का ठण्डा मजाक किया करते। कभी-कभी कविताएँ भी बनाते। परन्तु उन्हें शायद ही कभी छपाते।

आश्रम में आने के बाद विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के हस्तलिखित मासिक-पत्रों में वे लेख लिखते। इनमें धार्मिक शिक्षा, शुद्ध लेखन, पाठ्यक्रम में अग्रेजी का स्थान, राष्ट्रीय शिक्षा के विविध अग, इस तरह अनेक विषयों पर उन्होंने लिखा। श्री इदुलाल याज्ञिक 'नवजीवन और सत्य' नाम का एक मासिक निकालते थे। बाद में साप्ताहिक 'नवजीवन' के रूप में प्रकाशित करने के लिए वह गाधीजी को दे दिया गया। इसमें भी वे लिखते रहते थे। सन् १९२० में गुजराती साहित्य-परिषद् का अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ था। इसमें उन्होंने 'स्वामीनारायण-सप्रदाय' पर एक निबन्ध पढा था, जो साहित्य-परिषद् के विवरण में छपा है।

इस प्रकार लेखन की रुचि तो उनमें विद्यार्थी-काल से ही थी। परन्तु उनकी गभीर लेखन-प्रवृत्ति तो सन् १९२१ के बाद से शुरू हुई, जब उन्होंने साधना के लिए एकान्त का सेवन किया था और उसमें से उन्हें एक निश्चित जीवन-दृष्टि मिली थी।

उन्होंने जो चिन्तन किया, उसमें से अवतारों के विषय में उनकी दृष्टि क्या है, यह उन्होंने—'राम और कृष्ण', 'बुद्ध और महावीर', 'सहजानद स्वामी' तथा 'ईसा'—इन पुस्तकों के द्वारा समाज के सामने उपस्थित की है। इन पुस्तकों में उन्होंने यह बताने का यत्न किया है.

"यदि हम अपने आशयों को उदार बना लें, अपनी आकांक्षाओं को ऊँची कर लें और प्रभु की शक्ति का ज्ञानपूर्वक सहारा लेने लगें, तो हम और अवतार माने जानेवाले पुरुष तत्त्वतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं। परम तत्त्व हममें से हर मनुष्य के हृदय में विराज रहा है। उसकी सत्ता के द्वारा या तो हम क्षुद्र वासनाओं की पूर्ति कर सकते हैं, अथवा महान् और चरित्रवान् बनकर संसार को पार कर सकते हैं और इसमें (संसार पार करने में) दूसरों की सहायता भी कर सकते हैं।

"महापुरुषों ने अपनी रग-रग में अनुभव होनेवाले परमात्मा के बल से स्वयं पवित्र होने, पराक्रमी बनने और दूसरों के दुःखों का निवारण करने की आकांक्षा रखी। इस बल के सहारे सुख-दुःख से परे, करुणहृदय, वैराग्यवान्, ज्ञानवान् और प्राणिमात्र का मित्र बनने की इच्छा की। स्वार्थ के त्याग से, इन्द्रियों की विजय द्वारा, मन के संयम की सहायता से, चित्त की पवित्रता से, प्राणिमात्र के प्रति प्रेम के द्वारा दूसरों के दुःखों का नाश करने के लिए अपनी सारी शक्ति अर्पण करने की तत्परता द्वारा, निष्काम भाव से, अनासक्ति से और निरहंकारिता के द्वारा गुरुजनों की सेवा करके, उनके कृपापात्र बनकर मनुष्यमात्र के लिए वे पूजनीय बन गये।

"यदि हम निश्चय कर लें, तो हम भी इस प्रकार पवित्र और कर्तव्यपरायण बन सकते हैं, हम भी अपने भीतर ऐसी करुणा या विराग भर सकते हैं, हम भी ऐसे निष्काम, अनासक्त और निरहंकारी बन सकते हैं। इनकी उपासना का उद्देश्य यही है कि ऐसे बनने के लिए हम निरंतर प्रयत्नशील रहें। जितने अंश में हम उनके जैसे बनेंगे, उतने ही अंशों में यह कहा जायगा कि हम उनके निकट पहुँचे। यदि उनके जैसा बनने का प्रयत्न हम नहीं कर रहे हैं, तो हमारा सारा नाम-स्मरण वृथा बन जाता है। ऐसे नाम-स्मरण से उनके निकट पहुँचने की आशा करना भी व्यर्थ है।"

इस जीवन-चरित्र-माला का नाम 'नवजीवन-प्रकाशन-मंदिर' ने अवतार-लीला लेख-माला रखा था। किशोरलाल भाई का ऐसे नाम के विषय में एतराज तो था ही। इसलिए दूसरे संस्करण में यह नाम उन्होंने हटा दिया। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा था .

"—अवतार शब्द के विषय में हिन्दू मात्र के मन में जो विशेष कल्पना है, वह मुझे मान्य नही है। इस कल्पना के साथ पोषित भ्रामक मान्यता को हटा देने पर भी रामकृष्णादि महापुरुषो के प्रति पूज्यभाव बनाये रखना इन पुस्तको का उद्देश्य है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा आदि को भिन्न-भिन्न राष्ट्रो के लोग देव, अति-मानव बनाकर पूजते रहे है। उन्हे आदर्श मानकर उनके जैसे बनने की अभिलाषा करके, प्रयत्नवान् बनकर अपना अभ्युदय करने की नही, बल्कि उनका नामोच्चारण करके, उनमें उद्धारक शक्ति का आरोप करके, उसमें विश्वास करके अपने अभ्युदय की अभिलाषा रखना आज तक की हमारी रीति रही है। यह तो न्यूनाधिक परिमाण मे अन्ध-श्रद्धा—अर्थात् जहाँ बुद्धि काम नही देती, केवल वहाँ तक श्रद्धा—की रीति है। विचार के सामने यह टिक नही सकती।

"राम ने शिला को अहिल्या बना दिया, अथवा पानी पर पत्थर तैराये, इन बातो को हटा दें, कृष्ण केवल मानुषी शक्ति से ही जिये—ऐसा कहें, ईसा ने एक भी चमत्कार नही बताया, ऐसा मान लें, फिर भी राम कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा आदि पुरुष मनुष्य-जाति के लिए क्या पूजनीय है इस दृष्टि से ये चरित्र लिखने का मैंने प्रयत्न किया है। सभव है, कुछ लोगो को यह अच्छा न लगे। परन्तु मुझे तो निश्चय है कि इनकी ओर देखने की यही सही दृष्टि है। इसलिए इस पद्धति को न छोडने का मैंने निश्चय किया है।'

सहजानद स्वामी के चरित्र की निरूपण-पद्धति में उन्होने किंचित् भेद कर दिया है। इसका कारण यह है कि पहलेवाले महापुरुषो के जीवन-चरित्र प्रसिद्ध है, जब कि सहजानद स्वामी का चरित्र स्वय सत्सगियो में भी कम प्रसिद्ध होता जा रहा है। सत्सगियो के बाहर तो और भी कम लोग उसे जानते है। फिर उसमें कुछ साप्रदायिक अनास्था भी मिल गयी है। इसलिए उनका चरित्र उन्होने अधिक विस्तार के साथ लिखा है। ये तफसीलें उन्होने सन् १९२० की साहित्य-परिषद् में रखी थी। अधिकाश रूप में उन्हींको उन्होने इसमें बनाये रखा है। यद्यपि सन् १९२० में सहजानद स्वामी के प्रति उनकी भक्ति में जो दृष्टिबिन्दु था, उसमें सन् १९२३ मे बहुत अतर हो गया था।

यह चरित्र इतने अधिक विस्तार के साथ क्यों लिखा, इसके कारण बताते हुए किशोरलाल भाई लिखते हैं

"सहजानंद स्वामी गुजराती जनता के एक बड़े भाग के इष्टदेव हैं। इस कारण उनके जीवन से सबको परिचित हो जाना आवश्यक है। इसके अलावा उन्होंने गुजरात को गढ़ने और संस्कारवान् बनाने में भी जो महत्त्वपूर्ण भाग लिया, उस दृष्टि से भी उनका जीवन सबको ज्ञात होना चाहिए। लगभग ३० वर्ष तक उन्होंने गुजरात, काठियावाड और कच्छ में सतत परिश्रम करके लोगों को शुद्ध मार्ग पर आरूढ़ किया। गुजरात की ऊँची-नीची, हिन्दू-अहिन्दू सभी जातियों में अपना सन्देश पहुँचाने में उन्होंने जिस योजक बुद्धि का परिचय दिया, जो खतरे उठाये और जितने साधक तैयार किये, ये सब बुद्धदेव का स्मरण दिलाते हैं।

दोनों का तरीका अपनी साधुता द्वारा सुधार करने का था।

"अपने समय के प्रसिद्ध पुरुषों में सहजानंद स्वामी सबसे महान् थे। उस समय के मुमुक्षुओं में पुरुषोत्तम के रूप में उपासना करने लायक थे। पूर्वदेश में जन्म पाकर उन्होंने गुजरात को अपना घर बनाया, यह गुजरात का सौभाग्य था।

"मोहावरण को दूर करके मेरी अशुद्ध कल्पनाओं को मेरे गुरुदेव ने शुद्ध किया। उन्होंने मुझे एक अंध अनुयायी नहीं रहने दिया। परन्तु मोह दूर होने पर यदि सहजानंद स्वामी के प्रति मेरी भक्ति कम हो जाय, तो मैं कृतघ्न हूँगा और गुरु-कृपा का अनधिकारी सिद्ध हूँगा। सम्प्रदाय के भीतर कुछ त्रुटियाँ मेरे देखने में आयीं, सम्प्रदाय के कितने ही वादों में और तत्व-निरूपण की पद्धति से मैं पूरी तरह सहमत नहीं हूँ और इस चरित्र में जहाँ इनका जिक्र किये बगैर काम नहीं चल सकता था, वहाँ मैंने इनका उल्लेख भी किया है।

"परन्तु इस तरह तो मेरे कुटुम्ब में, मैंने शिक्षण पाया है उन शालाओं में जहाँ मैं काम करता हूँ उन संस्थाओं में और जिस देश में मेरा जन्म हुआ है, उसमें भी त्रुटियाँ है और ऐसी बातें हैं, जिससे आदमी सहमत नहीं हो सकता। परन्तु इतने से कुटुम्ब के प्रति स्नेह, शालाओं के प्रति राग, संस्थाओं के प्रति कर्तव्य निष्ठा और जन्मभूमि के प्रति मेरा ऋण कम नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपर्युक्त मतभेदों के कारण मेरी भक्ति कम नहीं हो सकती। मेरे भीतर जो

कुछ भी अच्छाई है, उसका बीज उन्होंने कितने अधिक अश में बोया है, इसका माप नही किया जा सकता।"

इनमें से 'राम और कृष्ण' तथा 'बुद्ध और महावीर' इन दो पुस्तको के चार-चार सस्करण निकल चुके है। 'ईसा' और 'सहजानद स्वामी' के दो-दो सस्करण छपे है।

सन् १९२५ मे उन्हाने 'केळवणीना पाया' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में किशोरलाल भाई ने शिक्षा के विषय में अपने मौलिक तथा क्रान्तिकारी विचार पेश किये है। इसमें 'जीवन में आनद का स्थान' और 'इतिहास विषयक दृष्टि' ये दो निबन्ध प्रचलित दृष्टि से सर्वथा भिन्न दृष्टि उपस्थित करते है। किशोरलाल भाई ने इतिहास की पढाई के विषय में 'जडमूल से क्रान्ति' में तथा अन्यत्र जो विचार उपस्थित किये है, उनकी ओर बहुत से शिक्षाशास्त्रियो तथा शिक्षको का ध्यान आकर्षित हुआ है। परन्तु 'केलवणीना पाया' में उन्हाने इन्ही विषयो पर अधिक विस्तार से लिखा है। उस ओर लोगो का ध्यान इतना नही गया है। यह सपूर्ण पुस्तक शिक्षाविषयक क्रान्तिकारी विचार-सरणी से भरी हुई है। फिर भी इसकी ओर समाज का ध्यान पूरी तरह से नही जा सका है।

किशोरलाल भाई के सपूर्ण तत्त्वज्ञान का विस्तृत प्रतिपादन तो 'जीवन-शोधन' नामक उनके ग्रन्थ में आया है। इसमें रूढ परपरा को छोडकर अनेक विषयो में उन्होंने अपने स्वतत्र विचार प्रकट किये हैं। इसमें वीरता के साथ उन्होंने यह कह देने का साहस किया है

"आर्य तत्त्वज्ञान की रचना परिपूर्ण हो गयी, अब इसमें नये शोध और खोज की आवश्यकता नही, शुद्धि-वृद्धि की कोई गुजाइश नही, अब तो प्राचीन शास्त्रो को भिन्न भिन्न भाष्यों द्वारा अथवा नये भाष्यो की रचना करके केवल समझाना मात्र रह गया है, ऐसा मैं नही मानता। नये अनुभव और नये विज्ञान की दृष्टि से पुराने में सशोधन-परिवर्धन करने और जरूरत मालूम हो, तो उससे मतभेद रखने का भी अधिकार आधुनिको को है। इस अधिकार को छोडकर आज भारत 'अचलायतन' बन रहा है। मैं मानता हूँ कि बादरायण के समय से भारतीय तत्त्वज्ञान का विकास लगभग रुक गया है। उन्होने प्राचीन को सूत्रबद्ध करके

तत्त्वज्ञान का दरवाजा बन्द कर दिया है और शंकराचार्य तथा उनके बाद के आचार्यों ने इन दरवाजों पर ताले लगा दिये हैं। ये ताले खोलने ही पड़ेंगे। नये सांख्य के लिए अवकाश है। योग पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। वेदान्त के प्रतिपादन में शुद्धि हो सकती है। इस सबके फलस्वरूप ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग और योगमार्ग का स्वरूप दूसरा हो जाय, तो ऐसा होने देना आवश्यक है।"

यह पुस्तक किस भावना से लिखी गयी, यह भी उन्होंने बताया है

"तत्त्वज्ञान मेरी दृष्टि से केवल बौद्धिक विलास की वस्तु नहीं है। इसके आधार पर जीवन की रचना होनी चाहिए। इसलिए जिन मान्यताओं का जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, उनमें मुझे कोई रुचि नहीं है। बुद्धि के लिए केवल अखाड़ों के रूप में तत्त्वज्ञान की चर्चा मैं नहीं करना चाहता। इसलिए इस पुस्तक में मैंने जो भी खण्डन-मण्डन करने का यत्न किया है, वह प्रत्यक्ष जीवन को बदलने की दृष्टि से ही किया है, केवल मान्यताओं को बदलने की दृष्टि से नहीं।

"संभव है, कुछ लोगों को ये लेख धृष्टतापूर्ण और कुछ को आघात पहुँचानेवाले मालूम हों। दूसरों को संभवतः ऐसा भी लगे कि मैं हिन्दू-धर्म की विशिष्टताओं का उच्छेद करने जा रहा हूँ। किन्तु मैं तो इस विषय में केवल इतना ही कह सकता हूँ कि ये लेख लिखते समय मेरी वृत्ति संपूर्ण भक्तिभाव की रही है। मैं समझता हूँ कि आज हमारा अपार और अमूल्य कर्तृत्व व्यर्थ नष्ट हो रहा है। उसे देखकर मुझे दुःख हो रहा है। उससे प्रेरित होकर और सत्योपासना की दृष्टि से मैं यह लिख रहा हूँ।"

इसके बाद भगवान बुद्ध की वाणी को मानो प्रतिध्वनित करते हुए वे लिखते हैं :

"पाठको, मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह परम्परागत नहीं है परन्तु केवल इस कारण वह गलत नहीं है। आपकी परम्परा में परिवर्तन करने की वह माँग कर रहा है, इसलिए उसे त्याज्य न मानें। चित्त को आकर्षण करने लायक यह सुन्दर और आसान नहीं है, इसलिए इसे आप गलत न मान लें। दीर्घकाल से जिस श्रद्धा का आप पोषण करते आ रहे हैं, उस दृढ़ श्रद्धा का यह उन्मूलन करता है, इस कारण कहीं यह न मान लें कि यह आपको गलत मार्ग पर ले जायगा।

मैं कोई सिद्ध, तपस्वी, योगी अथवा श्रोत्रिय नही हूँ, केवल इसलिए मेरी बातो को गलत न मान बैठें। बल्कि आप तो मेरे इन विचारो को अपने विवेक की कसौटी पर चढाकर देखें। इसमें यदि आपको वे सत्य और उन्नतिकर मालूम हो, जीवन के व्यवहार में और पुरुषार्थ में उत्साह भरनेवाले मालूम हो, प्रसन्नता में वृद्धि करनेवाले हो और आपके अपने तथा समाज के श्रेय को बढानेवाले प्रतीत हो, तो उन्हें स्वीकार करने में न डरें।"

अत में उन्होने कहा है

"इन लेखो में जितना सत्य विवेक-बुद्धि से स्वीकार करने योग्य हो और पवित्र प्रयत्नो को पोषण देनेवाला हो, केवल वही रह जाय और अधिक अनुभव तथा विचार से जो भूलभरा, पवित्र प्रयत्नो को नुकसान पहुँचानेवाला हो, उसका अनादर और नाश हो, ऐसा मैं चाहता हूँ।"

इस पुस्तक की प्रस्तावना किशोरलाल भाई के गुरु श्री नाथजी ने लिखकर उसमें प्रकट किये गये विचारो पर अपनी मुहर लगा दी है।

'गाधी-विचार-दोहन' और 'गीता-मन्थन'—इन दो ग्रन्थों की रचना सन् १९३० से १९३४ के स्वातत्र्य-सग्राम के बीच सन् १९३१ के सधिकाल में विले पारले में गाधी विद्यालय के निमित्त से हुई थी। इस विद्यालय में उन कार्यकर्ताओं के लिए कुछ मास का एक प्रशिक्षण-वर्ग जारी किया गया था, जो गाँवा में जाकर सेवा-कार्य करना चाहते थे। उसमें एक विषय 'गाधीजी के विचारों और सिद्धान्तों का परिचय' इस नाम का भी था। यह विषय किशोरलाल भाई को सौंपा गया था। उसके लिए की गयी तैयारी के फलस्वरूप 'गाधी-विचार-दोहन' का जन्म हुआ। जैसे-जैसे वे इसके प्रकरण लिखते जाते थे, वैसे-वैसे वे गाधीजी के पास भेज दिये जाते थे, ताकि वे उन्हें देख लें, उनमें सुधार कर दें और उन्हें प्रमाणभूत बना दें। इस पुस्तक का पहला सस्करण सन् १९३२ में गाधीजी को बगैर बताये ही छप गया था। दूसरा सस्करण गाधीजी के देखने के बाद सन् १९३५ में छपा था। इस पर अपनी राय देते हुए गाधीजी ने लिखा था

"इस विचार-दोहन को मैं पढ गया हूँ। भाई किशोरलाल का मेरे विचारों से असाधारण परिचय है। जितना परिचय है, वैसी ही उनकी ग्रहण-शक्ति भी

है। इसलिए मुझे बहुत कम फेरफार करना पड़ा है। बहुत-सी बातों में हम दोनों के विचार एक-से हैं। यद्यपि इसमें भाषा तो भाई किशोरलाल की ही है, फिर भी प्रत्येक प्रकरण में उस पर अपनी स्वीकृति देने में मुझे कोई आपत्ति नही मालूम होती। बहुत से विचारों को भाई किशोरलाल थोड़े में दे सके, यह उनकी अपनी विशेषता है।"

इस पुस्तक का तीसरा संस्करण सन् १९४० में प्रकाशित हुआ। इसमें कितने ही नये प्रकरण जोड दिये गये। इनको भी गांधीजी ने देख लिया था। सन् १९४४ में इसका फिर नया संस्करण हुआ, जो बहुत वर्षों से समाप्त हो गया है। फिर भी जब 'नवजीवन' की तरफ से पुनर्मुद्रण के लिए मांग की गयी, तब किशोरलाल भाई को लगा कि सन् १९४० के बाद तो गांधीजी ने बहुत लिखा है और अपने विचारों को नये रूप में प्रस्तुत किया है। इसलिए इस पुस्तक को फिर से लिखना पड़ेगा। परन्तु पुस्तक फिर से लिखने लायक उनका स्वास्थ्य नहीं था। इसलिए उन्होंने यह काम मेरे सिपुर्द कर दिया। मैंने चार-पांच प्रकरण नये सिरे से तैयार किये। इन्हें किशोरलाल भाई देख गये। परन्तु सयोगवश यह काम हमें स्थगित करना पड़ा। यह अब किया भी गया, तो भी बापू की राय इस पर नहीं मिल सकती। इसलिए अब ऐसा लगता है कि उनके विचारों का दोहन उन्हींके विचारों में दिया जाय, तो अधिक अच्छा होगा।

'गीता-मन्थन' की उत्पत्ति इस प्रकार हुई कि अपने अस्वास्थ्य के कारण किशोरलाल भाई गांधी विद्यालय की सुबह की प्रार्थना में नहीं आ सकते थे। इसलिए उन्होंने ऐसा क्रम बना लिया कि रोज दो-तीन चौथाई कागज पर गीता का संवाद थोड़े-थोड़े में लिखकर भेज दिया करते। जो एकदम अपढ़ नहीं हैं, बिल्कुल बच्चे भी नहीं, बहुत विद्वान् भी नहीं हैं, ऐसे भाई-बहनों का ध्यान में रखकर वे ये संवाद लिखते थे। परन्तु पाँच-छह अध्याय लिखने के बाद वे गिरफ्तार हो गये। तब शेष भाग उन्होंने इसी क्रम से और इसी पद्धति से जेल में पूरा कर दिया। सन् १९३३ के मार्च में इसका पहला संस्करण प्रकाशित हुआ। इसके बाद इसके तीन संस्करण और छपे।

सन् १९२० में जब किशोरलाल भाई नासिक-जेल में थे, तो मौरिस मेटरलिंक

की 'लाइफ ऑफ दी ह्वाइट एण्ट' नामक पुस्तक का 'उधईनुं जीवन' (दीमक का जीवन) इस नाम से उन्होंने गुजराती में अनुवाद किया। इसकी प्रस्तावना में उन्होंने लिखा था

"दीमक यूरोप मे एक अजनबी जतु है। ठण्डे देशो में यह जीवित नही रह सकती, जब कि गुजरात में शायद ही कोई ऐसा बच्चा मिले, जिसने दीमक न देखी हो। फिर भी दीमक के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें यूरोप में लिखी पुस्तकें पढनी पडती हैं। यह है हमारी लज्जाजनक स्थिति !

"ऐसा होने पर भी यदि इस पुस्तक में केवल शास्त्रीय और रूखी जानकारी होती, तो इसका अनुवाद करने की इच्छा मुझे शायद ही होती। परन्तु इस पुस्तक के लेखक जितने बड़े विज्ञानशास्त्री हैं, उतने ही बडे विचारक और सत्य के जिज्ञासु भी हैं। इस युग के कवियो और तत्त्वज्ञानियों में वे प्रथम पक्ति के पुरुष हैं। दीमक के जीवन का अध्ययन उन्होंने केवल जतुशास्त्र के कुतूहल को लेकर ही नही किया, बल्कि इसके द्वारा उन्होंने जीवन के विषय में, आत्मा के विषय में तथा दीमक के जीवन से मनुष्य-जीवन के लिए क्या-क्या बोध ग्रहण किया जा सकता है, इस विषय में बहुत विचार किया है और इन विचारो को बडी सरस भाषा में इस पुस्तक में पेश किया है। फलस्वरूप यह पुस्तक जतुशास्त्र सम्बन्धी पाठ्य पुस्तक जैसी नहीं, बल्कि ऐसी बन गयी है, जैसी किसी महापुरुष का जीवन सबके पढने लायक और उपयोगी होता है।"

इस पुस्तक के दूसरे भाग में 'सारशोधन' शीर्षकवाले प्रकरण में दीमक के विषय में अपने विचार भी दे दिये है और उसके साथवाले दो परिशिष्टो में दीमक सम्बन्धी साहित्य आदि की तथा भारतीय दीमक के बारे में भी सक्षिप्त जानकारी दे दी है।

दीमक के जीवन से किशोरलाल भाई ने यह सार निकाला है

"दीमक के जीवन में हमने देखा कि उसके नर, मादा, सैनिक, मजदूर सब वर्ग अपने को (समाज का) भोग्य मानकर ही हर काम करते हैं। इसका लाभ भी ये जीव अनुभव करते है। इनमें भले ही सबको सतत काम करना पड़ता है, परन्तु इनमें कोई केवल भोगी न होने के कारण एक भी दीमक—चाहे वह

मजदूर, सैनिक, जिस किसी वर्ग की हो और स्वावलम्बी हो या परावलम्बी—रोगी, कमजोर या भूख से पीड़ित नहीं दिखाई देती।

"इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखिये, तो सुख का मार्ग—संपूर्णतः सुख का नहीं तो भी संतोष का मार्ग तो इस सत्य को स्वीकार करके उसके अनुसार आचरण करने में ही है। सत्य यही है कि किसी भी जीव का जीवन भोग के बगैर संभव नहीं है, फिर भी वह भोगी बनने के लिए नहीं है। बल्कि अपने अलावा शेष विश्व के उपयोग के लिए धीरे-धीरे अथवा एक ही बार में उसके लिए मर-मिटने के लिए है। अथवा यों कहिये कि 'भोग' शब्द का अर्थ है—दूसरों के लिए मर-मिटने का आनंद। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'।"

सन् १९३२-३३ की जेल में उन्होंने टॉल्स्टॉय के 'दी लाइट शाइन्स इन डार्कनेस' नामक नाटक का गुजराती में रूपान्तर किया। टॉल्स्टॉय के नाटक-संग्रह में यह उन्हें सर्वोत्तम नाटक प्रतीत हुआ। बर्नार्ड शॉ की राय में भी यही टाल्स्टाय का सर्वोत्तम नाटक है। परन्तु वह तो इसे कला की दृष्टि से सर्वोत्तम मानता था, पर किशोरलाल भाई ने कला की दृष्टि से सर्वोत्तम होने के कारण इसे पसन्द नहीं किया था। उन्हें तो इसमें जो धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि पेश की गयी है, वह बहुत कीमती मालूम हुई और उन्हें लगा कि हमारे देश के लोग भी इसे समझें तो अच्छा, इस दृष्टि से उन्होंने इसे पसन्द किया। फिर यदि कला की दृष्टि से अनुवाद करना था, तो मूल नाटक जैसा था, उसी रूप में उसका अनुवाद करना चाहिए था। परन्तु उन्हें तो लगा कि नाटक में जो कला प्रकट की गयी है, उसकी अपेक्षा उसमें जो सत्यासत्य का विवेचन आया है, वह अधिक महत्त्व की वस्तु है। इसलिए सामान्य पाठक भी समझ लें, इस हेतु से उन्होंने नाटक को गुजराती पोशाक पहना दी। उन्होंने लिखा है:

"टॉल्स्टॉय ने इस नाटक में जो प्रश्न छेड़े हैं, वे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि किसी विशिष्ट समाज से ही नहीं, समस्त मानव-जाति से सम्बन्ध रखते हैं। ये प्रश्न सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि सार्वभौम व्रतों और मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्तों में से उत्पन्न होते हैं। परन्तु इस विषय में सभी प्रचलित धर्म, राज्य और समाज सत्य से बहुत दूर चले गये हैं और प्रत्येक समाज किसी धर्मशास्त्र, कानून और सुव्यवस्था को उसका कारण बताता है।

इसलिए इसमें टॉल्स्टॉय ने ईसाई-धर्म पर जो आक्षेप किये है, उनसे कोई धर्म मुक्त नही कहा जा सकता। ये आक्षेप वैदिक धर्म पर किस प्रकार लागू होने है, यह इस रूपान्तर द्वारा बताने का यत्न किया गया है। टॉल्स्टॉय का यह नाटक सर्वोत्तम समझा जाता है, इसका कारण मेरी समझ से यह है कि इसमें टॉल्स्टॉय ने कला की नही, सत्य की उपासना की है।"

टॉल्स्टॉय इस नाटक को पूरा नही कर पाये थे। पाँचवें अक का तो केवल ढाँचा मात्र तैयार कर सके थे। इसके आधार पर, परन्तु स्वतन्त्र रूप से किशोरलाल भाई ने पाँचवाँ अक खुद लिखा है। इस कारण पाँचवाँ अक टॉल्स्टॉय की मूल योजना से दूसरे प्रकार का बन गया है।

सन् १९३५ मे उन्होने खलील जिब्रान के 'दी प्रॉफेट' का 'विदाय वेलाए' नाम से अनुवाद किया। यह अनुवाद करने की इच्छा उन्हे क्या हुई, इस विषय में उन्होने लिखा है —

"कवि का बहुत-सा कथन सत्य और सुन्दरता के साथ पेश किया गया सत्य है। यदि ऐसा मुझे नही लगता, तो केवल काव्यानद के लिए मै यह अनुवाद नही करता।"

सन् १९४२ के आन्दोलन के जेल-प्रवास में उन्हाने और काका साहब ने मिलकर अमेरिकन लेखक पेरी बर्जेस का 'हू वॉक अलोन'* नामक उपन्यास का 'मानवी खडियरो' (मानवीय खँडहर) नाम से अनुवाद किया। मूल लेखक अमेरिकन लेप्रसी फाउण्डेशन (कुष्ठ-सघ) के अध्यक्ष है और एक महारोगी (कोढी) की आत्मकथा के रूप में यह उपन्यास उन्होने लिखा है। युद्ध में उत्साह के साथ वह शरीक होता है और बाद में अपने पिता के बढते हुए व्यवसाय का मालिक बन जाता है। जेन जैसी प्रेमल तथा कलारसिक तरुणी से विवाह करके वह धरती पर स्वर्ग लाने के सपने देखता है। भाई का नाम है टॉम, जो बडा नि स्पृह और चतुर है। उसके सहयोग से सासारिक दृष्टि से खूब आगे बढने की उम्मीद करता है। परन्तु इतने में कोढ का एक छोटा-सा दाग इसके

---

* इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद सर्व-सेवा-सघ द्वारा शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है।

सारे जीवन-प्रवाह को सुखा देता है और इसे निराशा की खाई में ढकेल देता है। फिर भी इस निराशा में से भी वह धीरे-धीरे अपने को सँभाल लेता है। स्वदेश (अमेरिका) और स्वजनो से दूर 'फिलिपाइन्स' द्वीप-समूह में खास तौर पर महारोगियो के लिए निश्चित क्यूलियन नामक टापू में वह जाकर बसता है। वहाँ के निवासियो के साथ एकरूप होकर जीने का शक्तिभर प्रयास करता है और इस प्रकार विनाश में भी नवीन जीवन-रस उत्पन्न करके नयी सृष्टि की रचना करता है। इस प्रकार के जीवन-वीर के सात्विक और अद्भुत जीवन-कार्य की यह एक कहानी है।*

कहना नही होगा कि किशोरलाल भाई द्वारा अनुवाद के लिए पसन्द की गयी ये चारो पुस्तकें अत्यंत सत्त्वशील और जीवन के निर्माण में मदद करने-वाली है।

सन् १९३६ में 'सत्यमय जीवन और सत्यासत्य-विचार' नाम की उनकी एक पुस्तक प्रकाशित हुई। लॉर्ड मोर्ले की एक पुस्तक है—'आन काम्प्रोमाइज'। महादेव भाई ने इसका 'सत्याग्रह की मर्यादा' के रूप में अनुवाद किया था। उन्होंने एक बार कहा था कि लार्ड मोर्ले के साथ आपके विचार कहाँ तक मिलते हैं, यह देखने के लिए आप इसका दूसरा प्रकरण पढ़कर देख लें और फिर आप इसकी समालोचना कर सकें, तो अच्छा हो। किशोरलाल भाई ने यह स्वीकार किया और तदनुसार सन् १९२७-२८ में यह पुस्तक लिखी। सन् १९३२ में जब वे जेल गये, तब उन्हें इच्छा हुई कि इसे एक बार दोहरा लेना चाहिए। इसलिए इसे वे अपने साथ ले गये। वहाँ उन्होंने इस पुस्तक का रूप ही बदल दिया। शुरू में यह समालोचना के रूप में लिखी गयी थी। अब यह एक स्वतन्त्र और विस्तृत निबन्ध बन गया।

किशोरलाल भाई ने लिखा है—

'मेरी यह पुस्तक संक्षेप में इस प्रकार की है—सत्य के उपासक को विचार, वाणी और व्यवहार में किस प्रकार बरतना चाहिए और हमारे देश के भिन्न-भिन्न प्रश्नों के विषय में हमारा बर्ताव कैसा होना चाहिए और आज कैसा है

* देखिये 'कुष्ठसेवा'—एक दर्दभरी कहानी।

इस बारे में सिद्धान्त तथा व्यवहार, इन दोनों दृष्टियों से इस पुस्तक में विचार किया गया है। चर्चा की पद्धति में इसमें मोर्ले का अनुसरण किया गया है। इस कारण इसमें मोर्ले की पुस्तक का आवश्यक सार और उस पर मेरी टीका भी आ गयी है। परन्तु इसमें उनकी पुस्तक का पूरा सार भी नहीं है। इसी प्रकार उनसे जहाँ-जहाँ मेरा मतभेद है, वह भी दे दिया गया है।"

अपने असत्य आचरण का केवल बचाव करने के लिए ही नहीं, बल्कि यह बताने के लिए कि यही करना उचित है, कई लोग प्रश्न करते कि यदि अपने स्वार्थ के लिए नहीं, परन्तु सार्वजनिक हित के लिए हम किसी सरकारी नौकर को फोड़ें, तो इसमें क्या बुराई है ? अथवा निःस्वार्थ प्रेम के लिए किसी सिद्धान्त को जरा अलग रख दें, तो इसमें कौन बड़ा दोष हो जाता है ? निःस्वार्थ प्रेम भी तो सत्य के ही समान महत्त्व रखता है। इस तरह के प्रश्नों का सीधा जवाब इस पुस्तक में है। इस दृष्टि से यह पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। परन्तु किशोरलाल-भाई की अन्य पुस्तकों के समान इस पुस्तक का गुजराती के पाठकों में प्रचार हुआ नहीं दीखता।

किशोरलाल भाई की पुस्तकों में जिसका शायद सबसे अधिक प्रचार हुआ है, वह है उनका गीता का समश्लोकी अनुवाद 'गीता-ध्वनि'। इसके विशेष प्रचार का कारण हमारे समाज में मूल गीता ग्रन्थ की अत्यधिक लोकप्रियता भी शायद हो। किशोरलाल भाई ने पहलेवाले पद्यानुवादों से भी लाभ तो उठाया ही है। इनमें भी वे सबसे अधिक ऋणी कवि श्री नानालाल के है। उन्होंने लिखा है कि "वर्षों तक उनके अनुवाद का उपयोग करने के बाद ही मुझे यह अनुवाद करने की बुद्धि हुई है।"

हमारे देश के आर्थिक प्रश्नों पर भी किशोरलाल भाई ने अत्यत मौलिकता के साथ विचार किया है। सबसे अधिक विचार उन्होंने सिक्के के प्रश्न पर किया है और इस पर 'सुवर्णनी माया' नाम की एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी है। इसमें इन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि प्रजा का या प्रजातन्त्र का धन वही है, जिसे निर्माण करने की शक्ति जनता के हाथों में हो। अपने लेन-देन के व्यवहार में अथवा राज्य के कर चुकाने के लिए इस धन का उपयोग वे कर सकें, तो इनकी माँग को वे पूरी कर सकते हैं। परन्तु इसके बदले अपने इन व्यवहारों

में एक छोटा-सा भी सिक्का देना उनके लिए लाजिमी कर दिया जाय, जिसे वे अपने खेत, नदी, समुद्र अथवा कारखानों में पैदा नहीं कर सकते हैं और उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें किसी दूसरे आदमी का मुँह ताकना पड़ता हो, तो अकेला यह छोटा-सा सिक्का उन्हें पामाल कर सकता है। किसी भी देश में आर्थिक व्यवहारों का साधन वही धन होना चाहिए, जिसे जनता का बहुत बड़ा हिस्सा अपने परिश्रम से पैदा कर सकता हो। आगे चलकर वे लिखते हैं

"यदि इस निबन्ध में प्रतिपादित सिद्धान्त सही हो, तो सोने, चाँदी तथा सिक्कों के व्यापारियों (अर्थात् सर्राफों, लेन-देन का धन्धा करनेवालों आदि) को छोड़कर जनता के शेष भाग को समृद्ध बनाने में हम केवल एक हद तक ही सफल हो सकते हैं। हमारे सारे प्रयत्नों के बावजूद इन दोनों का हाथ ही ऊपर रहेगा और सारा मक्खन यही लोग खा जायेंगे।"

इस निबन्ध में प्रतिपादित सिद्धान्त उन्हें पहले-पहल टॉल्स्टॉय की 'तब करें क्या ?' नामक पुस्तक से सूझा था।

सन् १९३७ में उनकी 'स्त्री-पुरुष मर्यादा' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। यह एक स्वतंत्र पुस्तक नहीं है। पिछले दस वर्षों में इस विषय पर उन्होंने समय-समय पर जो लेख लिखे, उनका यह संग्रह है। सहजानन्द स्वामी ने सत्संगियों के लिए इस विषय में जो नियम बना दिये थे, अधिकांश में उन्हीं पर यह सारी रचना की गयी है। किशोरलाल भाई लिखते हैं :

"इन नियमों को यदि घिन (सूग) 'छू' का नाम दिया जाय, तो कहा जा सकता है कि संसारी समाज को भी कुछ मर्यादारूपी घिन की छूत सहजानन्द स्वामी ने अवश्य लगायी। यह छूत मेरे पिताजी को भी विरासत में मिली थी और उन्होंने इसका विचारपूर्वक पोषण किया था और हमें भी लगाने की कोशिश की थी। मेरी शक्ति के अनुसार मुझमें भी यह 'घिन' टिक सकी है और मैं मानता हूँ कि उसके टिके रहने में मेरा और समाज का हित ही हुआ है।

"सूग' शब्द का व्यवहार तो सहजानन्द स्वामी ने व्याजोक्ति के रूप में किया है। वास्तव में स्त्री-जाति के प्रति उनके मन में कभी अनादर नहीं था। यही नहीं, व्यक्तिगत रूप में वे स्त्रियों के साथ कभी घृणा का बर्ताव नहीं करते थे। इनके

विपरीत स्त्रियो की उन्नति के लिए उन्होने ऐसी कितनी ही प्रवृत्तियाँ शुरू की थीं जो उस जमाने में नयी कही जा सकती थीं। मस्था में भी खडी की थी। मेरे पिताजी के मन में भी स्त्री-जाति के प्रति अनादर या घिन नहीं थी। हमारे परिवार में घूंघट, ससुर से बातचीत न करना, ससुर या जेठ के सामने पति के साथ बातचीत न करना इत्यादि मर्यादाओ का पालन नहीं किया जाता था और गृहस्थी का लगभग सारा कारोबार स्त्रियो के ही हाथो में था। इस कारण परिवार में नये सुधारो का प्रवेश करने में हमें कभी कोई कठिनाई नहीं आयी। रोना-पीटना, श्राद्धादि का भोजन जातिभोज, वर का जुलूस, स्वदेशी, खादी, अस्पृश्यता निवारण मूर्ति-पूजा उत्सव आदि बातो में जो सुधार हमारे परिवार में किये गये, उनको लेकर हमारे पिताजी का या हम भाइयो को स्त्री वर्ग से शायद ही कभी कोई झगडा करना पडा हो। स्त्री-जाति के प्रति मन में अनादर या घृणा होती, तो मेरा खयाल है कि ऐसा नतीजा नहीं आ सकता था।'

इस पुस्तक का 'आमुख' (प्रस्तावना) काका साहब ने आर्य आदर्श की दृष्टि से' इस शीर्षक से लिखा है। उसमें वे कहते है

'किशोरलाल भाई की भूमिका और विवेचन पद्धति मौलिक निश्चयात्मक और ओजपूर्ण है। यदि आप कहें कि यह शिथिलता निर्दोष मानी जा सकती है, तो वे पूछ सकते है कि यह ठीक हो, तो भी इससे लाभ क्या ? क्या उसके बगैर काम नहीं चल सकता ? फिर यह शिथिलता की हिमायत किसलिए ? तब मनुष्य निरुत्तर-सा हो जाता है।

'आज के जमाने की हवा इससे बिलकुल उल्टी है। स्वतन्त्रता के नाम पर, जीवन की पूर्णता के नाम पर और इसी तरह के अनेक सिद्धान्तो के नाम पर आज का जमाना अधिक-से-अधिक छूट लेने में और उसे उचित सिद्ध करने में भी विश्वास रखता है। इसलिए बहुत-से लोगो को लगेगा कि किशोरलाल भाई की यह फिलॉसफी काल प्रवाह से उल्टी दिशा में जानेवाली है। फिर भी उनके कट्टर विरोधियो के दिल में भी उनकी भूमिका के प्रति आदर उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा। विवेकशील मनुष्य अपनी भूमिका को कुछ सौम्य बनाकर किशोरलाल भाई के साथ यथासभव मेल बैठाने का भी प्रयत्न करेगा।"

सन् १९३८ में इनकी 'नामाना तत्त्वो' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई।

यह पुस्तक उन्होंने भाई जेठालाल गांधी की मदद से लिखी है। अंग्रेजी और भारतीय हिसाब की पद्धति के तत्त्वों के बीच के भेद को समझकर उनके बीच समन्वय स्थापित करने का इसमें प्रयत्न किया गया है। धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हमारे सामाजिक प्रश्नों की चर्चा करते-करते हिसाब रखने की पद्धति पर पुस्तक लिखने की बात किशोरलाल भाई को कैसे सूझी, इस तरह का प्रश्न कोई कर सकता है। इसका खुलासा उन्होंने इस प्रकार किया है :

"अध्यात्मविषयक भ्रमों में एक यह भ्रम भी हमारे देश में घर कर बैठा है कि आध्यात्मिक जीवन बिताने की इच्छा करनेवाले लोगों को हिसाब-किताब के प्रति उदासीनता रखनी और बतानी चाहिए। आध्यात्मिक वृत्ति-वाले मनुष्य का हिसाब रखना, उनसे हिसाब मांगना या देना भी और यदि वह हिसाब न दे सके, तो उसे उलाहना देना उसका अपमान करने के समान है। इस तरह के विचार अबुद्धि के हैं। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि उसमें कहीं भी आध्यात्मिकता नहीं है। मनुष्य की वृत्ति आध्यात्मिक हो या दुनियादारी की, यदि वह एक पाई का भी लेन-देन करता है और इस लेन-देन से दूसरों का सम्बन्ध आता है, तो उसे हिसाब की सावधानी अवश्य ही रखनी चाहिए। इस विषय में जो व्यक्ति लापरवाह रहता है, वह केवल समाज के ही नहीं, अपने आध्यात्मिक विकास के प्रति भी गुनहगार है। हिसाब में सावधानी और अर्थलोभ, ये दो अलग-अलग चीजें हैं—एक नहीं।"

गुजराती का नागरीकरण करने में केवल नौ अक्षर बदलने होंगे। ये अक्षर नागरी जैसे लिखे जायँ। नागरी की शिरोरेखा हटा दी जाय, तो गुजराती लिपि आसानी से नागरी बना दी जा सकती है। इस लिपि में उन्होंने अपनी कुछ किताबें छपवाई भी हैं। इसके लिए नया टाइप बनाने मे 'प्रस्थान' वाले श्री रणछोडजी मिस्त्री ने उनकी बहुत सहायता की थी। इसके अतिरिक्त रामन लिपि के उच्चारण में कुछ सुधार करके उसे अपना लेने के पक्ष मे भी वे थे। उनकी दलील यह थी कि लेखन तथा मुद्रण की दृष्टि से वह निश्चित रूप से अधिक सुविधाजनक है। दो लिपियाँ जाननेवालों की गणना की जाय, तो दूसरी लिपि के रूप में रोमन लिपि जाननेवालों की संख्या सबसे अधिक मिलेगी। फिर पतों के लिखने में, व्यक्तियों तथा स्थानों के नाम लिखने में और तार लिखने में भी रोमन लिपि का उपयोग होता है। अंतरदेशीय व्यवहार के लिए तो यही लिपि सबसे अधिक महत्व की है।

संस्कृत परिवार की प्रान्तीय लिपियों को सुधारकर उनका नागरीकरण कर देने पर भी संभव है, मुसलमान उर्दू का आग्रह न छोड़े। इन सब बातों का विचार करने के बाद 'समूळी क्रान्ति' (जडमूल से क्रान्ति) नामक पुस्तक में उन्होंने नीचे लिखे विचार प्रकट किये है

"(१) रोमन लिपि का एक नया रूप निश्चित किया जाय, जिसमें प्रान्तों की भिन्न-भिन्न भाषाओं के विविध उच्चारण पूरी तरह से और निश्चित रूप में बोले जा सकें। इसे निश्चित रोमन लिपि कहा जा सकता है।

(२) हर आदमी के लिए प्रान्तीय लिपि और नवीन निश्चित रामन लिपि—इन दो लिपियों का ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय।

(३) मातृभाषा के तौर पर हिन्दुस्तानी को किसी भी रूप में कोई बोले, तो उसके लिए नागरी और उर्दू—ये दो लिपियाँ रहें। उसके लिए नागरी और रोमन अथवा उर्दू और रोमन सीखना आवश्यक हो।

(४) राष्ट्रभाषा के रूप में जो हिन्दुस्तानी का अध्ययन करें, वे उसे अपनी प्रान्तीय लिपि में या रोमन लिपि में सीखें और अपनी सुविधा के अनुसार व इनमें से किसी भी लिपि का उपयोग हिन्दुस्तानी लिखने में करें। प्रान्तीय सरकार दोनों लिपियों को मान्यता दे। यही बात प्रान्तीय भाषा के विषय में भी हो।

(५) जनता केन्द्रीय सरकार से पत्र-व्यवहार करते समय हिन्दुस्तानी भाषा के उपयोग के लिए निश्चित रोमन, देवनागरी या उर्दू, इनमें से किसी भी लिपि का उपयोग करे। जनता की जानकारी के लिए प्रकाशित की जानेवाली विज्ञप्तियाँ रोमन लिपि में और प्रदेश की अपनी लिपि में प्रकाशित हों।

इस व्यवस्था से देश की प्रत्येक भाषा के लिए एक सामान्य लिपि—और सो भी संसारव्यापी लिपि प्राप्त हो जायगी। साथ ही प्रान्त के आन्तरिक दैनिक व्यवहार के लिए प्रान्तीय लिपियाँ भी बनी रहेंगी और हर भाषा सीखना आसान हो जायगा।"

किशोरलाल भाई की दिलचस्पी का दूसरा विषय था—राज्य विधान। सन् १९४६ में जब हमारे देश के लिए नया संविधान बनाने की चर्चाएँ चल रही थीं, तब उन्होंने स्वतन्त्र भारत का विधान कैसा हो, इस विषय में अपने कुछ सुझाव एक पत्रिका में प्रकाशित किये थे। इसमें से कुछ सुझाव बिल्कुल मौलिक थे। परन्तु वे वर्तमान पीढ़ी के विधान-शास्त्रियों को शायद आदर्शवादी अथवा अव्यावहारिक मालूम हुए, इसलिए वे मंजूर नहीं हुए। इनकी तफसीलों में हम यहाँ नहीं जायेंगे।

'कागळानी नजरे' (कौए की आँख से) शीर्षक से उन्होंने गांधीवादियों पर कटाक्ष करनेवाले कुछ लेख सन् १९३८-३९ में लिखे थे। गुजराती में इनका अनुवाद १९४७ में प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार 'आश्रम का उल्लू' उपनाम से भी उन्होंने कुछ लेख लिखे थे। परन्तु अब तो बहुत से लोग जानते हैं कि ये लेख किशोरलाल भाई के थे। इनकी भूमिका लिखते हुए किशोरलाल भाई ने लिखा था कि "इस उल्लू के विचारों से मैं न तो सहमत हूँ और न असहमत।"

किशोरलाल भाई की जिस पुस्तक ने गुजराती पाठकों का ध्यान सबसे अधिक आकर्षित किया है, वह है—'समूळी क्रान्ति' (जड़मूल से क्रान्ति)। सन् १९४५ से सन् १९४८ के बीच की उत्तम पुस्तक के रूप में उन्हें दो पुरस्कार मिले हैं। इसमें उन्होंने धर्म और समाज, आर्थिक विषय, राजनीति तथा शिक्षा के विषय में अपने क्रान्तिकारी विचार सूत्रात्मक शैली में प्रकट किये हैं। पुस्तक के उपोद्घात में वे लिखते हैं :

"मानव-जाति और मानवता पर मेरी श्रद्धा है। वह किसी देश-विशेष या

काल-विशेष के लिए सीमित नही है। जैसा कि मैंने--अनेक बार कहा है--पूर्व की सस्कृति और पश्चिम की सस्कृति, हिन्दू-सस्कृति, मुसलिम-सस्कृति--ये भेद मुझे महत्त्व के नही मालूम होते। मानव-समाज मे केवल दो ही सस्कृतियाँ है--भद्र-सस्कृति और सत्त-सस्कृति। दोनो के प्रतिनिधि समस्त ससार मे फैले हुए है। इनमें से सत-सस्कृति के उपासक जितनी निष्ठा और निर्भयता के साथ व्यवहार करेंगे, उतने ही अश में मानव-जाति के सुख की मात्रा बढेगी।"

यह उनकी अतिम पुस्तक कही जा सकती है। इसके बाद पुस्तक के रूप में लिखने का अवकाश उन्हें नही मिल सका। उनकी सारी शक्ति 'हरिजन'-पत्रो के सम्पादन मे, उनके लिए लेख लिखने और उनसे सम्बद्ध पत्र-व्यवहार करने में लग जाती। परन्तु उनके गुरुभाई श्री रमणीकलाल भाई मोदी ने उनके लेखो का सग्रह करके अभी-अभी कुछ पुस्तकें तैयार की है। वे कम महत्त्व-पूर्ण नहीं हैं। उनका भी हम अवलोकन करेंगे।

'ससार और धर्म' नाम से उनके लेखो का एक सग्रह सन् १९४८ के अप्रैल मे प्रकाशित हुआ है। इसकी प्रस्तावना प्रज्ञाचक्षु पण्डित सुखलालजी ने 'विचार-कणिका' नाम से लिखी है। इसमें वे लिखते है

"इन लेखो को मैंने अनेक बार एकाग्रता के साथ सुना है। अन्य भारतीय तत्त्व-चिन्तको के भी कुछ लेख सुने है। जब मै तटस्थ भाव से इस तरह के चिन्तन-प्रधान लेखों की तुलना करता हूँ, तो लगता है कि इतना अधिक और इतना क्रान्तिकारी तथा स्पष्ट और मौलिक चिन्तन करनेवाला पुरुष भारत मे बिरला ही होगा।

"सपूर्ण सग्रह सुन लेने पर और उस पर भिन्न भिन्न दृष्टि से विचार करने पर इसकी अनेकविध उपयोगिता समझ मे आती है। साम्प्रदायिक और असाम्प्र-दायिक मानसवाले सभी समझदार लोग जहाँ देखिये, वहाँ यही माँग कर रहे हैं कि शिक्षण-क्रम में कुछ ऐसा साहित्य होना चाहिए, जिससे उगते हुए प्रजा-जनो को धर्म के सच्चे और अच्छे सस्कार मिल सकें। वह नवयुग के निर्माण में सहायक भी हो और साथ ही प्राचीन प्रणालियो का रहस्य भी समझा सकता हो। जहाँ तक मुझे पता है, केवल गुजराती में ही नही, वरन् गुजरात से बाहर भी इस तरह की माँग को पूरी करनेवाला साहित्य अन्य किसी भारतीय भाषा में नही है।

'शायद ही अन्य कोई पुस्तक देखने में आये, जिसमें इतनी गहराई, निर्भयता तथा सत्यनिष्ठा के साथ तत्त्व और धर्म के प्रश्नों के विषय में ऐसा परीक्षण और सशोधन हुआ हो। जिसमें एक ओर किसी भी पथ, किसी भी परम्परा अथवा किसी भी शास्त्र के विषय में विशेष अविचारी आग्रह न हो और दूसरी ओर जिसके अन्दर नये और पुराने विचार-प्रवाहों के अन्दर से जीवन स्पर्शी सत्य ढूँढकर रख दिया गया हो। मेरी जान में तो ऐसी यह एक ही पुस्तक है। इसलिए हर क्षेत्र के योग्य अधिकारी पुरुष को मेरी सलाह है कि वह इस पुस्तक को अवश्य पढ़े। इसी प्रकार शिक्षण-कार्य में जिन्हें रुचि है, उन्हें मेरा सुझाव है कि वे भले ही किसी भी पथ या सम्प्रदाय को माननेवाले हो, फिर भी इस पुस्तक में बतायी विचार-सरणी को वे समझे और इसके बाद अपनी मान्यताओं का परीक्षण करके देखें।"

सन १९४९ के दिसम्बर मास में उनके लेखों का एक और सग्रह प्रकाशित हुआ, जिसका नाम है 'केलवणी विवेक' (शिक्षा में विवेक)। सन् १९५० के जून मे इस विषय के लेखो का एक दूसरा सग्रह 'केलवणी विकास' (शिक्षा का विकास) नाम से प्रकाशित हुआ। ये दोनों सग्रह प्रकाशित करने का श्रेय श्री रमणीकलाल भाई मोदी को है। पहले सग्रह में शिक्षाविषयक उनके फुटकर लेख हैं। इसे 'केलवणीना पाया' नामक पुस्तक का अनुग्रन्थ कहा जा सकता है। 'केलवणी विकास' में बुनियादी शिक्षा अथवा नयी तालीम सम्बन्धी लेख हैं। किशोरलाल भाई की सूचना से इस सग्रह के पूरक के रूप में मैंने एक विस्तृत लेख लिखकर उसमें नयी तालीम की सागोपाग चर्चा की है। यह लेख उन्होंने पूरक के रूप में नहीं, बल्कि भूमिका के रूप में इस पुस्तक में दे दिया है।

अहिंसाविषयक लेखों का भी एक सग्रह तैयार करके श्री रमणीकलाल भाई ने उसे 'अहिंसा-विवेचन' के नाम से सन् १९५२ के जुलाई मास में प्रकाशित किया है। इसमें उन्होंने दो छोटी पुस्तिकाओं का भी समावेश कर लिया है, जो किशोरलाल भाई ने सन् १९४१ में 'वीरनाम अहिंसा' नाम से तथा सन् १९४२ में 'निर्भयता' के नाम से लिखी थीं। 'वीरनाम अहिंसा' के लिए लिखे अपने 'दो शब्द' में गांधीजी ने लिखा है

'किशोरलाल मशरूवाला अहिंसा के गहरे शोधक हैं। वे अहिंसा धर्म के

ही पले हैं। परन्तु वे किसीकी बात को ज्यों की त्यों मान लेनेवाले नही है। जो बात उनकी कसौटी पर सही साबित होती है, उसीको वे मानते है। इस प्रकार अहिंसा के सिद्धान्त का स्वीकार भी उन्होंने खूब मन्थन करने के बाद ही किया है। उसे उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन और व्यवहार मे तथा राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और कौटुम्बिक क्षेत्रों में—और अनेक परिस्थितियों में परीक्षण करके देख लिया है। इसलिए उनके निबन्धों का अपना एक स्वतन्त्र महत्व है। जिनकी श्रद्धा अहिंसा में है, उनकी श्रद्धा इन निबन्धो को पढकर दृढ होगी और जिन्हें इसके विषय में शकाएँ हैं, उनकी शकाएँ इनके पढने से दूर हो जायेंगी।"

फिर भी इस सग्रह की प्रस्तावना में किशोरलाल भाई लिखते हैं

"अहिंसा का विवेचन करने का मुझे कोई बडा अधिकार है, ऐसा भ्रम मुझे नही है। पाठक भी ऐसा भ्रम न रखें। मेरे इन विचारो को पाठक अपने विवेक की कसौटी पर परखे और इसमें उन्हें जो सही जँचे केवल उन्हींको स्वीकार करें।

"यदि किसीका खयाल हो कि मैं ये शब्द अत्यधिक नम्रता से कह रहा हूँ, उनसे मेरी प्रार्थना है कि कुछ दिन पहले (अर्थात् सन् १९४७ के अन्त में अथवा १९४८ के जनवरी में) अहिंसा के परम अधिकारी पुरुष गाधीजी ने किसी मित्र के सामने जो राय प्रकट की थी, उसे याद कर लें। उन्होंने कहा था कि 'किशोरलाल भी अहिंसा को ठीक से नही समझ पाये है।' अगर मुझे ऐसा न लगता कि मेरे इन लेखो से कुछ लोगो को अपने विचारो के सुलझाने में और मार्ग देखने में कुछ मदद मिल सकेगी, तो इस सग्रह को प्रकाशित करने में मुझे बराबर सकोच होता।"

यह सग्रह सन् १९४७ तक के लेखो का है। उसके बाद तो 'हरिजन'-पत्रों के सम्पादक की हैसियत से इस विषय में उन्होंने और भी बहुत लिखा है।

'हरिजन' में उन्होंने 'गाधी और साम्यवाद' शीर्षक से एक लेखमाला लिखी थी। इस लेखमाला पर जो टीकाएँ और चर्चाएँ खास तौर पर कितने ही साम्यवादी मित्रो के द्वारा हुई, उन्हें ध्यान में रखते हुए कुछ सुधार करके और कही कुछ विस्तार और तुलना करके यह लेखमाला पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर दी गयी है। विनोबा ने इसकी भूमिका लिखकर इसके महत्त्व और भी बढा दिया है। प्रस्तावना में किशोरलाल भाई लिखते है :

"यह पुस्तक साम्यवाद का विद्वत्तापूर्ण निरूपण नही है। साथ ही यह गाधी विचार की कोई अधिकृत मीमासा भी नही है। इसलिए इसमें किसी एक विचारधारा का सागोपाग सरल भाषा देखने की अपेक्षा न रखें। दोनो महापुरुषो और उनके अनुयायियो के विचारो की आधारभूत दृष्टि क्या है, यदि इतनी-सी जानकारी भी इसमें से पाठको को मिल जाय, तो बहुत समझना चाहिए।"

बहुत-से लोग मानते है कि साम्यवाद में से हिंसा को निकाल दिया जाय, तो गाधीवाद और साम्यवाद के बीच कोई फर्क नही रह जाता। अथवा यो कहा जा सकता है कि गाधीजी अहिंसक साम्यवादी थे या गाधीजी और साम्यवादियो के बीच साध्य के विषय में कोई भेद नही, केवल साधनो में भेद है। दोनो सिद्धान्तो में अगर गहरे उतरकर देखा जाय, तो यद्यपि यह मान्यता एकदम गलत नही, फिर भी वह अवश्य ही बहुत अधूरी मालूम होगी। यह बात भी इस पुस्तक में बतायी गयी है। मार्क्स और गाधीजी की जीवन-दृष्टि में बडा महत्वपूर्ण भेद है। इसकी ओर किशोरलाल भाई ने पाठको का ध्यान आकर्षित किया है।

वर्ग-विग्रह से शान्ति नहीं लायी जा सकती, इस विषय में उन्होंने जो लिखा है, उसमें से हम कुछ अश यहाँ दे रहे है

"यदि वर्ग-विग्रह की सूक्ष्म जाँच की जाय, तो ज्ञात होगा कि जिन नैतिक और मानसिक भावो पर गाधीजी जोर देते है, जब तक वे सिद्ध नही हो जाते, तब तक उसका (वर्ग-विग्रह का) अन्त लाने के लिए मार्क्स का सुझाया हुआ हल असफल ही रहेगा। इतना ही नही, अन्त में वर्ग-विहीन समाज की स्थापना में भी वह असफल ही सिद्ध होगा। पूंजीपतियो का कत्ल करके उनकी सम्पत्ति पर अधिकार करना अथवा राजा का वध करके खून करनेवाले को अध्यक्ष का नाम देकर उसके स्थान पर बैठाना, इस फेरफार को 'क्रान्ति' कहना अन्त में अच्छे परिणाम की दृष्टि से तो केवल तत्र चलानेवाले व्यक्तियो की अदला-बदली ही कही जायगी। इस प्रकार केवल मनुष्यो के बदलने में क्या रखा है? इसमें तो एक तरफ इन लोगो का आपस में और दूसरी तरफ इनके तथा श्रम करनेवाली जनता के बीच लगभग क्रान्ति के पहले जैसा ही सम्बन्ध बना रहता है। इसमें लोगो के अन्दर पहले जैसे ही सम्बन्ध कायम

हो जाते हैं और उनके हितो में उसी प्रकार सघर्ष पैदा हो जाते हैं। जिस प्रकार जार का शासन अत्याचारी और मनमाना वन गया था और उसका हिंसा से नाश किया गया, उसी प्रकार मजदूरो का अधिनायकत्वशील शासन भी लोगो के लिए जब असह्य वन जायगा, तब उसका भी इसी प्रकार नाश हो सकता है। कोई भी व्यक्ति निश्चयपूर्वक यह नही कह सकता कि कारखाना मे काम करनेवाले मजदूरो की एकाधिपत्यवाली सत्ता अत्याचारी, निरकुश और चालबाज जार और उसके सरदारो के समान अथवा पूँजीपतियो के समान कोई नया वर्ग पैदा नही कर देगी।"

पुस्तक के अन्त में उन्होंने आज के सामाजिक अथवा राजनैतिक सत्ताधारियो को एक अत्यन्त गभीर चेतावनी देते हुए कहा है

"गाधीवाद और साम्यवाद के बीच बहुत बडा अन्तर है। परन्तु गाधीवाद और अनियन्त्रित रूप से काम करनेवाले पूँजीवाद, सामन्तशाही अथवा सप्रदाय या जातिवादी आज की समाज-व्यवस्था के बीच इससे भी अधिक अन्तर है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में जो लोग धन अथवा उच्च वर्ण के कारण अधिक अधिकार या सहूलियतोवाले पदो का उपभोग कर रहे है, यदि वे इन विशेष अधिकारो का त्याग नही करेंगे और अपने अधीन सपत्ति के सच्चे सरक्षक नही बनेंगे और अपने-आपको समाज के अन्य मनुष्यो की बराबरी का नही बना लेंगे, देश की गरीबी का खयाल करके अपने मौज-शौक, ऐशो-आराम, सुख-सुविधाएँ कम नही करेंगे और सबके उत्कर्ष के लिए काम करने के लिए तैयार नही हो जायेंगे, तो गाधीजी की कोटि के ही अहिंसामार्गी नेता के अभाव में अपने तमाम हिंसक आयुधो को लेकर साम्यवाद यहाँ भी अवश्य ही आ जायगा। यदि ऐसा हुआ, तो वे लोग सच्चे सिद्ध होंगे, जो कहा करते है कि गाधीवाद—अर्थात् अहिंसक समाज-रचना—की स्थापना के पहलेवाला कदम साम्यवाद है। इस हिंसक उत्कापात को रोकने का केवल एक ही उपाय है—अपनी आज की रहन-सहन में कदम-कदम पर हम अपनी इच्छा से फेर-फार करें, ऊँच-नीच के भेदभाव, जातियो की वाडा-बन्दी, छुआछूत आदि सबको विदा कर दें। बेकारी और भुखमरी नष्ट हो जानी चाहिए। प्रान्तवाद और सम्प्रदायवाद की सकुचित मनोदशा दूर हो जानी चाहिए। राष्ट्रीयता

अन्दर अपने स्वार्थ के लिए लड़ने की वृत्ति छोड़ देनी चाहिए और साम्राज्य-लालसा लोप हो जानी चाहिए। अमीरों और गरीबों के बीच का यह जमीन-आसमान जैसा अन्तर हट जाना चाहिए। सरकार के न्याय और प्रबन्ध-विभाग में रिश्वतखोरी, बेईमानी और पक्षपात नहीं रहने चाहिए और आज के दिखावटी जनतन्त्र के स्थान पर सच्चा जनतन्त्र स्थापित हो जाना चाहिए। जनता और सरकारी नौकरों में गैर जिम्मेदारी के भाव हटकर उनके स्थान पर शुद्ध कर्तव्यनिष्ठा की भावना जाग जानी चाहिए। इतना सब हो जाय, तो इतने मात्र से ही गांधीवाद की स्थापना नहीं हो जायगी, हाँ, ऐसा करने से इस दिशा में कदम जरूर मुड़ जायेंगे। ये कदम उठाने के लिए यदि हम तत्पर नहीं होंगे तो साम्यवाद की ज्वाला नहीं रोकी जा सकेगी। यदि कोई ईश्वर का भक्त परमेश्वर से प्रार्थना करेगा कि आज की समाज-व्यवस्था कायम रहे, तो यह अब संभव नहीं है। परिणाम यह होगा कि साम्यवाद का प्रवाह अपने पूरे जोर के साथ आयेगा और उसके मार्ग में जो भी बाधा खड़ी होगी, उसे वह उखाड़ फेंकेगा। इस प्रलय में कितनी ही सीधी-सादी और निर्दोष वस्तुएँ भी बह जायँगी।

"सम्पत्तिशाली और समाज में प्रतिष्ठा का उपभोग करनेवाले व्यक्ति अभी समय रहते सावधान हो जायँ। वे अपने जीवन में से शौकीनी और ऐश-आराम को कम कर दें। अपना खून-पसीना एक करके श्रम करनेवाले मजदूरों को अपनी सुख-सुविधाओं में हिस्सेदार बनायें और समाज के सभी वर्गों में समानता की स्थापना करें। सबको सन्मति दे भगवान्।"

योजना-आयोग के सदस्य—श्री रा० कृ० पाटिल के साथ पंचवर्षीय योजना को लेकर उनका कुछ पत्र-व्यवहार हुआ। इसके अन्त में उन्होंने श्री पाटिल को एक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण पत्र लिखा था। यह पत्र-व्यवहार तथा इससे सम्बन्ध रखनेवाले उनके कुछ लेख उनकी मृत्यु के बाद 'भावी हिन्दनु दर्शन' (भावी भारत की एक तसवीर) नाम से एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कर दिये गये हैं।

गुजरात के विद्वानों तथा पाठकों में एक मौलिक तथा प्रखर तत्त्वचिन्तक के रूप में किशोरलाल भाई की प्रसिद्धि काफी थी। जहाँ तक मुझे पता है, श्री नरसिंह राव तथा श्री ब० क० ठाकुर जैसे सख्त विवेचक भी उनके निष्पक्ष, निर्भय और सत्यनिष्ठ विचारों की प्रशंसा करते थे।

◆◆◆

१. अध्यात्म और धर्म

किशोरलाल भाई स्वामीनारायण-सप्रदाय में और उसकी परम्पराओ में छोटे से बडे हुए। वे सहजानद स्वामी को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मानते थे और अनन्याश्रय होकर उनकी भक्ति को वे अपने जीवन का ध्येय मानते थे। सहजानद स्वामी के प्रति उनकी भक्ति जरा भी कम नही हुई थी, फिर भी सन् १९२१ में जब वे विद्यापीठ से अलग हुए, तब उन्हें लगने लगा कि आत्मा-परमात्मा के विषय मे यथार्थ ज्ञान प्राप्त किये बिना जीवन व्यर्थ है। उन्हें यह भी लगा कि यह ज्ञान पुस्तको से नही मिल सकता। इसके लिए एकान्त-सेवन और सद्गुरु द्वारा मार्ग-दर्शन जरूरी है। इसलिए सप्रदाय के अच्छे-से-अच्छे माने गये भक्तो और साधुओ से परिचय करने का वे यत्न करने लगे। परन्तु सप्रदाय के भीतर उन्हें ऐसा एक भी व्यक्ति नही मिल सका, जो इस विषय में उनका मार्ग-दर्शन कर सकता। इसके बाद श्री नाथजी से उनका परिचय हुआ और उनके मार्ग दर्शन में उन्होने एकान्त-सेवन और साधनाएँ कीं। इस साधना के फलस्वरूप उन्हें जीवन की एक नयी दिशा प्राप्त हुई, जिससे उन्हें यह प्रतीति हो गयी कि उनकी बहुत-सी पुरानी मान्यताएँ भ्रमपूर्ण थी और उनका समग्र जीवन-दर्शन बदल गया। किसी भी मनुष्य का जीवन-दर्शन समझने के लिए पहले यह जान लेना जरूरी है कि उसके जीवन का ध्येय क्या है और किन सिद्धान्तो का अनुसरण करके वह अपना जीवन बिताना चाहता है।

जीवन का ध्येय

किशोरलाल भाई ने 'जीवन-शोधन' नामक ग्रथ में अपने जीवन का ध्येय इस प्रकार बताया है

"व्यक्ति तथा समाज दोनों के जीवन की रचना ऐसे तत्त्वों पर होनी चाहिए कि जिससे हमारे जीवन का धारण-पोषण, हमारी सत्त्व-संशुद्धि तथा हमारा जीवन और मरण दोनों सरल और संतोषजनक हो जायें।"

"धारण-पोषण का अर्थ केवल यह नहीं कि शरीर में प्राण टिके रहें। धारण का अर्थ है, सुरक्षित और आत्मरक्षित जीवन। पोषण का अर्थ है, जीवन के कार्य करने की शक्ति से सम्पन्न और दीर्घायु जीवन और सत्त्व-संशुद्धि का अर्थ है, मानवतायुक्त जीवन। इस जीवन में हमारी भावनाओं और बुद्धि का विकास ऐसा होना चाहिए कि हमारा जीवन अपने तक ही सीमित अर्थात् आत्म-पर्याप्त (Self-centred) न हो। केवल अपने सुख को ही हम न देखें। वह ऐसा हो कि जिसमें हम अपने परिवार, ग्राम, देश, मानव-समाज, अपने संपर्क में आनेवाले प्राणी और जिन-जिनसे भी थोड़ा या अधिक सम्पर्क हो, उन सबके लिए हमारा जीवन न्याय के मार्ग से हमारे सम्बन्धों के औचित्य और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए पूरी तरह उपयोगी हो सके। वह शान्तिपूर्ण, संतोषपूर्ण और प्रेमपूर्ण हो, इसमें किसी व्यक्ति या वर्ग के साथ अन्याय न हो। विपत्ति में पड़े हुए और अपंग मनुष्यों की हम अपनी शक्ति-भर मदद कर सकें। इसी प्रकार हमें ऐसी बुद्धि प्राप्त हो, जो जीवन के तत्त्वों को समझ सके, वह सारग्राही हो, किसी भी विषय के मूल, महत्त्व और मर्यादा पर वह भली प्रकार विचार कर सके, हमारे अपने निर्मित पूर्वग्रहों से जो अपने-आपको मुक्त रख सके। वह न तो मृत्यु की इच्छा करनेवाली हो और न उससे डरनेवाली।

'सारा समाज किसी समय इस अवस्था को प्राप्त कर सकेगा या नहीं, यह महत्त्व की बात नहीं है। परन्तु हमारा जीवन-मार्ग हमें और यदि समाज इस दृष्टि को स्वीकार करे तो उसे भी, इस स्थिति की ओर ले जानेवाला हो।

"मैं इसीको जीवन का ध्येय समझता हूं। यही मेरी समझ से मनुष्य का अभ्युदय भी है। जो भी विद्या, कला, विज्ञान और जीवन की अभिरुचियां तथा भावनाएं मनुष्य को इस ओर ले जानेवाली हों, वे आवश्यक हैं। इस ध्येय के साथ आवश्यक सम्बन्ध न रहने पर भी जो शक्तियां इस ध्येय में विरोध नहीं रखतीं, अथवा जिनका विकास इस प्रकार किया जा सकता हो कि वह

इस ध्येय के लिए लाभदायक हो सके, तो उस हद तक उनके विकास को मैं उचित मानता हूँ। अन्य सारी प्रवृत्तियो को अनावश्यक और अन्त में हानिकारक समझना चाहिए।"

× × ×

जिस समाज में न्याय-वृत्ति प्रेम, उदारता, दया, करुणा, परस्पर आदर, क्षमा, तेजस्विता, नम्रता, निर्भयता परोपकारिता, व्यवस्थितता, लज्जा, धैर्य, भीतरी और बाहरी पवित्रता, स्वच्छता आदि गुणो का विवेकयुक्त मेल नही होता, वह जी ही नही सकता फिर अभ्युदय की तो बात ही दूर है। यदि समाज ही नही जी सकता तो व्यक्ति का तो कहना ही क्या! वह निर्विघ्न, निर्भय और संतोषजनक जीवन नही बिता सकता। वह उचित स्वतत्रता का उपभोग नही कर सकता। इन गुणो के उत्कर्ष के बगैर स्वतत्र बुद्धि का—अर्थात् आत्मविश्वास, आत्मश्रद्धा उत्पन्न करनेवाली बुद्धि का—भी उदय वहाँ मैं अशक्य मानता हूँ।

× × ×

इस प्रकार सयम, मानव-सपत्तियो का उत्कर्ष और उनमें मेल तथा इनके परिणामस्वरूप विवेक और तत्त्वज्ञान का उदय और उससे जीवन अथवा मरण की लालसा अथवा भय का नाश इस तरह की सत्त्व-संशुद्धि को जीवन का ध्येय जीवन का सिद्धान्त कहा जा सकता है।

मोक्ष और पुनर्जन्म

पाठक देख सकते है कि इसम कुछ भी गूढ अथवा नकारात्मक नही है। किशोरलाल भाई को ऐसा लगता था कि हम अनेक अशक्य और असभव कल्पनाओ को लेकर उनके कारण जीवन और जीवन के आदर्शों को उलझन-भरे बना देते है। मोक्ष को जीवन का आदर्श बता देने से अनेक बार ऐसी उलझनें पैदा होती देखी गयी है। मोक्ष का अर्थ जन्म-मरण के चक्कर से छुट्टी, फिर से—पुन जन्म न लेना पडे—ऐसा किया जाता है। परन्तु कोई निश्चित रूप से नही कह सकता कि मरने के बाद हम फिर जन्म लेंगे ही। वास्तव में तो पुनर्जन्म एक वाद (Hypothesis) है। मनुष्य के सामने यह प्रश्न कभी न कभी खडा होता ही रहता है कि मरने के बाद उसका क्या होगा?

इसका उत्तर पाने का यत्न वह हमेशा करता ही रहता है। परन्तु मरणोत्तर स्थिति के बारे में जो भी स्पष्टीकरण दिये गये हैं, वे केवल संभाव्य तर्क मात्र हैं। पुनर्जन्म है, ऐसा कहनेवाले के पास इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार पुनर्जन्म नहीं है, ऐसा कहनेवाले के पास भी कोई प्रमाण नहीं है। किशोरलाल भाई कहते हैं

'जो हो, पुनर्जन्म का वाद आज तक तो पुरुषार्थ करने के लिए श्रेयार्थी के पास एक जबर्दस्त प्रेरक बल रहा है। जो व्यक्ति पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता, उस पर भी यह संस्कार अज्ञात रूप में कुछ काम करता ही रहता है। इस विषय में यदि किसीको प्रतीति नहीं दिलायी जा सकती, तो इसके विरुद्ध प्रतीति दिलानेवाले प्रमाण भी तो नहीं हैं। फिर इसका स्वीकार उत्क्रान्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। इन सब बातों पर विचार करने के बाद, पुनर्जन्म के विरुद्ध मुख्यतः केवल एक ही बात रह जाती है। और वह यही कि इसके विषय में मन में शंका पैदा हो गयी है। इस कारण इसे एक संभाव्य वस्तु मानकर यदि मनुष्य इसे अपने लिए एक प्रेरक बल बना लेता है, तो वह कोई दोष करता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। विज्ञान में भी इस प्रकार के वाद-ग्रस्त विषयों पर मनुष्य की श्रद्धा ही अनेक प्रकार के प्रयोगों और उपचारों की प्रेरणा देनेवाली सिद्ध हुई है।"

इसके बाद किशोरलाल भाई कहते हैं

"परन्तु जिस व्यक्ति पर पुनर्जन्म के संस्कार नहीं है—अथवा शिथिल हो गये हैं, उसके लिए इन सबकी अपेक्षा श्रेय प्राप्ति के प्रयत्नों की प्रेरणा देनेवाली चीज है—श्रेयार्थी को मिलनेवाली—शान्ति, समाधान और कृतार्थता। सदाचार और सद्धर्म का पालन उसके भीतर इन गुणों के संस्कारों का निर्माण करते हैं। वे उसे ऐसी सात्त्विक प्रसन्नता और प्रफुल्लता न भी हो तो—शान्ति और समाधान प्रदान करते हैं कि जिसकी तुलना में उसे संसार के सारे सुख गौण मालूम होते हैं। दुःखों के लिए वे उसे मजबूत बना देते हैं। मनुष्य में जिस अंश में इन संस्कारों का उचित विकास होता है, उतने ही अंश में उसके ज्ञान और कर्म में व्यवस्थितता और कुशलता उत्पन्न हो जाती है और वह उस मात्रा में सत्यधर्मी बन जाता है।

"जन्म-मरण से छूटने की अभिलाषा श्रेय के लिए प्रेरक बल हो, तो भी वह गौण बल है। उसका अस्तित्व अज्ञात अनुमान पर ही है। यह अनुमान सच्चा हो या झूठा, पुनर्जन्म का तर्क झूठा हो या पुनर्जन्म हो, तो भी उससे मोक्ष-प्राप्ति की आशा झूठी हो—फिर भी श्रेयार्थी को प्रयत्नशील बनाने के लिए दूसरे भी कारण मौजूद हैं। जो जीवन प्राप्त हो गया है, उसीमे चित्त और चैतन्य के तादात्म्य को सिद्ध करना, चित्त के समाधान और सशुद्धि की मात्रा के अनुसार प्रसन्नता और शान्ति की प्राप्ति और ससार का हित—ये सब वे कारण हैं। इन कारणो में तर्कों द्वारा सभाव्य प्रतीत होनेवाला वह आलम्बन अर्थात् पुनर्जन्म न भी जोड़ें, तो भी काम चल सकता है।

"प्राप्त जीवन में ही समाधान प्राप्त करने की अभिलाषा के अतिरिक्त आनेवाली पीढ़िया के लिए अमूल्य विरासत छोड़ने की आशा, जन्म-मरण से छूटने की अभिलाषा, इसी प्रकार मानव-जन्म में उत्क्रान्ति के शिखर तक पहुँचने की अभिलाषा, इन तमाम विचारा की जड में जो श्रद्धा अडिग रूप में विद्यमान है और जो श्रद्धा सत्यमूलक तथा अनुभव-सिद्ध है, वह तो यह है कि—**न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।** श्रेयार्थी को कभी पछताना तो पड़ता ही नही, इस सिद्धान्त मे निष्ठा हो और यदि यह सिद्धान्त सत्पुरुषार्थ के लिए आवश्यक बल प्रदान कर सकता हो, तो फिर किस वाद से इस सिद्धान्त में श्रद्धा उत्पन्न हुई, यह बात बहुत महत्व की नही रह जाती।

"इसलिए श्रेयार्थी के लिए यह जरूरी नही कि वह किसी एक मत का ही आग्रह रखकर बैठ जाय। शान्ति और आश्वासन देनेवाला मार्ग तो यह है कि इन दोनों वादो से ऊपर उठकर मनुष्य ऐसे सिद्धान्तो के आधार पर श्रेय-प्राप्ति के लिए जीवन का मार्ग निश्चित करे, जो अधिक ऊँचे हों और जिनका अनुभव मनुष्य स्वय कर सके। बुद्धि की भूख को शान्त करने के लिए भले ही वह इनमें से कोई एक या दूसरा या कोई स्वतन्त्र तीसरा तर्क स्वीकार कर ले, परन्तु वह भूलकर भी यह न मान ले कि यह तीसरा तर्क निश्चित रूप से सही है।"

'समूळी क्रान्ति' (जडमूल से क्रान्ति) में उन्होंने यह बात दूसरे ही प्रकार से पेश की है। इसमें वे लिखते हैं

"सब धर्मों में एक अन्य सिद्धान्त भी समान रूप से विद्यमान है और दुर्भाग्य से यह सिद्धान्त आज के प्रश्नों का हल ढूंढने में कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। समाज-धर्म के पालन में यह सिद्धान्त बाधाएँ डालता है और मनुष्य को, विशेषत श्रेयार्थी को, सिखाता है कि वह समाज-धर्म की अवगणना करे। यह सिद्धान्त है—व्यक्तित्व की अमरता और मोक्ष। मनुष्य अपने जीवन-काल में जिस व्यक्तित्व का अनुभव करता है, वह अनादि और अमर है, मरने के बाद भी पुनर्जन्म के द्वारा, अथवा स्वर्ग-नरक में निवास के द्वारा भी वह कायम रहता है और मनुष्य का असली काम इस संसार को सुधारना नही, बल्कि परलोक की (अर्थात् भविष्य में अच्छा जन्म अथवा नरक से बचकर अखण्ड स्वर्ग या निर्वाण की) प्राप्ति है। इन संस्कार में से ऐसे सिद्धान्त बने है कि ऐहिक जीवन में जितना भी दु ख भोगा जायगा, पारलौकिक जीवन में उतना ही सुख मिलेगा। घर की छत में से पानी टपकता हो, तो आदमी छाता खोलकर उसके नीचे बैठ जाय। घर के सभी लोग अपने लिए इसी प्रकार की सुविधाएँ कर लें, इस प्रकार के तीव्र संस्कार श्रेयार्थी पर पड़े हुए हैं।

'लोक और परलोक, इस संसार के और मोक्ष के धर्मों के बीच रात और दिन जैसा विरोध बताया गया है। मोक्षधर्म का अवलम्बन करने में मनुष्य अपने को असमर्थ पाता है, इस कारण वह सांसारिक प्रवृत्तियाँ करता है। इससे चित्त-शुद्धि होती है, इतना लाभ अवश्य है। परन्तु अन्तिम ध्येय तो निवृत्ति, व्यक्तिगत साधना, अपने लिए निजी स्वर्ग या मोक्षरूपी परलोक ही होता है। इस कारण संसार को सुखी करने का प्रयास करनेवाले, समाज की विविध प्रवृत्तियों में पड़नेवाले, सामाजिक धर्मों का अनुसरण करनेवाले लोग अन्तिम दृष्टि से माया में फँसे हुए ही समझे जाते है।

"इस कारण से तीव्र श्रद्धावाले मनुष्य के हृदय में संसार के प्रति स्वभावत अनास्था उत्पन्न हो जाती है और वह इससे दूर भागना चाहता है। क्योंकि यदि वह संसार के कामों में रस लेने लगे, तो वह तीव्र साधक नही बन सकता। साधु पुरुष संसार के कामों में रस लेने लगें, तो यह एक प्रकार का पतन माना जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि संसार की प्रवृत्तियाँ स्वार्थी और धूर्त लोगों के हाथों में ही रह जाती है।

'वस्तुत आत्मतत्त्व (चैतन्य-शक्ति अथवा ब्रह्म) और भिन्न-भिन्न देहो में दिखनेवाले प्रत्यगात्मभाव के बीच का भेद समझ लेना बहुत जरूरी है। चैतन्य-शक्ति अथवा परमेश्वर अनादि-अमर है। इसलिए उसमे से स्फुरित और उस पर आधार रखनेवाला व्यक्तित्व (प्रत्यगात्मभाव) भी अनादि-अमर है ही, ऐसा नही कहा जा सकता। वह ऐसा हो भी सकता है और नही भी हो सकता। वह अनादि-अमर है, ऐसा मान लेने से समाज-धर्म के विषय में अनास्था और अपने व्यक्तित्व के विकास में और मोक्ष मे श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। समाज-धर्म, सेवा आदि सबको मनुष्य अपने मोक्ष की सिद्धि के अनुपात में ही महत्त्व देने लगता है और यदि यह मोक्ष केवल कल्पना ही हो, तो इसके भरोसे समाज-धर्म का किया गया त्याग समाज का द्रोह साबित हो जाता है।

"व्यक्तित्व यदि अनादि और अमर हो, तो भी समाज-धर्म को छोडकर श्रेय साधन की उपासना दोष-रूप है। समाज के कल्याण के लिए प्रयत्नशील होना और उसी हेतु से अपनी शक्तियो का उपयोग और विकास करना ही साधना होनी चाहिए। इस विचार के अभाव में समाज ऐसे ही लोगो के हाथो में रहा और रह जाता है, जो इसे पीडा पहुँचाते रहे है। जितने अश में परमेश्वर में श्रद्धा रखकर इस धारणा का त्याग किया गया है, उसी अश में ससार को सत्पुरुषो की सहायता मिली है और मिल रही है। वास्तव में मनुष्य को यह चिन्ता करनी ही नही चाहिए कि मृत्यु के बाद उसका स्वय का क्या होगा। वह तो केवल समाज के श्रेय की ही चिन्ता करे।"

किशोरलाल भाई ने 'जीवन-शोधन' पुस्तक पहले लिखी थी। इसमे पुनर्जन्म के सम्बन्ध में उनकी वृत्ति कुछ तटस्थ-सी थी। परन्तु पुनर्जन्म को स्वीकार करते है, तो जीवात्मा अथवा व्यक्तित्व के अनादित्व-अमरत्व की बात माननी पडती है। यह वे नही मानते थे। इसलिए बाद में लिखी 'समूळी क्रान्ति' नामक पुस्तक में उन्होने यह बात दूसरी दृष्टि से लिखी है। तब क्या मर जाने पर मनुष्य के व्यक्तित्व का भी अन्त हो जाता है? यह मान लेना भी युक्तिसगत नही मालूम होता। क्योकि मनुष्य के मन में यह वासना तो होनी ही है कि उसकी मृत्यु के बाद क्या होना चाहिए, क्या करना चाहिए। मेरे खयाल से इस बात का खुलासा किशोरलाल भाई शायद इस प्रकार करते कि मनुष्य अपने

जीवन में जिन गुणो का उत्कर्ष कर लेता है अथवा जो दुर्गुण उसके भीतर रह जाते है या जो वासनाएँ अधूरी रह जाती है, वे सब जन-समाज को विरासत के रूप में मिलती है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपने पीछे अच्छी विरासत छोड़ने के लिए वह अच्छे गुणो का उत्कर्ष करने का ध्येय ही जीवन में अपने सामने रखे।

कर्म का सिद्धान्त

पुनर्जन्मवाद में से पूर्वकर्मवाद तर्क द्वारा ही फलित होता है। वस्तुत पूर्वकर्म का अर्थ केवल इतना ही है कि कोई भी वर्तमान स्थिति मनस्वी ईश्वर की मनमानी का परिणाम नहीं है, बल्कि वह अधिकाश में व्यक्ति या समाज द्वारा किये गये किसी पूर्व-कर्म का परिणाम है। इस विषय में किशोरलाल भाई कहते है

"सामान्य मनुष्य पूर्वकर्म का अर्थ बहुत सकुचित करने लगे है। पूर्वकर्म का अर्थ इस क्षण के पहले किया गया कर्म नही, बल्कि एकदम पिछले जन्म का कर्म माना जाता है। हर किसी बात को पूर्वकर्म पर नही, परन्तु पूर्वजन्म पर डालने की आदत इतनी साधारण हो गयी है कि 'पूर्वकर्म' का प्रयोग सब प्रकार के अज्ञान, आलस और अधेपन का छिपाने के लिए सुविधा के साथ लोग करने लगे है। कोई बहन बालविधवा है, किसी बहन की बार-बार प्रसूति होती है, कोई पुरुष या स्त्री रोगी है, देश में पराधीनता है, दरिद्रता है, अस्पृश्यता है, बाल-मृत्युएँ होती है, बाढ आयी, अकाल पड गया, इन सबको हमारे पण्डित या अर्धपण्डित कह देते है 'जैसे जिसके कर्म' और बस, इतने में अपने कर्तव्य की इति श्री समझ लेते है।

"परन्तु जीवन के सभी अनुभवो को पूर्वजन्म के साथ झट-से जोड देना जरूरी नही है। इन अनुभवो के बहुत से कारण यदि हम ढूँढने लगें, तो इसी जन्म के कर्मो या अवस्था में मिल सकते है। अर्थात् इस जन्म के कर्म और अवस्था की जाँच किये बिना पूर्वजन्म के अनुमान पर आ जाना भूल है।

"फिर सामान्य व्यवहार में हम कहते और मानते भी है कि 'ताली दोनो हाथ से ही बजती है'। यह कहावत सुख-दुःख के अनुभवो पर भी लागू होती है।

आज हम जो सुख या दु ख अनुभव कर रहे हैं, वह केवल हमारे पूर्वकर्मो का ही फल नही होता। वह हमारे सिवा दूसरा के कर्मो का भी फल हो सकता है। यही नही, जिन पर हमारा कोई वस नही, ऐसी प्राकृतिक शक्तियाँ भी उसका कारण हो सकती है। उदाहरणार्थ बाढ, बिजली, भूकप, अनावृष्टि जैसे आधिदैविक कारण। कभी ऐस फल लाने मे स्वकर्म अधिक बलवान् होता है, तो कभी परकर्म। कभी दोना का बल समान काम करता है और कभी आधिदविक कारण बलवान् होता है। *

"एक लडकी बाल विधवा है। इसमे उसका पूर्वकर्म तो इतना भले ही हो कि वह बिना समझे-बूझ विवाह-मडप में जाकर बैठ गयी, परन्तु वास्तव में तो उसे अपने माता-पिता के कर्मों के कारण ही यह विधवापन भोगना पड रहा है। शायद कोई कहे कि माता-पिता के कर्मो का फल लडकी को भोगना पडे, यह तो अन्याय है। इसे आप न्याय कहे या अन्याय, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, मनुष्य केवल अपने ही कर्मों का फल भागता है, यह ऐकान्तिक नियम नही है। इस उदाहरण से ही यह सिद्ध हो जाता है। अत यह भ्रम दूर हो जाना जरूरी है। रूढियाँ अटल है, यह मानकर हम जहाँ-तहाँ पूर्वजन्म के कर्मों का नाम ले लेत हैं। कितने ही परिणाम स्वसकल्पजनित, कितने ही परसकल्पजनित और कितने ही उभयसकल्पजनित हाते हैं। मनुष्य अपने व्यक्तित्व की दृष्टि से नही,

---

* गीताकार कहत है अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न-भिन्न इद्रियाँ, विविध व्यापार और दैव, इन पाँच कारणा से कर्म बनता है (अ० १८ १४-१५)। सहजानद स्वामी ने अपने वचनामृत मे मनुष्य पर असर डालनेवाले आठ कारण गिनाये हैं देश, काल, क्रिया, सग, मत्र, देवता का ध्यान, दीक्षा और शास्त्र। ये पूर्वकर्म के अलावा है और इन पर पूर्वकर्म का असर नही होता। क्योकि यदि इन आठ पर पूर्वकर्म का वश हाता, ता मारवाड में कितने ही राजा पुण्यशील हो गये, पर उनके लिए सौ हाथ गहरा पानी ऊपर नही आ गया। और यदि देश पूर्वकर्म के वश में हो, तो पुण्यकर्मवाला के लिए पानी ऊपर आ जाना चाहिए और पापिया के लिए नीचे चला जाना चाहिए। परन्तु ऐसा तो होता नही। इसलिए देशादिक पूर्वकर्म से टल नही सकते।

बल्कि ब्रह्माण्ड के एक अवयव की दृष्टि से विचार करे, तो इसका कारण उसकी समझ में स्पष्टता से आ जायगा। व्यक्ति स्वायत्त भी है और ब्रह्माण्डायत्त भी। अकाल अकाल-पीडितो के सकल्पो का प्रतिफल नही होता। यह ब्रह्माण्ड के सकल्प का अर्थात् ब्रह्माण्ड की शक्तियो का परिणाम होता है।

"ऊपर यह तो नही कहा गया है कि हमारा पूर्वकर्म कारणभूत नहीं होता। जब अनेक व्यक्तियो पर भयकर सकट आता है और बहुतो का सहार होता है, वहाँ यदि कोई आदमी अचानक बच जाता है अथवा प्राणघातक दुर्घटना में से वह अकस्मात् सही सलामत निकल आता है, तब जीवन-धारण के किसी बलवान् सकल्प का या किसी पूर्वकर्म का यह फल है, ऐसा माना जा सकता है। परन्तु हर जगह पूर्वकर्म और उसमें भी पूर्वजन्म को सामने रख देना भूल है।

"कर्मवाद में से प्रारब्धवाद पैदा हुआ है। प्रारब्ध का अर्थ किया जाता है, वे कर्म, जो शुरू हो गये है। ज्ञान-प्राप्ति के बाद मनुष्य के दूसरे कर्म क्षय हो जाते हैं। परन्तु जिन कर्मों का भोग शुरू हो गया है, उन्हें तो पूरा करना ही पडता है, ऐसा माना जाता है।" किशोरलाल भाई कहते है कि इस प्रारब्धवाद का भी बहुत दुरुपयोग होता है। वे लिखते है

"ज्ञानी माने जानेवाले पुरुष अपनी भोग-वृत्ति का पोषण करने के लिए भी प्रारब्धवाद का बहुत उपयोग कर लेते है। ज्ञानी को भी प्रारब्ध का भोग तो करना ही पडता है, ऐसा कहकर सन्यासी भी शाल-दुशाले ओढ सकते हैं, कीमती वस्त्र और गहने पहन सकते हैं और दुष्कर्म भी कर सकते हैं।"

वासना-क्षय

पुनर्जन्म के वाद के पीछे कर्म का सिद्धान्त होने से कर्मों के नाश का उपाय निकालना अथवा वासनाओं का क्षय करना मोक्ष पुरुषार्थ का साधन माना जाता है। क्योंकि वासना ही बन्धन और जन्म-मरण का कारण है, ऐसा तत्त्व-विचारक कहते सुने गये है। इस बारे में किशोरलाल भाई कहते हैं :

"परन्तु इस विषय में साधक कितनी ही बार घोटाले में पड जाता है। जीवन अथवा जीवन के कर्मों के प्रति अरुचि हो जाना, जीवन में असफल हो जाने के कारण ससार अथवा सम्बन्धी जनो के प्रति कुछ विरक्ति हो जाना,

अकाल वृद्धावस्था का आना, वैराग्य का क्षणिक ऊपरी आवेग आना, इन सबसे साधक ऐसा समझने लगता है कि उसकी वासनाएँ निवृत्त हो गयी और आध्यात्मिक दृष्टि से इसे वह शुभ समझता है और इस वृत्ति को पोषण देने का यत्न करता है।

"परन्तु वासनाओ की जडे इतनी उथली नही होती कि झट-से इनका क्षय हो जाय। हाथ में मिट्टी लगने पर जिस प्रकार हम उसे झाडकर या धोकर साफ कर सकते हैं, इस प्रकार वासना झाडी या धोयी नही जा सकती। जिस प्रकार हम किसी पौधे को जड से उखाडकर फेंक सकते हैं, उसी प्रकार वासना को भी उखाडकर फेंका नही जा सकता।

"शादी कर लें या ब्रह्मचर्य का पालन करें, खूब धन कमाये या देश-सेवा में लग जायें अथवा सन्यास ले लें, इग्लैंड जाकर किसी विषय का खूब अध्ययन करें या हिमालय में जाकर एकान्त चिन्तन मे जीवन बिताये—कल तक किसी मनुष्य के मन में इस तरह की दुविधाएँ रही हो और फिर किसी आवेग के वश होकर वह सन्यास लेकर हिमालय में चला जाय, तो इस पर से यह नही मान लेना चाहिए कि वासनाओ का सफलतापूर्वक उच्छेदन हो गया है। कोई बहुरुपिया जिस तरह नये-नये रुप लेकर सामने आ खडा होता है, उसी प्रकार वासना भी नये-नये बहाने बनाकर नये रुपो में हाजिर होती रहती है।

"मुझे तो 'वासना का उच्छेद', यह शब्द-प्रयोग ही भ्रमपूर्ण मालूम होता है। पुराने जमाने मे मिट्टी के तेल की बदबू को दूर करने के लिए नागरवेल (पान) पत्ते हाथो में मसले जाते थे। उसी प्रकार मलिन और अपने सुख की वासनाओ का सयम करके उन्हें शुद्ध करके परोपकार की वासनाओ में उनका रुपान्तर करना चाहिए। फिर इन शुद्ध वासनाओं को विवेक से और भी शुद्ध करके उनका केवल इतना पोषण किया जाय कि वे वासनारुप में न रह जायें —केवल सात्त्विक प्रकृति के रुप में सहज गुण बन जायें और अन्त में उसका विलय हो जाय। वासना का अत करने का यह भले ही एक मार्ग हो सकता है। इसलिए 'वासना के उच्छेद' की अपेक्षा 'वासना को उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्ध करना' यह प्रयोग मुझे अधिक सही मालूम होता है। अशुभ वासनाओ को दबाकर शुभ वासनाओं का पोषण करना और उन्हें भी उत्तरोत्तर निर्मल करते

जाना, यह बात अधिक समझ में आने लायक है। जिस प्रकार अत्यन्त महीन अंजन आँखों में चुभता नहीं अथवा फूल का सूक्ष्म पराग वातावरण को बिगाड़ता नहीं, इसी प्रकार वासना का अत्यंत निर्मल स्वरूप चित्त में अशान्ति नहीं पैदा करता और सत्य की शोध में बाधक नहीं होता। निर्वासनिकता और इस स्थिति के बीच यदि भेद हो भी, तो वह बहुत सूक्ष्म है। $\frac{१}{२}+\frac{१}{४}+\frac{१}{८}+\frac{१}{१६}$ इस प्रकार अनवधि तक का उत्तर और १ के बीच जितना अंतर है, उतना ही यह अंतर कहा जा सकता है।"

जीवन का ध्येय सार्वजनिक हो

व्यक्तिगत मोक्ष को ध्येय बनाने से कई बार मनुष्य को समाधान नहीं होता। यह बात समझाने के लिए किशोरलाल भाई 'संसार अने धर्म' पुस्तक में (पृ० ३६-३७) लिखते हैं

"व्यक्तिगत मोक्ष के लिए बहुत-से साधु पुरुषों ने यत्न पुरुषार्थ और त्याग किया है और सिद्धि प्राप्त करने से पहले ही उनकी मृत्यु भी हो गयी है। परन्तु यदि यह मोक्ष केवल कल्पना की ही वस्तु हो और मोक्ष सिद्ध हो गया, ऐसा खयाल हो जाने के बाद यदि कुछ ही दिन बाद उनकी मृत्यु हुई हो; तब तो उनकी मृत्यु शान्ति और समाधानपूर्वक हो जाती है। परन्तु यदि उसके बाद वे अधिक समय तक जिये हैं, तो मृत्यु के समय अधिक जीने की इच्छा और यत्न करते वे देखे गये हैं। क्योंकि काल्पनिक मोक्ष की कृतार्थता कम हो जाने के बाद कोई बची हुई कामना अथवा अधिक आगे बढ़ने की कामना उनका नया ध्येय बन जाती है और यह उनमें जीने की अभिलाषा को बनाये रखती है।

"परन्तु जिसके सामने जान-अनजान में विश्व के जीवन को किसी दिशा में अधिक समृद्ध करने का ध्येय होता है, और जो इसीमें अपना व्यक्तिगत ध्येय भी समझता है, उसे इस ध्येय के लिए जीना उपयोगी मालूम होता है और यदि उसके लिए मरने की जरूरत हुई, तो मरना भी उपयोगी मालूम होता है। इसी प्रकार काम करते-करते स्वाभाविक मृत्यु आये, तो भी उसमें उसे शान्ति और समाधान मालूम होता है।

"मृत्यु को जीतने का यही निश्चित मार्ग मालूम होता है। अर्थात् जीवन का ध्येय स्वलक्षी नहीं, व्यक्तिगत नहीं, बल्कि विश्वलक्षी और सार्वजनिक हो।

उसे आप ध्येय मानें या अपने श्रेय का साधन समझें, अथवा अपने श्रेय को ध्येय बना लें और सार्वजनिक जीवन की समृद्धि का उसका अनिवार्य साधन बना लें। यदि हमारे श्रेय और विश्व-जीवन की समृद्धि के बीच विरोध नही, बल्कि मेल कायम कर लिया गया है, यदि इस ध्येय का कुछ अश हमारे अपने जीवन-काल मे और अपने ही हाथो सिद्ध होने का आग्रह नही रखा है, बल्कि उसे इतना लम्बा और ऐसा सार्वलौकिक बना दिया गया है कि उसकी सिद्धि अनेक लोगो का हाथ लगने पर और दीर्घकाल में होनेवाली है, तो ऐसे ध्येय के लिए जीने और मरने में भी समाधान बने रहने की पूरी सभावना है। दूसरा कोई ध्येय यह परिणाम नही ला सकता।"

मोक्ष के सम्बन्ध में नाथजी के विचार

व्यक्तिगत मोक्ष का ध्येय अपने सामने रखने के कारण हमारे समाज का कितनी हानि सहनी पडी है, इस बारे में नाथजी कहते है

"मोक्ष जैसा व्यक्तिगत कल्याण का ध्येय मान लेने के कारण सामुदायिक लाभ और कल्याण के लिए जिस सामुदायिक विचार, वृत्ति और सद्गुणो की जरूरत होती है, वे अभी तक हमारे भीतर नही आये और न अकुरित ही हुए। हर मनुष्य अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दु ख भोगता है, हम किसीको सुखी या दु खी नही कर सकते, कोई किसीको सुखी या दु खी करता है, यह केवल भ्रम है—इस प्रकार की शिक्षा हमें एक जमाने से मिलती रही है। यह शिक्षण देने में हेतु चाहे कितना ही ऊँचा रहा हो, परन्तु यह हमें अत्यत स्वार्थी बनाने में कारण बन गया है। ऐसा लगता है कि आज के अनर्थों के बहुत-से बीज इसी शिक्षा मे है। धन, विद्वत्ता, वैभव अथवा अन्य किसी विशेष प्राप्ति द्वारा हम सुखी हो अथवा मोक्ष-प्राप्ति द्वारा अपना कल्याण-साधन करें, इन सबमें सामुदायिक कल्याण का विचार कही भी किसी प्रकार नही दिखता। इस पर से ऐसा ज्ञात होता है कि हममें सामाजिक अथवा सामुदायिक वृत्ति का जो अभाव पाया जाता है, उसका कारण हमारे अन्दर यह व्यक्तिगत लाभ करने की दृष्टि का विकास करनेवाली शिक्षा ही होनी चाहिए। हमारे आचार-विचार में कही व्यापक दृष्टि नही, सर्वत्र सकुचितता ही दिखाई देती है। इसके और भी कारण हो सकते हैं। परन्तु यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है, ऐसा विश्वासपूर्वक लगता है।

"यदि हमें लगता है कि यह स्थिति अवनतिदर्शक और शोचनीय है, तो इसे बदलने का हमें निश्चयपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए हमें उदात्त और उपयुक्त ध्येय अपने सामने रखना चाहिए। इसके सिवा दूसरा मार्ग नही है। हम मनुष्य हैं और यदि मनुष्य की भाँति हमें जीना है, तो सद्गुणों के सिवा यह बात कभी सिद्ध नही हो सकती। यह बात सबसे पहले हमारे हृदय में अंकित हो जानी चाहिए। मनुष्य अकेला नही रह सकता। वह सामाजिक प्राणी है। इसलिए व्यक्तिगत कल्याण अथवा हित की कल्पना दोषास्पद समझी जानी चाहिए। व्यक्तिगत हित कोई चीज नही हो सकती। वह तो व्यक्तिगत स्वार्थ से सम्बन्ध रखनेवाली कोई क्षुद्र अथवा महान् अभिलाषा भले ही हो। इससे आज नही तो कल सामुदायिक दृष्टि से हानि हुए बिना नहीं रह सकती, यह हम निश्चयपूर्वक समझ लें। धन, विद्या, सत्ता किसी एक के हाथों में आये, फिर भी उसका सदुपयोग अथवा सही उपयोग तो तभी समझा जायगा, जब उसका उपयोग सबके हित के लिए होगा। सब तरफ से—सभी दृष्टि से जब तक हम सामाजिक नही बन जाते, तब तक हमारे भीतर मानवता नही आयेगी। हमारा धर्म यही है, जिससे मानव-मात्र का कल्याण हो। मानव-मात्र में हम भी आ ही जाते हैं। इसलिए इस धर्म से हमारा अहित नही—सबके साथ हमारा भी हित ही होगा। ऐसी श्रद्धा हमें रखनी चाहिए। हमारा सबका जीवन मानवीय सद्गुणों पर ही चल रहा है। जहाँ-जहाँ हमारे अन्दर सद्गुणों की कमी होगी, वहाँ-वहाँ दुःख के प्रसंग आयेंगे, फिर यह न्यूनता हमारे अपने भीतर हो या दूसरों के भीतर—उससे हम या वे अवश्य ही दुःख पायेंगे। जहाँ सद्गुणों का अभाव होगा, वहाँ उसका परिणाम किसीको न किसीको तो भोगना ही पड़ेगा। यह तो नियम ही है। इसलिए हम सब सुखी बनना चाहते हैं, तो हमें सद्गुणी बनना ही पड़ेगा। यह बात हमें अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए और उस दिशा में हमारे प्रयत्न भी सतत होते रहने चाहिए। हम समाज के एक घटक हैं। समाज हमसे ही बना है। हमारे सबके भले-बुरे कामों का असर सभी पर भला या बुरा होता रहता है। किसी भी भले-बुरे काम का परिणाम केवल उसके करनेवाले को ही नही भोगना पड़ता। हमारे सबके कामों का परिणाम हम सबको भोगना पड़ता है। इस प्रकार इस एकत्रपन के सामाजिक सम्बन्ध से और न्याय से हम

आपस में एक-दूसरे के साथ बँधे हुए है। अस्वच्छता और अव्यवस्थितता दोष हैं। इनके परिणाम रोगों के रूप में अथवा अन्य ही किसी रूप में मनुष्य को भुगतने पडते हैं। अपना समाज बनकर मनुष्य एक साथ रहता है। ऐसी स्थिति में हम अकेले स्वच्छता से रहें या केवल हम अपने निवास को ही स्वच्छ रखें, केवल इतने से हम निरोग नही रह सकते। इसलिए हमारे साथ-साथ हमारा मकान, दूसरे लोग और सारा गाँव जब तक स्वच्छ नही होगा, तब तक हम अपने-आपको रोगो के अनर्थो से सुरक्षित नही मान सकते। गाँव में कही भी रोग उत्पन्न होता है, तो उसके दुष्परिणाम सबको भोगने पडते है। जिस प्रकार यह प्रकृति का नियम है, उसी प्रकार मनुष्य के दूसरे व्यवहारो की भी बात है। मनुष्यों को विचार करके मनुष्यो के पारस्परिक सम्बन्धो, मनुष्य के कर्मों और उनके परिणामो के नियम ढूंढ लेने चाहिए। कार्य-कारण भावो की जाँच करनी चाहिए। यदि यह किया जायगा, तो मनुष्य इसी निश्चय पर पहुँचेगा कि हम सब एक-दूसरे के कर्मों से बँधे हुए है। आज समाज में जो बहुत बडे-बडे झगडे होते है, उनमें झगडा उत्पन्न करनेवाले कौन होते है और उनके अत्यत दु:ख-दायी परिणाम किन्हें भोगने पडते है? युद्धो की सृष्टि कौन करता है और प्राण-हानि और सर्वनाश किन्हें भोगना पडता है? इन सब बातो का यदि विचार किया जायगा, तो हम इसी निश्चय पर पहुँचेंगे कि किसी भी कर्म का फल केवल उसके करनेवाले को ही नही, बल्कि एक के कर्म का फल दूसरे को, बहुतो को अथवा सबके कर्मों का फल सबको भोगना पडता है, ससार में यही व्यवस्था या न्याय चल रहा है। परन्तु जीवन का व्यक्तिगत ध्येय हमने जो एक बार श्रद्धापूर्वक बना लिया है, उसे हम छोडने के लिए तैयार नही हो रहे है। जगत् में जो न्याय (नियम) प्रत्यक्ष चालू है, उस पर विचार नही करते। पूर्वजन्म और

चौथा पुरुषार्थ मोक्ष नहीं, ज्ञान

इन सभी बातों का विचार करते हुए किशोरलाल भाई को लगा कि "काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों में चौथे पुरुषार्थ का नाम जो मोक्ष रखा गया है, इससे कुछ अंशों में भ्रम पैदा हो जाता है। इसके बदले चौथे पुरुषार्थ का नाम यदि ज्ञान रख दिया जाय, तो सारा घोटाला दूर हो सकता है। किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए शोध किये बिना मनुष्य का काम नहीं चल सकता। शोध काम अर्थात् सुख के लिए हो, अर्थ के लिए हो या धर्म के लिए हो, प्रत्येक शोध के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान से मनुष्य सुख का शोधन करता है, अर्थ का शोधन करता है और धर्म का भी शोधन करता है। शोधन का अर्थ है, जिसकी जानकारी नहीं उसकी जानकारी प्राप्त करना और प्राप्त जानकारी को शुद्ध करना। बाद के पुरुषार्थ से मनुष्य को इतना समाधान हो जाता है कि उसका पहले का पुरुषार्थ गौण बन जाता है। उदाहरणार्थ अर्थ की प्राप्ति के लिए काम को गौण बनाना पड़ता है और धर्म की प्राप्ति के लिए अर्थ को गौण बनाना पड़ता है। इसी प्रकार ज्ञान की, शोध की प्राप्ति में मनुष्य को इतना समाधान हो जाता है कि यही एक स्वतन्त्र पुरुषार्थ बन जाता है और इसमें इसके धर्म, अर्थ और कामरूपी फलों का उपभोग करने की इच्छा मंद हो जाती है। इस तरह काम, अर्थ और धर्म के साथ ज्ञान चौथा पुरुषार्थ बन जाता है।"

मोक्ष के बदले ज्ञान को चौथा पुरुषार्थ मानना क्यों श्रेयस्कर है, यह किशोरलाल भाई नीचे लिखे अनुसार समझाते हैं

'किसी अतिप्राचीन काल में ज्ञान-प्राप्ति की शोध के बीच कर्म का सिद्धान्त और उसके परिणामस्वरूप पुनर्जन्मवाद की शोध हुई। . .. जिसने ज्ञान के पुरुषार्थ के अंत तक पहुँचकर अपने अस्तित्व के मूल—आत्मतत्त्व को ढूंढ़ लिया, उसने अपने लिए पुनर्जन्म की संभावना तथा उसके भय से भी मुक्ति पा ली। आत्मतत्त्व की खोज में पुनर्जन्म को रोकने अथवा उसके भय से छूटने का साधन मिल गया।

"ऐसे किसी कारण से चौथे पुरुषार्थ का नाम ज्ञान के बदले मोक्ष हो गया और उसका अर्थ पुनर्जन्म से छूटने के लिए किया गया पुरुषार्थ हो गया। पुनर्जन्म के वाद के मूल में कर्म का सिद्धान्त होने के कारण कर्मनाश के उपाय की योजना

करना चौथे पुरुषार्थ का ध्येय मान लिया गया। धर्म, अर्थ और काम किसी-न-किसी रूप में कर्म का विस्तार बढ़ानेवाले ही हैं। इस कारण इनमें और मोक्ष के बीच रात और दिन के समान विरोध है, ऐसी विचार-सरणी पैदा हो गयी। इसलिए इन तीन पुरुषार्थों से निवृत्ति अथवा इन तीनों के साथ जिन कर्मों का सम्बन्ध न हो, उनमें प्रवृत्ति, यही चौथे पुरुषार्थ की सिद्धि का साधन मान लिया गया।

"... ...कुछ लोगों को लगा कि बंध और मोक्ष दोनों चित्त पर लागू होनेवाले धर्म हैं। चित्त अर्थात् अनेक संस्कारों का समूह। इन संस्कारों का जोर ही चित्त का बन्धन है और इनकी शिथिलता चित्त का मोक्ष है। मनुष्य ने अपने-आपको देश, जाति, धर्म, अधर्म, नीति, अनीति आदि अनेक संस्कारों से बाँध लिया है। इन संस्कारों के बन्धन को तोड़ देना ही मोक्ष है।

"इन विचारों में तथ्यांश है। परन्तु जिस प्रकार से इन विचारों का पोषण किया गया है, उसके कारण कुछ विपरीत परिणाम भी निकले हैं। प्रवृत्ति-विचार अथवा निवृत्ति-विचार, संस्कारों का बंधन या शिथिलता—ये संपूर्ण नहीं, मर्यादित सिद्धान्त हैं। फिर यह मर्यादा भिन्न-भिन्न समय में संकोच और विकास प्राप्त करती रही है। इस बात की ओर दुर्लक्ष हो गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर कृत्रिम और जड़ निवृत्ति के लिए और दूसरी ओर स्वच्छन्दता के लिए मोक्ष के मार्ग द्वारा खुला परवाना मिल गया। चौथे पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए कर्ममात्र से पूर्णतः निवृत्त हो ही जाना चाहिए, यह कल्पना 'मोक्ष' शब्द ने निर्माण की। इसी प्रकार आचार और विचार में भी इसने बहुत से घोटाले और अस्पष्टताएँ निर्माण कर दी हैं। प्रवृत्ति और साधना को कृत्रिम मार्गों में मोड़ दिया और सांसारिक तथा पारमार्थिक, इस प्रकार दो तरह के—मानो एक दूसरे से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखनेवाले—कर्मों के भेद निर्माण कर दिये।

"इस प्रकार 'मोक्ष' शब्द अनेक प्रकार से भ्रामक बन गया। वस्तुतः चौथा पुरुषार्थ मोक्ष नहीं, बल्कि ज्ञान, अथवा शोध है। इसके लिए किये जानेवाले प्रयत्न के द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और काम का शोधन करता है, अर्थात् उनकी खोज करता है और उनके लिए की जानेवाली प्रवृत्तियों को शुद्ध करता

इसीसे यह इनकी मर्यादाओं को तथा एक-दूसरे पर लगे अंकुशों को जानता है और अंत में इसीके द्वारा संसार को तथा स्वयं अपने को भी खोजता है तथा शुद्ध करता रहता है। यहाँ तक कि जीवन के मूल कारण को भी ढूंढ़ लेता है। ज्ञानी पुरुष धर्म अथवा नीति के बन्धनों में से अपने-आपको मुक्त नहीं कर लेता, बल्कि धर्म के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है, विविध कर्मों की अपने काल के अनुरूप मर्यादाओं को जान लेता है और उनके बन्धनों तथा मर्यादाओं को ज्ञानपूर्वक स्वीकार कर लेता है और इन मर्यादाओं में रहकर अर्थ तथा काम का उपभोग करता है।

"जिस प्रकार पहले तीन पुरुषार्थों का ध्येय जीवन का निर्वाह और सत्व-संशुद्धि है, उसी प्रकार चौथे का भी ध्येय वही है। मरने के बाद की स्थिति की चिन्ता करना अनावश्यक है। जिस प्रकार जीवन के प्रत्यक्ष व्यवहार से धर्म का सम्बन्ध नहीं रहने से तारतम्य का भंग हो जाता है, वैसी ही बात चौथे पुरुषार्थ पर भी लागू होती है।

"यदि इस प्रकार देखेंगे, तो चार पुरुषार्थों में रात और दिन जैसा अन्तर नहीं मालूम होगा, बल्कि वे एक-दूसरे पर आधृत और एक-दूसरे का नियमन करनेवाले प्रतीत होंगे।

"मनुष्य को जिज्ञासु होना चाहिए, श्रेयार्थी होना चाहिए, 'मुमुक्षु' (मोक्ष और शुद्धि की इच्छावाला) होना चाहिए। इससे वह अनेक वहमों, अज्ञान, अधूरे ज्ञान, अनिश्चितता, संक्षेप में कहें, तो अबुद्धि से मुक्ति पा जायगा। यदि सृष्टि के नियमों में पुनर्जन्म हो, तो उसे समाधानपूर्वक स्वीकार कर लेने का बल उसे मिल जायगा और यदि यह केवल कल्पना ही है, तो इससे वह डरेगा नहीं। यदि पुनर्जन्म सत्य हो किन्तु वह टाला जा सकता हो, तो इसके मार्ग का भी यह विशेष शुद्ध और ऐसा बना सकेगा, जिससे अधिक विपरीत परिणाम न आवें। पुनर्जन्म के भय से वह कोई पुरुषार्थ नहीं करेगा, बल्कि जिज्ञासा, सत्य शोधन की वृद्धि और शुद्ध बनने की आकांक्षा से चौथे पुरुषार्थ में प्रेरित होगा।

× × ×

"ज्ञान के पुरुषार्थी को ज्ञान के लिए किया गया प्रयत्न और ज्ञान की प्राप्ति में से मिलनेवाला समाधान ही उसका अपना सुख होगा। परन्तु संसार

के हित की दृष्टि से यह पुरुषार्थ उचित दिशा में हो रहा है या नही, यह देखने के लिए यह जरूरी है कि यह प्रयत्न धर्म का निश्चय करने में अथवा उसका अनुसरण करने मे तथा उसके द्वारा अर्थ और काम की सिद्धि करने मे भी मददगार हो रहा है। यह सिद्धान्त ज्ञान के पुरुषार्थ का कुतुबनुमा है। उसका अतिम फल* आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व को खोजकर अपनी निरालब सत्ता का दर्शन है।"

शुद्ध आलंबन और निरालम्ब स्थिति

इस विषय में किशोरलाल भाई के ये विचार थे :

"ज्ञान का ध्येय है अर्थ और काम की उत्तरोत्तर शुद्धि और शोध करना। ज्ञान का अतिम फल है अपने और ससार के अस्तित्व के मूल को जान लेना और आत्मा की निरालम्ब सत्ता का दर्शन करना।

"परन्तु इसके साथ ही यह ध्यान में रखना चाहिए कि आत्मा की निरालब सत्ता की जानकारी (अर्थात आत्मा को छोडकर कोई अन्य इस पर सत्ता चलानेवाला नही है, यह निश्चय हो जाना) एक बात है और इस निरालब स्थिति में रहना, यह दूसरी बात है।

"जिसे 'आत्मा' अथवा 'ब्रह्म' कहा जाता है, उसे छोडकर किसी अदृश्य शक्ति पर आधार रखने की जरूरत न लगना, अपने द्वारा किये गये कर्मो के फलभोगने में सुख हो या दु ख अथवा दूसरा की ओर से या सृष्टि के नियमा से सुख या दु ख आ पडे, तो भी धैर्य न छोडना और समता रखना, मरने के बाद हमारा क्या होगा या क्या होता होगा, इसकी लेशमात्र भी चिन्ता या कल्पना भी न करना, बल्कि जो जीवन प्राप्त हो गया है, उसमें शुभ कर्म और शुभ विचारा में लगे रहना तथा अपनी सत्त्व-सशुद्धि के लिए सदा यत्नशील बने रहना और इसके आगे का विचार भी न करना—इस प्रकार की शुद्ध निरालम्ब स्थिति में सदैव टिके रहनेवाले व्यक्ति थोडे ही देखने में आते है।

---

* ज्ञान का अतिम फल मोक्ष-प्राप्ति माना जाता है। परन्तु इससे होनेवाले भ्रम को दूर करने के लिए किशोरलाल भाई ने उसे श्रेय प्राप्ति कहा है और मुमुक्षु के लिए 'श्रेयार्थी', 'साधक', 'शोधक', अथवा 'जिज्ञासु' शब्दा का प्रयोग किया है।

"जब कभी कहीं कोई ऐसा विरल महात्मा मिल भी जाता है, तो अधिकांश में ऐसा लगता है कि इस स्थिति को प्राप्त करने से पहले इसने बहुत लम्बे समय तक किसी दिव्य और अदृश्य शक्ति का सहारा लिया था। यही नहीं, बल्कि उसका अनन्य आश्रय और अनन्य भक्ति भी की थी। उसे वह अपने से ऊपर और भिन्न अदृश्य रूप में स्थित कोई शक्ति मानता था या उस शक्ति का अवतार मानता था या उस शक्ति के साथ उसका कोई खास सम्बन्ध मानता था। इसके अलावा मृत्यु के बाद की स्थिति के विषय में भी इसने कोई दृढ़ कल्पना बना ली थी और अपने जीवन में उत्कर्ष पाने के लिए इसने जो-जो भी पुरुषार्थ किये अथवा जिन कठिनाइयों को पार किया, वे सब इस आश्रय के और भविष्य में श्रद्धा के बल पर ही वह कर सका, यह भी ज्ञात होगा और वह खुद भी इस बात को स्वीकार करेगा। ऐसे किसी आधार अथवा आलम्बन पर तथा कर्मों का फल देनेवाला कोई अटल परन्तु न्यायी नियम संसार में है, इस मान्यता पर जीवन के प्रारंभ में ही उसकी श्रद्धा बैठ जाने के कारण और सामान्य मनुष्यों के जीवन अथवा चित्त पर यह श्रद्धा जितना असर करती है, उससे अधिक बलवान् परिणाम उस पुरुष पर हो जाने के कारण ही उसका जीवन श्रेय के मार्ग की ओर मुड़ा है, ऐसा आप पायेंगे। श्रेयार्थी में जिन शुभ गुणों और भावों का उत्कर्ष होना चाहिए, उनका ठीक उतना उत्कर्ष हो जाय और ये गुण तथा भाव उसमें स्वभावसिद्ध बन जायें, तभी यह कहा जा सकता है कि निरालम्ब स्थिति की ओर उसने प्रयाण किया है और धीरे-धीरे उस स्थिति में दृढ़ता आयी है, ऐसा सामान्य अनुभव है।

'इस प्रकार मनुष्य को अपनी साधना के लिए किसी-न-किसी आलम्बन को स्वीकार करना पड़ता है और यदि वह आलम्बन शुद्ध होता है, तो वह अच्छी प्रगति कर सकता है।

"शुद्ध आलम्बन में क्या-क्या लक्षण होने चाहिए, यह हम देखें :

(१) विचार-शक्ति के बढ़ने पर इसमें श्रद्धा घटनी नहीं, बढ़नी चाहिए।

(२) वह हमारी बुद्धि की सूक्ष्मता बढ़ने की अपेक्षा रखे, परन्तु यह न कहे कि 'इससे अधिक गहराई में नहीं जाना चाहिए'।

(३) इसके स्वरूप के विषय में हमारे मन में यदि कोई गलतफहमी रही हो, तो उसके सम्बन्ध में अधिक चिन्तन के बाद वह दूरहोती जाय और उसका स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट होता जाय और उसका कभी सपूर्ण त्याग न करना पडे।

(४) यह आलम्बन यथासम्भव जाति, कुल, देश, सप्रदाय और अनुगम आदि उपाधियो से रहित हो और सर्वमान्य हो।

(५) श्रेयार्थी को यह आलम्बन इतना उदात्त और प्रिय लगना चाहिए कि उसमें उसकी श्रद्धा अपने जीवन में प्राप्त होनेवाले सुख में उसे नम्र और कृतज्ञ बनाये और वह जीवन की धन्यता समझने लगे, दु ख में धीरज और समता रखने की और शाति के साथ विश्व के नियमो के अधीन होने की शक्ति उसे दे, अपनी मर्यादाओ का भान दिलाकर मनुष्य को अमानी और निर्दम्भी बनाये, शुभ कर्मों और सत्त्व-सशुद्धि के प्रयत्नो मे उसे उत्साह प्रदान करे और इसमें यदि कोई झगडे या खतरे उपस्थित हो, तो उनका सामना करने का साहस उसे दे। उसी प्रकार वह उसमें भक्ति आदि भावो के विकास का भी अवकाश दे।

"शुद्ध आलम्बन के विषय में विचार करते समय यह तो स्पष्ट होना ही चाहिए कि आलम्बन सम्बन्धी यह श्रद्धा किसी दृश्य पदार्थ या शक्ति पर नही, बल्कि किसी अदृश्य शक्ति या नियम पर है। अदृश्य पर यह श्रद्धा होने के कारण यह आलम्बन प्रत्यक्ष या अनुमान-प्रमाण से सिद्ध नही किया जा सकता अर्थात् आलम्बन-विषयक यह श्रद्धा एक प्रमाणातीत विषय की श्रद्धा है।

"इस विषय में जिन्होंने खूब विचार किया है और जो निश्चित परिणामो पर पहुँचे हैं, उनकी राय यह है कि ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर इत्यादि नामों से परिचित एक चैतन्यरूप परमतत्त्व का अस्तित्व यद्यपि प्रमाणातीत वस्तु है, तथापि वह न केवल सभवनीय वस्तु है, बल्कि एक स्वयसिद्ध वस्तु है। स्वयसिद्ध होने के कारण ही वह प्रमाणातीत है। परन्तु स्वयसिद्ध होने का अर्थ यह नही कि उसकी प्रतीति झट से हो जाती है। स्वयसिद्ध कहने से उनका तात्पर्य यह है कि इस चैतन्य-शक्ति के अस्तित्व को शास्त्र के, विश्वास करने लायक ऋषियो के या गुरुजनो के मत के रूप में मान लेने की जरूरत नही है। परन्तु यह ऐसी

वस्तु है कि यदि कोई चाहे, तो इसके विषय में अपने अनुभव और विचार से ही अपने मन का समाधान कर सकता है।"

आत्मा-परमात्मा के विषय में उनके विचारों का सार इस प्रकार है :

(१) ज्ञाननामक पुरुषार्थ का अंतिम निर्णय यह है कि प्राणिमात्र में स्फुरण करनेवाला जो चैतन्य-तत्त्व है, उससे परे और उस पर सत्ता धारण करनेवाला दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। उसे आत्मतत्त्व कहिये या ब्रह्मतत्त्व। विश्व के मूल में वही एक चैतन्य-तत्त्व है। इसमें निष्ठा जम जाने और उसके स्थिर रहने का नाम ही 'निराल्व' स्थिति है।

(२) यह चैतन्य-तत्त्व है, इसमें तो कोई सन्देह है ही नहीं, परन्तु वह प्रमाणातीत है। प्रमाणातीत है, इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य को उसके बारे में केवल श्रद्धा रखनी चाहिए। स्वयंसिद्ध के रूप में इसकी प्रतीति हर कोई कर सकता है। इस प्रतीति का नाम ही 'आत्मज्ञान' है।

(३) आत्मतत्त्व है ही, इसलिए वह सत् है। वह चित् अर्थात् ज्ञान-क्रियारूप है। दूसरे शब्दों में जो 'है' ऐसा लगता है, उसका मूल कारण उसके अन्दर बसनेवाली चैतन्य की सत्ता है। 'है' में जो क्रिया या ज्ञान का बोध होता है, उसकी जड उसमें बसा हुआ चैतन्य-तत्त्व है।

(४) जब तक चित्त की सशुद्धि नहीं हो जाती, तब तक उसे किसी-न-किसी आलम्बन की जरूरत रहती ही है और ऐसा होना उचित भी है। यह आलम्बन काल्पनिक नहीं, बल्कि सत्य होना चाहिए। भले ही उसकी सत्यता के विषय में हमें आत्मप्रतीति न भी हो।

(५) परमात्मा ही एक ऐसा आलम्बन है। परन्तु परमात्मा का स्वरूप समझने में अनेक भ्रान्तियाँ पैदा हो गयी हैं और इनके कारण ज्ञान और भाव की सशुद्धि में खामियाँ आ गयी हैं और इनके कारण अभ्युदय तथा पुरुषार्थ में विघ्न खडे हो जाते हैं।

(६) आलम्बन की शुद्धता का विचार करते हुए परमात्मा के बारे में किया गया यह अनुसधान ठीक मालूम होता है

१ वह सत्य, ज्ञान तथा क्रियास्वरूप है।

२ वह जगत् का उपादान कारण है।

३ वह सर्वव्यापक और विभु है।

४ उसका यही नाम, रूप, गुण, आकार है, ऐसा नही कहा जा सकता। वह नाममात्र, आकारमात्र और गुणमात्र का आश्रय है।

५ कारणरूप में वह सत्य सकल्प का दाता और कर्मफल का देनेवाला है।

६ वह अलिप्त है और साक्षीरूप मे प्रतीत होता है।

७ वह महान्, अनत और अपार है।

८ वह स्थिर और निश्चल है।

९ वह ससार का तत्री और सूत्रधार है।

१० वह ऋत है।

११ वह उपास्य, एष्य, वरेण्य, शरण्य और समर्पणीय है।

१२ ससार में जो भी शुभ-अशुभ विभूतियाँ हैं वे उमीके कारण है। इसलिए वह समस्त शक्तिया का भाण्डार है। परन्तु इनमें से मनुष्य को केवल उन्ही शक्तिया का अनुसधान करना चाहिए, जो श्रेयार्थी के लिए शुभ और अनुशीलन करने योग्य है। इसकी अनुशीलन और अनुसन्धान करने योग्य शक्तियाँ थोडे में कहें तो ज्ञान, प्रेम और धर्म के अनुरूप क्रियाशक्तियाँ है।

(७) सत्त्व-सशुद्धि का फल प्रत्यक्ष जीवन में बुद्धि और भावना के उत्कर्प के द्वारा मरण और मरणोत्तर स्थिति के विषय में मनुष्य को निर्भय करके समाधान और शान्ति देना है। सत्त्व सशुद्धि जीवन की साधना और साध्य दोनो है।

अवतारवाद

किशोरलाल भाई ने जिस प्रकार मोक्ष की मान्यता का शोधन किया है, उसी प्रकार हिन्दू धर्म की कितनी ही अन्य मान्यताओ का भी शोधन किया है। इनमें अवतारवाद और मूर्ति-पूजा मुख्य है। किशोरलाल भाई कहते है कि अवतारवाद के पीछे नीचे लिखी मान्यताएँ पायी जाती हैं

"जीवात्मा से भिन्न प्रकार का एक ईश्वरात्मा है। वह हमेशा साधु पुरुषो और धर्म का पक्ष लेता रहता है। दुष्ट लोगो तथा अधर्म का वह शत्रु है। समाज में अधर्म का बल कब और कैसे बढता है, इसका वह सदा ध्यान रखता है और

जब उसकी अपेक्षा से अधिक अधर्म का बल बढ़ जाता है, तब किसी भी रूप में शरीर धारण करने को वह तैयार रहता है। जिस स्वरूप का काम हो, उसके अनुसार वह मनुष्य, पशु, पक्षी, किसी भी योनि में जन्म धारण करता है और शरीर धारण करने से लेकर उसके अंत तक का सारा कार्यक्रम वह पहले ही से निश्चित कर लेता है। यह ईश्वरात्मा अपने इच्छानुसार प्रकृति के नियमों से स्वतंत्र जो चाहे सो कर सकता है और अपने जीवन की हर छोटी-बड़ी तफसील को पहले से जानता है। सामान्य मनुष्य तो सामाजिक अथवा नैतिक बंधनों में बँधे रहते हैं, परन्तु अपने अवतार-कार्य में यह इन बन्धनों से मुक्त होता है। वह किन्हीं भी उपायों का अवलंबन कर सकता है। इसमें वह दोषी नहीं बनता।"

यह मान्यता कट्टर अवतारवादी की है। इसमें से कई बातों को आधुनिक विचारक नहीं मानते। किशोरलाल भाई को इस मान्यता में बहुत-सी भूलें दिखाई देती हैं। वे कहते हैं

"जिसे हम 'जीवात्मा' या 'प्रत्यगात्मा' कहते हैं, उससे भिन्न कोई एक या अनेक ईश्वरात्माएँ हैं, यह कल्पना ही भूलभरी है। इसके पीछे अनुभव का आधार नहीं है।

'फिर यह मान्यता गलत है कि जिसे हम 'प्रत्यगात्मा' कहते हैं, उससे जीवन, मरण और जीवन-कार्य के विषय में अधिक स्वतंत्र, प्रकृति के नियमों से परे, पहले से ही अपने जीवन का नक्शा तैयार कर लेनेवाला या जाननेवाला *अपने जीवन-कार्य के बारे में एक जीवात्मा जितना संकल्प कर सकता है, उससे* अधिक निश्चित संकल्प करके आनेवाला कोई पुरुष भूतकाल में हो गया, आज—वर्तमान में है या आगे होगा।

"यह मान्यता भी गलत है कि इस तरह जो व्यक्ति अवतार मान लिया गया है, उसके कर्मों की शुद्धाशुद्धता अथवा योग्यायोग्यता का सारासार-विवेक द्वारा निश्चित नैतिक और मानवोचित नियमों की दृष्टि से परीक्षण नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि उसके सारे काम दिव्य मान लिये जाने चाहिए।

"राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद या अन्य कोई व्यक्ति जीवात्मा की अपेक्षा किसी भिन्न प्रकार के तत्त्व से पैदा हुआ था, यह मान लेना भी गलत है।

"उन्होंने जो कुछ किया, वह पहले से ही सोच लिया गया था, यह मान लेना भी गलत है। राम ने सीता के लिए जो दुःख किया, वह केवल नाटक था, कृष्ण ने यदि कोई अपकर्म किये, तो वे दिव्य ही थे, सहजानद स्वामी ने, समर्थ रामदास ने जो व्रत, तप, योगाभ्यास आदि किये, वे ईश्वर-प्राप्ति के लिए अपने मन की व्याकुलता के कारण नही, बल्कि श्रेयार्थियो को केवल सन्मार्ग दिखाने के लिए किये, ऐसा मानना गलत है।

"राम, कृष्ण आदि पुरुषो में से जो लोग वस्तुत पृथ्वी पर हो गये हो, उन्हें दूसरे मनुष्यो के समान ही मनुष्य मानना चाहिए। वे समर्थ थे ऐश्वर्यवान् थे, उनकी ऐश्वर्येच्छा श्रेष्ठ प्रकार की महान आशयोवाली थी, अपने समय के वे महान अग्रणी थे, इनमें से कोई विद्वान् था तो कोई साधु पुरुष, कोई श्रेष्ठ धर्मज्ञ और कोई नीतिज्ञ थे। शिवाजी, वॉशिंग्टन, गॅरीबाल्डी आदि जिस प्रकार इस युग में अपनी-अपनी जाति के उद्धारक माने जाते हैं, इसी प्रकार इनमें से भी कई अपने समय के प्रजोद्धारक थे। इनके जन्म-कर्म के विषय में इससे अधिक दिव्यता मानना भूल है।

"इससे अधिक शोभा इनके नामो के आस-पास रचकर इन्हे काल्पनिक पद पर चढाकर इनकी कृत्रिम पूजा करने से मनुष्य अथवा समाज को अपना अभ्युदय करने में विशेष लाभ हुआ हो, ऐसा नही मालूम होता। हा, इससे हानि अवश्य बहुत हुई है।

"हिन्दू जनता इन बातो को मान लेती है। इस कारण ऐसी मान्यता बैठाने में जिनका स्वार्थ होता है वे इस प्रकार का भ्रम बार-बार फैलाते ही रहते है और समाज का भोला भोला वर्ग इस भ्रम में फँस जाया करता है। इसका उपयोग पथ प्रवर्तन में और राजनीति में विशेष रूप से किया जाता है। प्राय हर सप्रदाय का प्रवर्तक अपनी या बाद में आनेवाली पीढी में ईश्वर का अवतार बन जाता है। यही नही, बल्कि वे अवतारो के अवतार थे—राम-कृष्णादि तो उनके परिवारक कहे जा सकते हैं—यहाँ तक यह मान्यता फैलती जाती है। महाराष्ट्र में शिवाजी लगभग ईश्वर-पद पर आरूढ हो गये है और इनकी मूर्ति की पूजा भी वहाँ शुरू हो गयी है। लोकमान्य भी इसी मार्ग पर जा रहे है, ऐसा दिखाई देता है। गाधीजी के लिए भी ऐसा ही हो सकता है। जो लोग

ऐसा करते है, वे पहले नही, तो बाद में अपनी अबुद्धि का ही पोषण करते और उसे बढ़ाते है। इसमें कल्याण नही।"

मूर्ति-पूजा

मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में किशोरलाल भाई ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं

"अपने पूज्य या स्नेहीजनो के स्मारक के रूप में उनकी मूर्ति या प्रतिमा बनाना इतना अस्वाभाविक या दोषपूर्ण नही, जितना कि इसलाम में बताया है और उसकी भरपूर निन्दा की है। मूल पुरुष के प्रति जो स्नेह और पूज्य भाव होता है, वही अज्ञात उसकी प्रतिमा के प्रति भी हो, यह स्वाभाविक है। परन्तु यह प्रतिमा है यह भूलकर, उसमें चेतन है ऐसी भावना करके, उसे षड्ऊर्मिवाला मानकर जो पूजा-विधि बतायी जाती है, अपार श्रम किया जाता है, आग्रह रखा जाता है और उसके लिए झगड़े किये जाते है, इसमें विवेक-मर्यादा का अतिरेक है।

"प्रारम्भ में योगाभ्यासी को आलम्बन के रूप में मूर्ति की उपयोगिता मालूम हुई होगी, बाद में चचल चित्त को सदैव मूर्ति का ध्यान—अनुसधान—लगाये रखने के लिए दिनभर मूर्तिसम्बन्धी क्रियाएँ ही करते रहना पड़े, इस विचार से सवेरे से लेकर रात तक मूर्ति-पूजा का कार्यक्रम बना दिया गया हो, यह भी सम्भव है। किसी योगाभ्यासी को जो व्यवसाय उस समय के विचारो की दृष्टि से आवश्यक मालूम हुआ होगा, वह कुछ समय बीतने पर उन लोगो के भी जीवन का व्यवसाय बन गया, जिन्हें स्वप्न में भी योगाभ्यास का खयाल नही होगा। जिस वस्तु को साधन के रूप में स्वीकार किया गया, वही साध्य बन गयी, ऐसा मुझे लगता है। धीरे-धीरे इसका महत्त्व इतना बढ़ गया कि मूर्ति-पूजा भक्ति-मार्ग का आवश्यक अंग-सी बन गयी अथवा भक्ति-मार्ग के समान मूर्ति-पूजा भी मानो उन्नति का एक स्वतंत्र साधन ही है, ऐसा महत्त्व उसे मिल गया।

'योगाभ्यासी के लिए भी मूर्ति-पूजा आवश्यक नहीं है और दूसरों के लिए तो वह अंधश्रद्धा, दम्भ, अबुद्धि, कृत्रिम क्रियाकाण्ड और ईश्वर तथा धर्म के नाम पर झगड़े बढ़ानेवाली वस्तु बन गयी है।

"कुछ लोग कहते हैं कि मूर्ति-पूजा तो मनुष्य-स्वभाव के साथ जुटी हुई है और यदि वह हटा दी जाय तो, दूसरे किसी रूप मे आ खडी होगी। परन्तु यह तो अस्पृश्यता के बारे में भी कहा जाता है। प्रश्न यह नही है कि वह दूसरा रूप लेकर आयेगी या नही। मुख्य प्रश्न केवल यही है कि आज जिस रूप मे वह हमारे सामने खडी है, वह रूप अनिष्ट है अथवा नही। फिर जब वह दूसरा वेश लेकर आयेगी और अनिष्ट उत्पन्न करेगी, तब यह जिम्मेदारी उस समय के लोगों की होगी कि वे उसे झूठी बताकर उसका निषेध करें। हम ता उसके आज के विकृत वेश को दूर कर दें, इतना ही काफी है।"

अंतिम कथन

'जीवन-शोधन' नामक अपनी पुस्तक में किशोरलाल भाई ने अध्यात्म और धर्म के प्राय प्रत्येक विषय पर अपने विचार प्रकट किये है। उनमें से केवल कुछ बहुत महत्वपूर्ण विषयो पर ही—जिनमें किशोरलाल भाई को भ्रमपूर्ण धारणाएँ दिखाई दी—उनके कुछ विचार ऊपर दिये गये हैं। किशोरलाल भाई ने साख्य, वेदान्त और योगसम्बन्धी विचारो का भी शोधन किया है। परन्तु सामान्य पाठको को उनमें दिलचस्पी नही होगी, यह सोचकर उनकी चर्चा यहाँ नही की गयी है।

'जीवन-शोधन' पुस्तक के अन्त में उन्होने 'अतिम कथन' शीर्षक यह अध्याय लिखा है

"ये सारे लेख निन्दा-बुद्धि से नही लिखे गये है। परन्तु भ्रामक आदर्श और कल्पनाएँ अथवा सच्चे आदर्श की झूठी कल्पनाएँ सत्य के दर्शन में कितनी बाधक होती है और इस कारण कितना श्रम व्यर्थ ही गलत दिशा में चला जाता है, इसके अवलोकन और प्रत्यक्ष अनुभव पर से यह लिखा है।

"इस पुस्तक के निष्कर्ष के रूप में मुझे जो कहना है, वह सूत्ररूप में लिख दूँ, तो वह पाठकों के लिए ठीक होगा। परन्तु वे इतना अवश्य याद रखें कि ये सूत्र इस पुस्तक का लघुदर्शन (Summary) नहीं है।

(१) 'वेद-धर्म' नाम यदि सार्थक है, तो वह—ज्ञान का—अनुभव का धर्म है। इसका यह दावा है कि जो भी अतिम प्राप्तव्य है, वह इस जीवन में ही सिद्ध हो

सकता है। शास्त्र केवल अपनी प्राचीनता के कारण अथवा प्रसिद्ध ऋषियों के द्वारा रचे जाने के कारण मान्य नहीं हो सकते। वे उतने ही अंश में विचारणीय हैं कि जितने अंश में उनके भीतर जीवन के मूल प्रश्नों के विषय में अनुभव के—अथवा अनुभव प्राप्त करने में मार्गदर्शक होनेवाले वचन हैं। फिर ये शास्त्र प्राचीन हों या अर्वाचीन, प्रतिष्ठा पाये हुए हों या न भी हों, संस्कृत, प्राकृत या संसार की अन्य किसी भी भाषा में लिखे हुए हों। अनुभव की वाणी जीवित मनुष्य की हो या मृत की, वह विचार करने के योग्य है।

(२) अनुभव यथार्थ और अयथार्थ—दोनों प्रकार का हो सकता है। फिर अनुभव और अनुभव का खुलासा (उपपत्ति), इन दोनों में भेद है। इसलिए अनुभव अथवा उपपत्ति भी केवल विचारणीय ही मानी जानी चाहिए। वह जिस अंश में हमें अपने अनुभव में सही मालूम हो, उतने ही अंश में मान्य की जाय।

(३) प्राचीन काल से लेकर आज तक जिस अंश में गहन विचारकों के अनुभव और उसकी उपपत्ति में समानता होगी, उतने ही अंशों में शास्त्र प्रमाणभूत होंगे।

(४) इस शास्त्र-प्रमाण तथा अनुभव-प्रमाण के अनुसार सर्वत्र समान रूप से व्याप्त एक आत्मतत्त्व है। यह सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य है। इसकी खोज ज्ञानरूपी पुरुषार्थ का अंतिम ध्येय है। यह ध्येय मृत्यु के बाद नहीं—इसी जीवन में सिद्ध करना चाहिए।*

(५) इसके लिए कृत्रिम पूजा, वेश, कर्मकाण्ड की जरूरत नहीं है। मनुष्य अपने देश, काल, उम्र, जाति, शक्ति, संस्कार, शिक्षण आदि को ध्यान में रखकर, निरंतर सावधान रहकर, योग्यायोग्यता और धर्माधर्म का सावधानी से विचार करके समाज के और अपने जीवन के धारण, पोषण और सत्त्व-संशुद्धि के लिए आवश्यक कर्म करे, चित्त-शोधन का अभ्यास करे, तो वह जीवन के ध्येय को प्राप्त

---

*हम जन्म-मरण से छूट जायें, यह जीवन का उचित ध्येय नहीं। जन्म-मरण का भय छोड़कर हम अपनी मनुष्यता को बढ़ायें। इसके लिए पुरुषार्थ करना चाहिए।

कर सकता है और गुणो का जो स्वाभाविक विकास तथा पराकाष्ठा का क्रम होगा, उसे गति दे सकता है।

(६) सारासार-विवेक की दृष्टि से एक सामान्य पुरुषार्थी मनुष्य के लिए आचार, वाणी या वेश में जो बात अनुचित मालूम पडे, वह एक सिद्ध या मुक्त मनुष्य कर सकता है, ऐसे वचन में अज्ञान, पागलपन अथवा पाखण्ड है।

(७) एक ओर अनुभव और दूसरी ओर तर्क, अनुमान और कल्पना, इनके बीच बड़ा भेद है। अनुमान को सिद्धान्त समझना या कल्पना को सत्य समझना बडी भूल है। सत्य-शोधन में ये भूलें बहुत बडे विघ्न पैदा कर देती है। जिस चीज का प्रत्यक्ष अनुभव नही है, उसके विषय में सशक अथवा तटस्थ रहना सत्य शोधक का कर्तव्य है।

(८) इसी प्रकार 'वाद' और सिद्धान्त' के बीच भी भेद है। प्रत्यक्ष परिणामो अथवा अनुभवो के अगोचर कारणो के विषयो में या प्रत्यक्ष कर्मों के अगोचर फलो के विषय में सयक्तिक कल्पना 'वाद' है। किन्तु 'सिद्धान्त' अनुभव अथवा प्रयोग से सिद्ध अचल नियम है। 'वाद' को 'सिद्धान्त' समझने की भूल नही करनी चाहिए। यह चाहे कितना ही सयुक्तिक और सतोषप्रद मालूम हो, फिर भी इसी विषय को समझाने के लिए अन्य कोई दूसरा ही वाद पेश करे, तो उसकी किसीको शिकायत नहीं होनी चाहिए। बल्कि इस वाद के मानने-वाले के मन पर इसके फलस्वरूप जो सस्कार दृढ हो गये है, उन सस्कारो के गुण-दोष की दृष्टि से इस वाद की समालोचना या शुद्धि करना जरूरी हो सकता है। इससे अधिक इस वाद के खण्डन-मण्डन के अथवा उसी वाद को पकडकर बैठने का आग्रह नही रखना चाहिए।

(९) सत्यशोधक में तटस्थता निराग्रह, निष्कामता या नि स्पृहता जैसे गुण और पूर्वग्रह का त्याग अवश्य होना चाहिए। अमुक आग्रह या मान्यता मै नही छोड सकता, इस तरह का आग्रह सत्य-शोधन में बाधक होता है। किसी मान्यता अथवा कल्पना में भव्यता है, इसलिए उसे पकड करके बैठ जाने का आग्रह भी बाधक है। शास्त्र में से एकवाक्यता पैदा करने का आग्रह भी सत्य की खोज में बाधक है। शोधन का विषय शास्त्र नही, बल्कि आत्मा या चित्त

और यह शास्त्रो में नही, हमारे अन्दर है। बुनने की कला सीखने में इस विषय की पाठ्य-पुस्तक का सीखने में जितना उपयोग हो सकता है, केवल उतना ही उपयोग शास्त्रो का जीवन में हो सकता है। परन्तु जिस प्रकार बुनाई सीखने का अधिक उचित साधन पाठ्य-पुस्तक नही, बल्कि कारखाना और अधिक अनुभवी बुनकर होते है, इसी प्रकार आत्म-शोधन का अधिक योग्य साधन शास्त्राध्ययन नही, बल्कि हमारा अपना चित्त और सद्गुरु तथा सत्पुरुषों का भक्तिपूर्ण सत्सग है।

(१०) भाषा की अस्पष्टता विचारो में अस्पष्टता निर्माण करती है। इसलिए तत्त्वचिन्तक को इस बारे में भी सावधान रहना चाहिए।

(११) सत्य-शोधक में व्याकुलता, जिज्ञासा, शोधक बुद्धि, सत्त्व-संशुद्धि, विचारमय और पुरुषार्थी जीवन, पूज्यजनो और गुरुजनों में भक्ति, आदर, संसार के प्रति निष्काम प्रेम, धैर्य, अध्यवसाय, कृतज्ञता, धर्मशीलता, आत्मा और परमात्मा को छोड़कर दूसरे किसी आलम्बन के विषय में निःस्पृहता—इतने गुण तो अवश्य होने चाहिए।"

२. केळवणी (शिक्षा)

गुजराती भाषा के 'केळवणी' शब्द में जितना अर्थ आ जाता है, उतना इसके लिए प्रयुक्त अन्य किसी भी भाषा में शायद ही होगा। हिन्दुस्तानी 'तालीम' शब्द में शायद वह पूरा अर्थ आ जाता है। उसके लिए संस्कृत शब्द का प्रयोग करना चाहें, तो किशोरलाल भाई कहते हैं, 'संस्क्रिया' अथवा 'संस्करण' शब्द का प्रयोग करना पड़ेगा। 'संस्क्रिया' का अर्थ है—शरीर, मन, वाणी, आदत, लगन, बुद्धि आदि में जो भी अव्यवस्था हो, उसे व्यवस्थित करने की क्रिया। फिर केळवणी के लिए जिन भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उन पर विचार करके उन्होंने बताया है कि वे किस प्रकार अधूरे पड़ते हैं। इसका उन्होंने विवेचन भी किया है।

केळवणी और शिक्षण

'केळवणी' के अर्थ में प्रायः 'शिक्षण' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'शिक्षण' का अर्थ है सीखना और खास तौर पर नयी चीज सीखना। जो चीज

मालूम नही है, उनके बारे में जानकारी देने का अर्थ है शिक्षण। किशोरलाल भाई कहते है —

"परन्तु 'केळवणी' शिक्षण में समाप्त नही हो जाती, क्योंकि शिक्षण अधिकांश में परोक्ष होता है। जिस देश की जानकारी हम प्राप्त करते है, वह जानकारी सही है या गलत, यह तो हमने वहाँ जाकर प्रत्यक्ष देखा नही। जिस भाषा का अर्थ करके हम उसे जानते है,उस देश के लोगो से हमारा प्रत्यक्ष परिचय होता नही। जिस देश के इतिहास की बातें हम पढते है, उनके मूल आधारो की खोज हमने की नही होती। इस तरह शिक्षण से हम जो प्राप्त करते है, वह परोक्ष होता है। इस परोक्ष ज्ञान को जब हम अपनी जाँच-पडताल से ठीक करते है, तब वह प्रत्यक्ष ज्ञान बनता है। ज्ञान जब तक परोक्ष अर्थात् केवल सीखा हुआ होता है, तब तक उसके प्रति हम केवल श्रद्धा रख सकते है। यह श्रद्धा गलत भी हो सकती है। जिस वस्तु के बारे में केवल श्रद्धा होती है, सच पूछिये, तो वह ज्ञान—अर्थात् जानी हुई अनुभूत वस्तु नही, केवल मान्यता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए जानकारी को प्रत्यक्ष करने की जिज्ञासा और आदत होनी चाहिए। जिज्ञासा और आदत सस्कार का विषय है। यह सस्कार प्रदान करना 'केळवणी' का एक अग है।

"शिक्षक अथवा माता-पिता विद्यार्थी को अनेक वस्तुओ का परोक्ष ज्ञान दे सकते है, परन्तु अनेक वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान नही दे सकते। यह तो प्राय विद्यार्थी को ही जब कभी सभव हो, स्वय प्राप्त करना पडता है। परन्तु यदि कोई शिक्षक ज्ञान को—प्रत्यक्ष करने की जिज्ञासा विद्यार्थी में उत्पन्न कर सकता है और इस विषय की आदत उसे डाल सकता है, तो हम कह सकते है कि उसने ज्ञान-प्राप्ति की एक चाबी विद्यार्थी के हाथ में दे दी। 'केळवणी' का अर्थ केवल जानकारी देकर रुक जाना नही है। बल्कि ज्ञान-प्राप्ति की अलग-अलग चाबियाँ देना भी होता है। इस तरह 'शिक्षण' की अपेक्षा 'केळवणी' में अधिक अर्थ है।

"परन्तु कितनी ही वस्तुओ के बारे में परोक्ष ज्ञान भी न हो, तो मनुष्य घाटे में रह जाता है। इसलिए यह मानने की जरूरत नही कि शिक्षण निरर्थक है। परन्तु मनुष्य जिस स्थिति में है, उसका विचार करके उचित प्रमाण में ज्ञान

प्राप्त करने की आदत यदि वह नहीं डालता है, तो उसकी सारी जानकारी मिथ्या पाण्डित्य ही मानी जायगी। उसका उपयोग न खुद उसे होगा, न समाज को।

केळवणी और विनय

"अंग्रेजी के 'एज्यूकेशन' और संस्कृत के 'विनय' शब्द भी केळवणी का पूरा अर्थ नहीं सूचित करते। 'एज्यूकेशन' का अर्थ है 'बाहर (अर्थात् अज्ञान के बाहर) ले जाना और 'विनय' का अर्थ आगे (अर्थात् थोड़े ज्ञान में से अधिक ज्ञान की ओर) ले जाना है। सामान्य भाषा में विनय का अर्थ नम्रता, अच्छा—सभ्य व्यवहार—है। हम आशा करते हैं कि विद्यार्थी में विनय हो। जिसमें यह नम्रता, सभ्य व्यवहार नहीं, उसे हम सुशिक्षित—(केळवामेळा)—नहीं कहते। दूसरी ओर जो पढ़ा-लिखा तो नहीं है, किन्तु जिसमें आचार की सभ्यता तो है, तो उसे हम सुसंस्कारी—('केळवायेळा') समझते हैं। तात्पर्य, शिक्षण की अपेक्षा विनय का महत्त्व अधिक है और 'केळवायेळा' मनुष्य में इन दोनों की अपेक्षा रखी जाती है।

"परन्तु 'केळवणी' केवल विनय और बाहरी सभ्य व्यवहार में भी समाप्त नहीं होती। बल्कि व्यवहार और वाणी के विषय में अपनी बुद्धि से विचार करके भले-बुरे का निश्चय करना और मन, वाणी और कर्म को उसके अनुसार व्यवस्थित करने की अपेक्षा 'केळवणी' में होती है। जब तक विवेक-बुद्धि व्यवस्थित नहीं हो जाती, केळवणी अधूरी रह जाती है।

केळवणी और विद्या

"विद्या" से भी केळवणी में अधिक अर्थ है। केळवणी विद्या से ऊँची वस्तु है। आदमी बहुत-सी विद्याएँ जानकर भी नीतिरहित हो सकता है। अर्थात् सारे विद्या-सपन्न मनुष्य 'केळवायेळा' होते ही है, सो बात नहीं। केळवणी को नीति-विचार से अलग नहीं किया जा सकता। विद्या के साथ-साथ मनुष्य में नीति विचार का भी विकास होगा, तभी और उतने ही अंश में उस विद्या को केळवणी में स्थान मिल सकेगा।

"विद्या और केळवणी के बीच का भेद एक अन्य प्रकार से भी समझाया जा सकता है। हम यह कहते हैं कि विद्या में केवल एक अंग है, परन्तु केळवणी

के दो अथवा वहुत-सी आँखें होती है। विद्या-रसिक मनुष्य जिस वस्तु के पीछे पड जायगा, केवल उसीको वह देख सकता है। चित्र-विद्या के पीछे पडे, तो केवल इतना ही वह देखेगा कि चित्र विद्या में प्रवीणता प्राप्त करनी है। चित्र के साथ-साथ सत्य, नीति, जनहित, उपयोगिता इत्यादि कहाँ तक है, इनका विचार वह नही करता। केळवायेळा' मनुष्य चित्र विद्या विषयक प्रवीणता को अवश्य स्वीकार करेगा, परन्तु साथ ही सत्य, नीति, जनहित और उपयोगिता के विषय में लापरवाह नही रहेगा।

विज्ञान और केळवणी

"जिस प्रकार विद्या और केळवणी के बीच भेद है, उसी प्रकार विज्ञान और केळवणी के बीच भी भेद है। विज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। अर्थात् इसमें शिक्षण की अपेक्षा अवश्य ही अधिक केळवणी है। फिर भी विज्ञान में (अर्थात् पदार्थों के अनुभवयुक्त विशेष ज्ञान में) भी केळवणी की पूर्णता नही हो जाती। इसका कारण यह है कि विज्ञान आत्मोन्नति और जनहित का सदैव ध्यान नही रखता। केळवणी इन चीजो को पलभर के लिए भी छोड नही सकती। विज्ञान और केळवणी के बीच यही मुख्य भेद है। प्रत्येक वस्तु की खोज करनेवाला अवश्य ही विज्ञान शास्त्री कहा जायगा। इससे भी अधिक, वह शायद मूल कारण तक भी पहुँच जाय, उसकी खोज का ससार का कुछ उपयोग भी हो, परन्तु सम्भव है कि यह विज्ञान इस मनुष्य के लिए शान्तिप्रद और ससार के लिए हितकारी शायद न भी हो। इस तरह देखे, तो केळवणी विज्ञान की विरोधिनी तो नही, परन्तु विज्ञान से विशेष है।

"विज्ञान की जिस शाखा के बगैर केळवणी अधूरी रह जाती है, वह है चित्त की भावनाओ का विकास और इस दृष्टि से चित्त के मूल का शोधन है। भावनाओ की शुद्धि, विकास और चित्त का शोधन—यह विज्ञान—केळवणी का खास अंग है। इससे रहित दूसरा विज्ञान—प्रकृति के नियमो का और अनुभवो का भण्डार—बहुत बडा है। परन्तु वह हमें शान्ति देगा अथवा उससे हमारा जीवन अधिक सुखी होगा, इसका कोई निश्चय नही है। अनेक बार तो विज्ञान में रूप होने की शक्ति भी होती है।

"फिर भी यद्यपि विज्ञान से केळवणी की परिसमाप्ति नही होती, तथापि विज्ञान के सस्कारो के बगैर केळवणी का काम नही चल सकता, यह बात मै जोर देकर कहना चाहता हूँ। इन सस्कारा का अर्थ है, अवलोकन और तुलना करने की आदत।"

केळवणी और अभ्यास

इसके बाद वे समझाते है कि केळवणी में अभ्यास का कितना महत्त्व है.

"अभ्यास का अर्थ है एक ही काम को बार-बार करना। अभ्यास के महत्त्व को हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल में ही पहचान लिया गया है। परन्तु अभ्यास के साथ जो दूसरे अग भी जुडे हुए है, उनकी ओर हमारा ध्यान नही गया है। शारीरिक, मानसिक, कोई भी शक्ति प्राप्त करने के लिए अर्थात् इस पर पूरा-पूरा अधिकार पाने के लिए अभ्यास के बगैर काम नही चल सकता। अभ्यास के बिना सस्कार दृढ नही होते। इसलिए हम जिस किसी तरह अभ्यास करने या प्रयास करते है। प्रत्येक क्रिया तीन प्रकार से की जाती है। भय से, लालच से या उस क्रिया के प्रेम से भय से और लालच से भी सस्कार डाले जा सकते हैं। अधिकाश में इन्हींमें से एक या दोनो के द्वारा अभ्यास कराने का यत्न किया जाता है। इस तरह से अभ्यास कराना अभ्यास करानेवाले के लिए आसान पडता है। इसमें अभ्यास करनेवाले की विवेक-बुद्धि को विकसित नही करना पडता। सरकस के मालिक जानवरो को भय दिखाकर ही तैयार करते है। शालाओं में शिक्षक भी प्राय इसी पद्धति से काम लेते हैं। बहुत से सम्प्रदाय-प्रवर्तको ने भी इसी प्रकार भय या आशा दिखाकर समाज में अच्छी आदतें डालने का यत्न किया है। ये आदतें कभी-कभी दृढ भी हो जाती हैं, परन्तु केवल मूढतापूर्वक। इनका रहस्य लोग नहीं जानते। जो भय या आशाएँ बतायी गयीं है, यदि वे हट जाती है, तो सैकडो वर्षों से पडी हुई आदतें बहुत थोडे समय में मिट जाती हैं। थोडे समय की अग्रेजी शिक्षा के सस्कारो ने हमारे समाज के सयम के अति प्राचीन सस्कारो को देखते-देखते उडा दिया। इसका कारण यदि खोजने जायें, तो यही दिखेगा कि इन सस्कारा को यमदण्ड अथवा स्वर्ग-सुख के साथ जोड दिया गया था। किसी भी कारण से इस भय अथवा आशा पर से श्रद्धा

हटते ही और मोटे तौर पर संपूर्ण प्रतीत होनेवाले आधिभौतिक वाद पर श्रद्धा जमते ही वह संयम चला गया। शुष्क वेदान्त का भी बहुत से लोगों के जीवन पर ऐसा ही परिणाम हुआ है। जैन धर्म में तप और संयम पर बड़ा जोर दिया गया है। फिर भी कितने ही जैन साधुओं और गृहस्थों में इतनी चरित्रभ्रष्टता सुनी गयी है कि दिल कांप जाता है। इसका कारण यही हो सकता है कि इस तप और संयम का स्वीकार उसके अपने महत्त्व के और प्रेम के खातिर नहीं, बल्कि किसी भय के निवारण या सुख प्राप्ति की आशा से किया होता है। ज्यों ही मनुष्य समझने लगा है कि ये भय अथवा सुख केवल कल्पनामात्र है त्यों ही ये तप और संयम पतझड़ के मौसम में उड़नेवाले पत्तों की भाँति झड़ गये होंगे।

'तात्पर्य यह है कि अभ्यास और अभ्यास की क्रिया पर प्रेम होगा, तभी यह अभ्यास मनुष्य को लाभदायक हो सकता है। यह अधिक कठिन है। इसमें अभ्यासी की विचार-शक्ति जाग्रत होने की आवश्यकता है। इसमें प्रेम होने के लिए उसमें उपयोगी होनेवाले गुणों का विकास हो जाना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास अतिशय धीमा ही हो सकता है।

"परन्तु आज अभ्यास की आवश्यकता पर कितने ही लोगों को अश्रद्धा होती दिखाई पड़ती है। वे अभ्यास के बजाय साहचर्य के नियम पर जोर देते हैं। इस अश्रद्धा का कारण अभ्यास के नियमों के विषय में हमारी शालाओं में पोषित गलत खयाल ही है। शालाओं में अभ्यास का उपयोग तो हम अंक तथा कविताएँ घोखने में होता देखते हैं। शिक्षकों का खयाल है कि घोखने से अंक और कविता याद रहती है। इसलिए याद रखने के लिए घोखने की जरूरत है।

'साहचर्य के नियम के जानकारों का कहना है कि यह केवल भ्रम है। हमारी शक्ति मूलतः ही इतनी पूर्ण होती है कि यदि एक बार किसी चीज को जान लेते हैं, तो वह भूलती नहीं। परन्तु जिस चीज को हम याद करना चाहते हैं, उसे स्मृति में ठीक से भरने की कला याद होनी चाहिए।

"इसलिए ऐसा नियम बनाया जाता है कि किसी वस्तु को याद करने के लिए केवल उसीको याद रखने का यत्न करना गलत पद्धति है। सही पद्धति यह है कि हर क्रिया करते समय आसपास की सभी बातों पर नजर डाल लेनी चाहिए। सुई रखने जायँ, तो सुई के साथ दूसरी कौन-कौन चीजें वहाँ पड़ी

यह देख लेना चाहिए। यह डिब्बा कहाँ रखा है, इसके साथ और क्या-क्या है, यह सब ध्यान में रख लेना चाहिए। ऐसा करने से सूई कहाँ रखी है, इसका खयाल करते हैं, तो आसपास की दूसरी चीजों की भी स्मृति जाग्रत हो जाती है और सूई का स्थान याद आ जायगा।

"स्मृति में किसी भी वस्तु की छाप डालने के लिए एक संस्कार काफी है। इस छाप का हमें बार-बार उपयोग करना होगा। इससे अपने-आप—अनायास अभ्यास हो जायगा। इस छाप को जाग्रत करने में अधिक समय न लगे, ऐसी आदत डालने के लिए ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि जिससे एक ही संस्कार से स्मृति जाग्रत हो सके, ऐसी छाप इसके साथवाले सम्बन्धों की पड़नी चाहिए।

"साहचर्य का नियम कहता है कि नयी चीज जल्दी सीखनी हो, तो मनुष्य की वृत्ति अत्यंत सावधान होनी चाहिए। सारा ध्यान वहीं हो। अभ्यास का नियम कहता है कि सीखी हुई चीज को दृढ़ और जब चाहें तब काम में आने लायक बनानी है, तो उसकी बार-बार आवृत्ति होनी चाहिए।

"सद्गुण, दुर्गुण, अच्छे और बुरे काम करने की आदतें, ये सब अभ्यास से होती हैं। केवल विवेक से अच्छे कामों के प्रति आदर हो सकता है, उसकी महिमा समझी जा सकती है। भले-बुरे का भेद आदमी जान सकता है। परन्तु जो अच्छा है, उसके आचरण और जो बुरा है, उसे टालने के लिए तो अभ्यास की ही जरूरत है। यह अभ्यास जबरदस्ती से या लालच से कराया जायगा, तो इससे उन्नति ही होगी, ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए। इसलिए यह अभ्यास विचारपूर्वक और उसके प्रति प्रेमपूर्वक ही होना चाहिए। अभ्यास के बगैर केळवणी पूरी नहीं होती, इसका अर्थ यही है कि अभ्यास के बगैर सिखायी हुई वस्तु हजम नहीं होगी।'

केळवणी और विवेक-बुद्धि

इसके बाद केळवणी और विवेक-बुद्धि के बारे में विचार करते हुए किशोरलाल भाई कहते हैं

'विवेक-बुद्धि को मैं इष्ट देवता के समान पूज्य मानता हूँ। धर्म, भक्ति, ध्यान, ज्ञान, अभ्यास, तप इत्यादि विविध साधना के द्वारा व्यावहारिक जीवन में

यदि कोई वस्तु प्राप्त करने लायक है, तो वह विवेक बुद्धि का विकास है। किन्ही देवादिकों के दर्शन या ऋद्धि-सिद्धियों की मुझे तृष्णा नही है। परन्तु भक्ति आदि से यदि देवता प्रसन्न हों, तो मैं तो यही चाहूँगा कि वे मेरी विवेक-बुद्धि को विकसित और शुद्ध करें।

"यह विवेक क्या है ?

" 'विवेक' का अर्थ केवल सभ्यतायुक्त व्यवहार नही है। यह तो है ही। विवेक का शब्दार्थ विशेष अथवा सूक्ष्म विचार होता है। हम जो कुछ चाहते हैं, करते हैं, सीखते हैं, मानते हैं, सो क्यों सीखते, मानते और करते है, यह हमेशा सोचकर ही सीखते, मानते और करते नही हैं।

"अविचारपूर्वक किये गये काम, मान्यता या शिक्षण हमेशा खराब ही होते हैं, यह मेरा मतलब नही है। परन्तु सु-कर्म, सु-शिक्षण और सु-श्रद्धा मे भी यदि विचार न हों, तो उनमें खामियाँ रह जाती हैं। एक तो यह कि विचारपूर्वक किये गये काम में जो गुणों को प्रकट करने और उन्हें दृढ़ करने की शक्ति होती है, वह विचारहीन कर्म में नही होती। दूसरे, आदत चाहे कितनी ही पुरानी हो, उसे राग-दोष अवश्य हानि पहुँचा सकता है। उदाहरण के लिए मैं कीड़े-मकोड़ों को भी नही मारूँ, यह अवश्य एक सुकर्म है। परन्तु यदि इस सुकर्म की आदत मुझे केवल वंश-परंपरा के संस्कारों से ही पड़ी है, गुरुजनों के उपदेश से अथवा नरक की भीति या स्वर्ग-सुख के लालच से ही पड़ी है और उसमें स्वतंत्र रूप से मैंने कोई विचार कायम नही किया है, तो इस कर्म से जिस गुण की वृद्धि होनी चाहिए, वह नही होगी।

"संक्षेप में जब तक मेरे कर्म के पीछे जिस गुण या इच्छा का बीज होगा, उसके बारे में मेरे अपने हृदय में विवेक-विचार नहीं जागेगा, तब तक मेरे भीतर वह शक्ति नही आयेगी कि मैं इन गुणों का सब कामों में विस्तार करूँ। अथवा क्या करना और क्या नही करना, इस विषय में इस गुण में रहकर विचार करूँ, राग-दोष न लगने दूँ और दोषयुक्त गुण, इच्छा अथवा आदतों को टालूँ।

"विवेक के उत्कर्ष को मैं जीवन का और इसलिए 'केळवणी' का अन्तिम ध्येय मानता हूँ। अवलोकन (अर्थात् शोधन की जिज्ञासा और बारीकी) की

तीव्रता, उचित भावो के पोषण के फलस्वरूप होनेवाला भावनाओ का विकास और सपूर्ण जाग्रति का अभ्यास—इस तरह मैं 'केळवणी' के विभाग करता हूँ।

"इनमें कुछ और भी जोडने की जरूरत है। केवल विवेक-बुद्धि, सारासार की यथार्थ पहचान और निर्णय करने की शक्ति, ये सब एक गुण के अभाव में निष्फल हो सकते है। वह गुण है—दृढता अथवा धृति। जो बात विवेक के द्वारा निश्चित की है, उसे मजबूती के साथ पकडे रहने की शक्ति मनुष्य में होनी चाहिए। यह दृढता, धृति ही आत्मबल, मनोबल आदि कही जाती है। तालीम से जिस प्रकार मनुष्य के स्नायु बलवान् हो सकते है, उसी प्रकार धृति भी बलवान् हो सकती है।"

जीवन में आनंद का स्थान

हमारी शालाओं और सुधरे हुए समाज में साहित्य, सगीत और कला के नाम पर जो अनर्थ किया जाता है और उसके नाम पर जिस प्रकार विलासिता और नैतिक शिथिलता का पोषण किया जाता है, उस पर किशोरलाल भाई ने कई बार सख्त आपत्ति की है। फिर वे जीवन की 'केळवणी' में और जीवन के विकास में साहित्य, सगीत और कला को बहुत ऊँचा नही, बल्कि सीमित ही स्थान देते हैं। इस कारण जो लोग उनके प्रत्यक्ष परिचय में नही आ सके है, उन्हें तो ऐसा भी लग सकता है कि वे जीवन में आनद को कुछ स्थान देते भी थे या नही। इस पर से उन्होने अपनी 'केळवणीना पाया' नामक पुस्तक में 'जीवन में आनद का स्थान' शीर्षक से एक लम्बा प्रकरण लिखकर इसका विस्तृत विवेचन किया है। उनके सामने प्रश्न यह था कि "उन्नति की अथवा सत्यशोधक की दृष्टि से आप (किशोरलाल भाई) काल्पनिक वार्ता, साहित्य, सगीत, कला आदि पर टीका करते हैं। तब क्या आनद में मनुष्य की उन्नति करने की कोई शक्ति ही नहीं है और इसलिए बच्चो को आनदित करने के लिए शिक्षक को कुछ करना चाहिए या नही ?"

इसका उत्तर देते हुए किशोरलाल भाई कहते है :

"इस विषय पर विचार करने के लिए आनद की भावना का थोडा विश्लेषण करना होगा। चित्त की प्रसन्नता का नाम ही यदि आनद है, तो चित्त जब अपनी

स्वाभाविक स्थिति मे रहता है तब प्रसन्न होता है और हम कह सकते है कि वह आनद में है। चित्त की प्रसन्नता केवल बाहर से निर्माण की जानेवाली स्थिति नही है। यह तो चित्त का आतरिक धर्म ही है। परन्तु हमारे चित्त के तार निरतर हिल्ते ही रहते है। ता, जिस प्रयत्न से यह गति ऐसी नियमित हो जाय कि चित्त बार-बार अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करता रहे, वह प्रयत्न प्रसन्नता लाने के लिए अनुकूल कहा जायगा।

'परन्तु प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए किया गया प्रत्येक प्रयत्न यह उद्देश्य पूरा करने में समान रूप से सफल नही होता। इसका एक कारण तो हमारे प्रयत्नो की गलत दिशा ही होती है। हम प्रसन्नता को भीतर से देखने और विचार की सहायता स विकसित करने के बदले हम उसे बाहर से देखने और बाहरी वस्तुओ द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। हम भूल जाते है कि बाहर की वस्तुओ से हमें कई बार जो आनद प्राप्त होता है उसका कारण हमारे चित्त की आतरिक प्रसन्नता होती है। वह आनन्द वस्तु की किसी मोहकता के कारण नही मालूम होता।

"मैंने देखा है कि कितने ही बाहर से विनोदी और खुशमिजाज माने जानेवाले आदमियो के हृदय किसी भारी शोक के भार से दबे हुए पाये जाते है। वे दूसरो को इतना हँसा सकते है कि हँसते-हँसते वे लोट-पोट हो जायँ। उतनी देर के लिए वे स्वय भी बडे आनदमग्न मालूम होते है। परन्तु भीतर से तो उनके हृदय में मानो होली जलती रहती है। इसके विपरीत दूसरे कुछ लोग ऐसे होते है जो मानो काजीजी दुबले क्या शहर के अँदेशे से कहावत के अनुसार चिन्ता का भार अपने सिर पर लिये घूम रहे हो। वे शायद ही कभी गपशप लगानेवाले मित्र-मण्डलो में जाकर बैठते है। वे सदा जीवन के गम्भीर प्रश्नो पर विचार चिन्तन किया करते है। फिर भी उनमें कभी-कभी ऐसी प्रसन्नता देखी जाती है कि जिसकी कल्पना भी ये खुशमिजाज लोग नही कर सकते होगे।

'जिस समय हम भीतर से प्रसन्नता अनुभव कर रहे हो तब बाहर सृष्टि के प्रति हमारी भावना—हमारा आनद या हमारा शोक—और भीतर की प्रसन्नता का ताल खो गया हो, तब कृत्रिम उपायों से आनदित होने का प्रयत्न इन दोनो के बीच के अतर को हम कुछ विचार करने पर जान सकते है।

"जब किसी कारण मैं अपनी प्रसन्नता खो बैठता हूँ, तब अपने आचरण मे ही मुझे सन्तोष नही मिलता। तब मैं हिमालय, कश्मीर, महाबलेश्वर या अपना देश छोड़कर दूर कही जाना चाहता हूँ। परन्तु उन स्थानो से मैं ममत्व नही बाँध सकता, तब उनके रग रूप और सौंदर्य से आनदित होने का यत्न करता हूँ। मेरी प्रसन्नता खो गयी है इसलिए मैं बाहरी सुदरता को ध्यानपूर्वक देखता हूँ। अपनी प्रसन्नता के अभाव मे सामान्य वस्तुओ में बसनेवाली प्रसन्नता को देखने-पहचानने की मेरी बुद्धि जड बन जाती है। इसलिए जो वस्तु असामान्य होने के कारण मेरी इन्द्रियो को अपनी ओर खीचती है उसे मैं सुन्दर मान लेता हूँ। जब मुझे भीतरी प्रसन्नता होती है, तब तो अपने कपास के खेत को देखकर भी मुझे खुशी होती है। किन्तु प्रसन्नता के अभाव में कश्मीर का केसर का खेत देखने के लिए मैं तरसने लगता हूँ जिसकी रखवाली बिजली के दीपक जलाकर की जाती है।

अपनी भीतरी प्रसन्नता के समय जब मैं किसीके सपर्क में आता हूँ, तब अपने सस्कारो के वश होकर मैं विविध प्रकार की क्रियाएँ करता हूँ। उनमें अपना सारा हृदय उँडलता रहता हूँ। इसमें मेरा मुख्य उद्देश्य अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने का और सामनेवाले व्यक्ति को उसकी छूत लगाने का होता है। छोटा-सा बच्चा आये और मेरे पास कहानियो का भण्डार हो तो मै उसे सुनाकर मै उसे प्रसन्न करने का यत्न करता हूँ। यदि कहानियो का भण्डार न हो अथवा उस विषय में मेरे विवेक की कसौटी कडी हो, तो मैं कोई दूसरा तरीका खोजता हूँ। माता पिता हो, तो उनकी मनपसन्द या आवश्यक सेवा करने के लिए प्रेरित होता हूँ। यदि मेहमान आते है तो उनकी और अपनी रुचि और अरुचियो का मेल साधकर उनकी आवभगत करने का यत्न करता हूँ। यदि कोई गरीब आदमी आ जाता है, तो उसे अपनी चीज देने की प्रेरणा मुझे होती है और कोई बीमार दिखता है, तो उसकी परिचर्या करना चाहता हूँ। इस प्रकार अपनी आतरिक प्रसन्नता के कारण इसमें से किसी-न किसीके लाभ के लिए अपनी किसी वस्तु या शक्ति का किसी भी तरह त्याग करने की दृष्टि से मेरी सारी क्रियाएँ होती है। इस त्याग का मुझे पश्चात्ताप नहीं होता। बल्कि उल्टे कृतार्थता और धन्यता मालूम होती है। फिर यह त्याग चाहे कितना ही कीमती क्यो न हो।

'किन्तु आन्तरिक प्रसन्नता के अभाव में ये सारी की सारी क्रियाएँ ऐसी ही हो, मेरा त्याग कितना भी बड़ा क्या न हो, तो भी वह सब बोझ रूप मालूम पड़ता है। समय-पत्रक में कहानी कहने का समय है, इसलिए कहानी कहनी पड़ती है। माता-पिता की आज्ञा है, इसलिए उनके पैर दबाने के लिए बैठना पड़ता है। मेहमान आये है, इसलिए उनकी व्यवस्था करनी पड़ती है। चन्दा लेने के लिए कोई नेता आये है, इसलिए चन्दा देना पड़ता है। बीमार को कही ले जाकर फेंका नही जा सकता, इसलिए सेवा होनी है। इन सब कामो में चाहे कितने ही खुले हाथो खर्च किया हो उनके साथ कितना ही अट्टहास क्या न जोड़ा गया हो, फिर भी इन सबमे कृतार्थता अथवा धन्यता का अनुभव नही होता।

"सच पूछिये तो प्रसन्नता हर्ष उत्पन्न करनेवाली भावनाओ के लिए विशेष पक्षपात करनेवाली और शोक उत्पन्न करनेवाली भावनाओ को नापसद करनेवाली नही होती, क्योकि हर्ष और शोक दोनो हमारे चित्त की तरगो के अनिवार्य पहलू होते है। ऐसी कोई बात नही कि हर्ष उत्पन्न करनेवाली भावनाएँ प्रसन्नता लाती ही है और शोक उत्पन्न करनेवाली भावनाएँ प्रसन्नता का नाश करनेवाली ही होती हो। परन्तु अमुक प्रकार के हर्ष और शोक प्रसन्नता के काल को समान रूप से निकट लानेवाले होते है।

इसके अलावा, प्रसन्नता मे से उत्पन्न होनेवाला आनद किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुँचाये बिना या बोझ रूप हुए बिना (भोगना हो तो) भोगा जा सकता है, जब कि बाहरी वस्तुओ से प्राप्त किये जानेवाले आनद में वे वस्तुएँ उत्पन्न करने में तथा उनके द्वारा आनन्द भोगने में भी अनेक निर्दोष प्राणियो को कष्ट उठाना पड़ता है। ताजमहल या अजन्ता की गुफाएँ भले ही कला और सौंदर्य का भण्डार हो, परन्तु ताजमहल की पत्ती-पत्ती और फल फूल मे एक जालिम बादशाह द्वारा हजारो गरीब कारीगरो और मजदूरो से जबरन करायी गयी मजदूरी का त्रास भरा है। इनके दर्शक देश के करोड़ो अधभूखो के लिए उपयोगी सिद्ध होनेवाला धन बर्बाद करके ही वहाँ जा सकते है।

अजन्ता की गुफाएँ बौद्ध-काल में हमारे देश के कितने ही साधुओ द्वारा कला-कौशल की पराकाष्ठा की भले ही प्रतीक जान पड़ें, परन्तु वे ऐसे की याद भी दिलाती है, जो बुद्ध के उपदेशो को भूल गये थे, सामान्य क

छोड़ने का असली कारण क्या था, इसे भी उन्होंने भुला दिया था और राष्ट्र के अन्न पर जीकर भिक्षुओं के वेश में भी विलास और वैभव का उपभोग कर रहे थे। जब वस्तुस्थिति ऐसी दिखाई देती है, तब बच्चों को या किसी दूसरे को आनंदित करने का उपाय उन्हें संगीत, कला, कहानी, विनोद, चित्र, ताजमहल या अजन्ता की गुफाएँ दिखाना नहीं है, बल्कि उस व्यक्ति के प्रति हमारा और हमारे प्रति उसका प्रेमोद्रेक है। प्रेम का उद्रेक हो, तो दोनों एक-दूसरे को चुपचाप देखते रहें, तो भी उन्हें कृतार्थता का अनुभव होगा। परन्तु यदि यह नहीं है, तो कृत्रिम साधना द्वारा आनंद के नाम से परिचित विकारों को भले ही उत्तेजित किया जा सकता है, परन्तु इससे प्रसन्नता का अनुभव नहीं हो सकता। यदि प्रेम होगा तो और विवेक की गहराई से देखेंगे, तो यह नहीं लगेगा कि आनंद के बहुत से साधन अशुद्ध होने के कारण हमारे हाथों से निकल जायेंगे और दूसरों को रिझाने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं बचेगा। ऐसा डर रखने की जरूरत नहीं है। हम अपनी अल्प प्रसन्नता में से दूसरों की ओर देखें और बालक के लिए उसकी प्रसन्नता ढूँढकर उसे दे दें। यह उसकी और हमारी सद्भावनाओं के पोषण से हो सकता है। बालक को अपने माता-पिता, भाई-बन्धु, गुरुजन, मित्र, अपनी शाला, अपना घर, अपना कुत्ता या बिल्ली—दूसरों के लिए कुछ करना, दूसरों का दुःख नहीं देख सकना,—यही सब आनन्दरूप लगता है और इस आनंद से प्रेरित होकर वह अपने विवेक और स्फूर्ति के अनुसार जो कुछ करेगा—वही उसे आनंदित बनाने का अच्छे-से-अच्छा उपाय है।

"यह प्रसन्नता जीवन के विकास के लिए एक अमूल्य वस्तु है। भीतर से सदा प्रसन्न रहने का स्वभाव, जीवन के समस्त आशीर्वाद, आरोग्य, प्राण, सद्गुण, एकता, प्रेम आदि दे सकता है। इनमें से कितने ही आशीर्वाद यदि नहीं हैं तो भी ऐसा स्वभाव मनुष्य को शान्ति प्रदान करता ही है। यह प्रसन्नता हमें बालक को प्रदान करनी चाहिए। अर्थात् जब वह प्रसन्नता को खो दे, तब उसे वह प्रदान कर देनी चाहिए। यह शिक्षक के कर्तव्यों में से एक जरूरी कर्तव्य है। परन्तु यह अकृत्रिम या सहजिक प्रसन्नता शिक्षक अपनी प्रसन्नता से उत्पन्न होनेवाले प्रेम के द्वारा ही देर-सबेर प्राप्त करा सकता है। हमारी प्रसन्नता की छूत तुरन्त ही दूसरे को नहीं लग सकती। परन्तु यदि हममें धैर्य हो, तो

सामनेवाले की ग्रहण-शक्ति के अनुसार जल्दी या देर से इसका असर उस पर पड़े बिना नही रहेगा। ऐसी प्रसन्नता को यदि आनद कहा जाय, तो इस आनन्द के जितने घूँट पिये-पिलाये जा सके, उतने इष्ट ही है !"

इतिहास की पढ़ाई

केळवणी में किशोरलाल भाई ने एक महत्त्व का हिस्सा अदा किया है। उन्होने बताया है कि आज इतिहास की पढाई को जो महत्त्व दिया जा रहा है, वह अनुचित है। यह बात उन्होने उदाहरणो और दलीलो से सिद्ध की है। उनका कथन यह है कि इतिहास का अर्थ है भूतकाल में घटित सच्ची घटना। परन्तु विचार करने पर ज्ञात होगा कि वह ऐसा नहीं है। वे कहते है

"सच तो यह है कि किसी भी घटना का सोलहो आना सच्चा इतिहास तो हमें शायद ही कभी मिल सकता है। अपनी ही कही और की हुई बात का स्मरण इतनी तेजी से अस्पष्ट हो जाता है कि थोडे ही समय बाद उसमे सत्य और कल्पना का मिश्रण हो जाता है। किसी मानस-शास्त्री ने एक प्रयोग लिख रखा है। विद्वानो की सभा में एक नाट्य-प्रयोग किया गया। उसमें एक दुर्घटना का दृश्य था। प्रयोग के साथ ही उसकी एक फिल्म भी बनाकर रख ली गयी। प्रयोग कुछ ही मिनटो का था। प्रयोग समाप्त होने के आधे घण्टे बाद प्रेक्षकों से कहा गया कि जो कुछ उन्होने देखा, उसका सही-सही वर्णन लिखकर वे दे दें। परिणाम यह आया कि तीस प्रेक्षकों में से केवल दो ही फिल्म से ९० प्रतिशत मिलता-जुलता वर्णन लिख सके। शेष प्रेक्षकों के वर्णन में ४० से ६० प्रतिशत भूलें थी।

"परन्तु इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है। तटस्थ और सावधान प्रेक्षक भी घटनाओ को यो तेजी से भूल जाते है, तब जिनमें घटनाओं को जन्म देनेवाले और उन्हें लिख रखनेवाले लोगो का कोई राग-द्वेष पक्षपात, आदि हो—उनके लिखे वृत्तान्तो में सत्य का अश कम हो और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाय, त्यों-त्यो और कम होता जाय, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

"समाज-निर्माताओं को दो वर्गों—मुत्सद्दी (राजनीतिज्ञ) और धर्मोपदेशक—में विभक्त किया जाय, तो अधिकाश इतिहासवेत्ता पहले वर्ग के

पाये जायेंगे। दोनों किसी उद्देश्य से समाज में कुछ संस्कार डालते हैं। कई बार मुत्सद्दी की प्रवृत्तियों में स्पष्ट रूप से एक योजना होती है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसके पीछे हमेशा शुद्ध हेतु ही होता है। उसमें राग-द्वेष प्राय होता ही है। उदाहरणार्थ, हमारे देश में अंग्रेज मुत्सद्दियों ने इतिहास का उपयोग इस प्रकार किया है कि अंग्रेजो के प्रति आदर और देशी लोगों के प्रति घृणा उत्पन्न हो। अब राष्ट्रीय मुत्सद्दियों का झुकाव इससे उल्टा दिखाई देने लगा है। इतिहास पढने पर हम जो कल्पनाएँ करते है, वे उचित से बहुत अधिक व्यापक स्वरूप की होती है। उन पर से जिन अहता और द्वेषों का पोषण होता है, वह तो बेहद अनुचित होता है। लोक-जीवन के वर्णन में भी जनता के बहुत थोडे भाग के जीवन की जानकारी उसमें होती है। परन्तु हम उसे समस्त जनता की स्थिति के रूप में मान लेते हैं। भूतकाल में भी समृद्धि थी। बडे-बडे नगर थे, नालन्दा जैसे विद्यापीठ थे। इस समय भी है। परन्तु हमें ऐसी नही लगता कि आज की भाँति तब भी इस समृद्धि का उपयोग बहुत थोडे लोग करते होंगे। अधिकाश लोग तो दरिद्र ही रहे होंगे। गुरुकुलो से तो इने-गिने लोग ही लाभ उठाते होंगे। गार्गी जैसी विदुषियाँ सभी ब्राह्मणों के यहाँ नहीं हो सकती। अनेक ब्राह्मणियाँ तो आज के समान ही निरक्षर रही होगी। अन्य वर्गो के स्त्री-पुरुष भी आज के समान ही रहे होंगे। परन्तु हम तो समझते हैं कि उस समय सबकी स्थिति अच्छी ही थी। बाद में बदली। यह बात बहुत बडे जनसमूह के लिए किस अश तक कही जा सकती है, यह तो शकास्पद ही है।

"इतिहास जैसी कोई वस्तु न हो, अथवा मनुष्य को भूतकाल की किसी प्रकार की स्मृति न रहे, तो देश-देश और जाति जाति के बीच की शत्रुता को पोषण मिलना बन्द ही हो जाय। अभी तक ऐसी कोई जाति या व्यक्ति नही हुए, जिन्होंने इतिहास पढकर कोई शिक्षा ली हो और समझदार बने हो।

"स्मृति को ताजा रखकर अधिकाश में तो मनुष्य द्वेष को ही जीवित रखते है। अर्थात् सहानुभूति और प्रेम को घटाते है। स्वभावसिद्ध सहानुभूति या प्रेम किसी विशेष कर्म द्वारा प्रकट हुआ हो, तब तो वह याद रहता है और उसका पोषण भी होता है। परन्तु उसके अभाव में अथवा उसे

भुलानेवाला कोई झगडा एक बार भी हो जाता है, तो वह स्मृति द्वारा लम्बे समय तक टिका रहता है।

"इस सबसे मुझे ऐसा नही लगता कि काव्य, नाटक, पुराण, उपन्यास आदि साहित्य की अपेक्षा इतिहास की शिक्षा अधिक महत्त्व रखती है। इतिहास का अज्ञान किसी प्रसिद्ध काव्य अथवा नाटक के अज्ञान की अपेक्षा बडी खामी नही है।

"शिक्षण में इतिहास को गौण स्थान देने की जरूरत है। इसका मूल्य भूतकाल की कल्पनाओ अथवा दत-कथाओ के बराबर ही समझा जाना चाहिए।"

स्त्री-शिक्षा

स्त्रियो की शिक्षा ('केळवणी') के विषय में किशोरलाल भाई ने कितने ही मौलिक विचार किये है और उसके अनुसार स्त्रियो की शिक्षा की योजना करने में किस-किस दृष्टि को प्रधानता देनी चाहिए, इसका विवेचन भी उन्होंने किया है। यह हम यहाँ पर सूत्ररूप में ही देगे

१ हमारे सामने भले ही मध्यम-वर्ग की शिक्षा का प्रश्न हो, फिर भी यह शिक्षा ऐसी हो जो आम जनता की स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखती हो। आम वर्ग और खास वर्ग के बीच विरोध नही होना चाहिए। इसके लिए खास वर्ग का जीवन गढने में आवश्यक फेरफार करने की तैयारी होनी चाहिए।

२ शिक्षा की योजना में पुरुष या स्त्री, इन दो में से किसी एक को प्रधानपद देने के दृष्टिबिन्दु से जीवन का विचार नहीं होना चाहिए। बल्कि दोनों के जीवन को समान महत्त्व देकर दोनों के बीच मेल स्थापित करने का यत्न होना चाहिए। तदनुसार स्त्री की शिक्षा-पद्धति में पुरुष-हित का विचार और पुरुष की शिक्षा-पद्धति में स्त्री के हित का विचार होना चाहिए।

३ पुरुष की तथा स्त्री की शिक्षा की योजना पुरुष तथा स्त्री दोनों को मिलकर तैयार करनी चाहिए । इसमें आम वर्ग के हितों को समझनेवालों का भी हाथ होना चाहिए। ये योजक केवल अपने ही वर्ग के प्रतिनिधि की हैसियत से विचार करने की आदत छोड दें और जहां तक सभव हो, सब वर्गों से परे होकर विचार करने की आदत डालें।

४ ज्ञान, धर्म, चारित्र्य, भावना-बल और व्यवहार-दृष्टि, इनमें पुरुष तथा स्त्री की योग्यता समान रहे, इस प्रकार दोनो की शिक्षा की योजना होनी चाहिए। ग्राम अथवा समाज में घूमने और विवाह तथा तलाक की अनुकूलता दोनो को समान हो। निर्वाह के लिए अथवा गृह-व्यवस्था के लिए विवाह अथवा पुनर्विवाह करना अनिवार्य न हो जाय, इस दृष्टि से अपना निर्वाह करने की शक्ति स्त्री में और गृह-व्यवस्था करने की शक्ति पुरुष में होनी चाहिए।

५ पुरुष में श्रेष्ठता के मिथ्याभिमान का और स्त्री में हीनता का पोषण अब तक किया गया है। ये दोनो सस्कार विघातक है इन्हें दूर करना चाहिए।

६ पुरुष और स्त्री के बीच सस्था के अध्यक्ष और मन्त्री के जैसा सम्बन्ध हो। इनमें से जो अधिक कुशल हो, उसके अधीन होकर बर्ताव करने में दूसरे को छोटापन नही मालूम होना चाहिए। शिक्षा में ऐसे सस्कार निर्माण करने चाहिए।

७ स्त्री के लिए पूरी तरह पुरुष के समान जीवन बिताना असभव नहीं है। इसलिए जो स्त्री पुरुषो के ही काम करना चाहे, उसके मार्ग में बाधाएँ नहीं डालनी चाहिए। स्त्री को पुरुषो की शिक्षा लेने की स्वतन्त्रता रहे।

८ फिर भी हमें समझ लेना चाहिए कि ऐसी स्त्री अपवादरूप ही मानी जायगी। ९५ प्रतिशत स्त्रियाँ तो मातृपद स्वीकारने की इच्छावाली ही होगी। इसलिए स्त्री को माता बनना है ऐसा मानकर तदनुसार उसकी शिक्षा की योजना की जाय।

९ स्त्री पुरुष के आक्रमण के वश में न हो, इसमें वह अपनी सारी ताकत लगा दे ऐसी शिक्षा स्त्री को दी जानी चाहिए। यह उसका कर्तव्य भी है। स्त्रियो की जाग्रति पुरुष के ऐसे आक्रमण के विरुद्ध बगावत पैदा करे, यह इष्ट है।

१० पुनर्विवाह न करनेवाली स्त्री पुनर्विवाह करनेवाली स्त्री की अपेक्षा अपने-आपको अधिक कुलीन बताती है। उसका यह खयाल दूर कर देना चाहिए।

११ खेत जगल तथा परिश्रम के अन्य धन्धो की आदत मध्यम वर्ग की स्त्री को हो जाय और वह ये काम उठा ले, ऐसा प्रबन्ध इसकी शिक्षा में होना जरूरी है।

१२ बच्चों की परवरिश, प्राथमिक शिक्षा, रोगियों की शुश्रूषा, और गो-पालन—ये स्त्रियों की खास प्रवृत्तियाँ या धन्धे समझे जायें।

इस प्रकार के धन्धों के शिक्षण का प्रारम्भ ठेठ बचपन से ही हो जाना चाहिए। प्रत्येक शाला कोई एक या अधिक धन्धे सिखाने की जिम्मेदारी ले ले और इन धन्धों की शिक्षा पानेवालों को ही वह प्रवेश दे, ताकि बचपन से ही बच्चा समझने लग जाय कि मुझे यह धन्धा करना है। इस धन्धे के साथ दूसरी पढाई भी अवश्य हो और इन दूसरे विषयों में इन धन्धों के लिए पोषक सामग्री भी काफी हो।

नयी तालीम

नयी तालीम के विषय में किशोरलाल भाई के विचार 'केळवणीनो विकास' नामक पुस्तक में सग्रहीत किये गये है। इसकी जड मे क्या वस्तु है, यह उन्होने बहुत सुन्दर रीति से समझाया है। यहाँ हम मुख्यत यही वस्तु पेश करेंगे।

"चालू शिक्षण-पद्धति एक विशेष प्रकार की सस्कृति की प्रतिनिधि है। वह एकदम विदेशी है, यह कहना सही नही। जिस प्रकार की शिक्षण-पद्धति पुरानी काशी में अथवा आज की सनातनी काशी में तथा मुसलमानो के समय में चलती थी, उसकी अपेक्षा मौजूदा शिक्षण-पद्धति भिन्न प्रकार की नहीं है। किसी समय सस्कृत भाषा की प्रतिष्ठा सबसे अधिक थी। इसके बाद फारसी, फिर हिन्दुस्तानी और उसके बाद अग्रेजी भाषा की प्रतिष्ठा बढी। इस तरह एक के बाद एक की प्रतिष्ठा बढती रही। परन्तु इनके द्वारा जिस सस्कृति को पोषण मिला, वह तो एक ही रही है। यह सस्कृति उन लोगो की है, जिन्हें हम 'भद्रलोक' अथवा 'सफेदपोश' कहते है। मेरा तो खयाल है कि पिछले कम-से-कम एक हजार वर्ष में राज्य की ओर से (अथवा अन्य प्रकार से) बच्चों अथवा बडो को जो सस्कार देने का काम हुआ है, वह केवल सफेदपोशो में ही हुआ है।

"आर्य-भद्र-सम्मानित जातियाँ हमारे देश में शुरू से ही रही हैं। वे अग्रेजो द्वारा पैदा नही की गयी है। सभव है कि अग्रेजो ने इनका क्षेत्र कुछ बढाया हो। परन्तु उन्होंने इन्हें पैदा नही किया।

"भद्र (सफेदपोशो की) सस्कृति का लक्षण मनुष्य की तर्क और कल्पना-शक्ति को बढाना है। सस्कारिता के क्षेत्र में शास्त्री, पडित, उलेमा, कवि,

ललित कलाधर (अर्थात् चित्रकार, गायक आदि) इसके प्रतिनिधि हैं। दुनियादारी के क्षेत्र में इसके प्रतिनिधि वकील, वैद्य, हकीम, अध्यापक, उस्ताद और मुन्शी हैं। अंग्रेजी पद्धति का संस्कृति के विकास की ओर दुर्लक्ष नहीं था। हाँ, उसने इस पद्धति को अपने विचारों की पोशाक अवश्य पहना दी है। परन्तु ऐसा तो इसलाम ने भी किया था। अंग्रेजों ने अपनी सूक्ष्म शास्त्रीय विधि-निपुणता की आदतों के द्वारा कितने ही ममारी धन्धों का अधिक विकास भी किया है। अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति पर आक्षेप करते हुए भी हमारा सफेदपोश वर्ग उसे छोड नहीं पा रहा है। इसके कारण हम ऊपर बता चुके हैं।

"भद्र-संस्कृति मनुष्य की समानता के सिद्धान्त पर नहीं रची गयी है। या तात्त्विक दृष्टि से तो वह केवल मनुष्यों की ही नहीं, भूतमात्र की समानता का प्रतिपादन करेगी। परन्तु दुनियादारी की दृष्टि से वह केवल यही नहीं कहती कि मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद है, बल्कि यह भी कहती है कि यह भेद रहना ही चाहिए। इस कारण समाज-व्यवस्था के लिए वह हिंसा को—पशु-बल को—अपरिहार्य मानती है और कहती है कि हर मनुष्य को अपनी-अपनी मर्यादा में रखने के लिए समाज के राजदण्ड को घूमते ही रहना चाहिए।

"ऐसा कह सकते हैं कि व्यवहार में भद्र-संस्कृति केवल उतने ही मनुष्यों को मनुष्य समझती है, जिन्हें वह भद्र—सफेदपोशों—के जीवन में निभाने योग्य मानती है। शेष लोग संस्कृति के क्षेत्र से और इसलिए उसकी सभ्यता की परिभाषा से बाहर हो जाते हैं। वे शूद्र, दास, गुलाम, गिरमिटिया, मजदूर अथवा अन्य कोई भी हो सकते हैं। परन्तु उनकी गिनती इनके समाज में नहीं हो सकती। इसलिए समाज के सब अधिकार और सुविधाएँ पाने के पात्र वे नहीं बन सकते।

"भद्र-संस्कृति से ऊँचे दरजे की एक और संस्कृति प्राचीन काल से संसार में चली आ रही है। इसे मैं 'संत अथवा औलिया संस्कृति' कहूँगा। संसार के समस्त देशों में औलियों अथवा सन्तों की भी एक परम्परा सदा से चली आ रही है। इन्होंने अपना काम जितना अन्य लोगों में किया है, उतना भद्र लोगों में नहीं किया। अनेक बार भद्र लोगों ने इनका विरोध किया है और इन्हें कष्ट भी दिये हैं। फिर भी कम-से-कम जबान से उन्होंने इनका स्वीकार और ऊपर से वन्दना भी की है। गांधीजी इस परम्परा के पुरुष हैं।

"भारत की या अन्य किसी भी देश की सत-सम्यता के तीन सिद्धान्त हैं : मानवमात्र की समानता, अहिंसा और परिश्रम। सफेदपोश लोग मानते हैं कि सभ्यता के विकास के लिए फुरसत जरूरी है। सत ऐसा नहीं मानते। वे यह नहीं कहते कि फुरसत या आराम की जरूरत ही नहीं, है परन्तु वे मानते हैं कि संस्कृति के विकास के लिए परिश्रम अनिवार्य है। और यह कि फुरसत में कुछ खराबी का भी डर है।

'भले ही हमारा राज्यतंत्र पूंजीवाद के सिद्धान्तों पर आवृत हो या साम्यवाद के सिद्धान्तों पर, पर जब तक मनुष्य पर ऐसे संस्कार डाले जाते रहेंगे कि श्रम करना मनुष्य-जाति पर एक घोर शाप है, तब तक एक ओर से मनुष्य द्वारा श्रम करवाने के लिए कानून अर्थात् जबरदस्ती अनिवार्य हो जायगी और दूसरी ओर मनुष्य इससे बचने की कोशिश करता रहेगा। दिन में केवल दो घण्टे काम करना पड़े, साम्यवादियों की इस आदर्श स्थिति को प्राप्त कर लेने पर भी यदि मनुष्य की यह मन स्थिति रहेगी कि परिश्रम अभिशाप है, तब तक वह इन दो घण्टे के परिश्रम को भी टालने की ही कोशिश करेगा। दूसरे शब्दों में कहें, तो इस संस्कृति को निभाने के लिए हिंसा का सहारा लेना ही पडेगा।

"तात्पर्य यह कि परिश्रम और अहिंसा सगे भाई-बहन हैं। परिश्रम के लिए अरुचि का पोषण करेंगे, तो उसके साथ-साथ असमानता आयेगी ही और असमानता को टिकाये रखने के लिए हिंसा की मनोवृत्ति का पोषण किये बिना काम नहीं चलेगा।

'वर्धा पद्धति (नयी तालीम) केवल पढ़ाने की एक नयी पद्धति ही नहीं है, बल्कि जीवन की नयी रचना और नया तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञान की जड़ में शरीर-श्रम, अहिंसा और मनुष्यमात्र की समानता है। यदि इस तत्त्वज्ञान को हम स्वीकार करते हैं, तो उसके अनुसार समाज की रचना करने का बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। इस तत्त्वज्ञान के आधार पर बनायी गयी शालाएँ सफेदपोशों की शालाओं की अपेक्षा निश्चय ही भिन्न प्रकार की होगी।

'वर्तमान शिक्षा-पद्धति की रचना ही इस प्रकार की है कि वह देश की आबादी के केवल १० से १५ प्रतिशत भाग को अर्थात् सफेदपोशों के बच्चों को ही दी जा सकती है, सबको नहीं। परन्तु हमें तो समाज के सौ प्रतिशत

को शिक्षित करना है। यह शिक्षा तभी दी जा सकती है, जब यह ऐसी हो कि मेहनत-मजदूरी करनेवाले भी अपने बच्चो को इसका लाभ दे सके। अत शिक्षा के प्रवन्धको को दो जिम्मेदारियाँ अपने सिर पर लेनी होगी। एक तो यह कि इनके बच्चे शाला में जायँ, तो उस कारण से माता-पिता को यदि कोई आर्थिक हानि हो, तो उसकी पूर्ति बच्चो के द्वारा ही किसी प्रकार हो जाय और दूसरी यह कि इस प्रकार शिक्षा पाया हुआ बच्चा बेकार नही रहेगा, इसका निश्चय दिलाया जाय।

"देश की परिस्थिति, गरीबी, बेकारी, अब तक की शिक्षा-पद्धति में रही हुई खामियाँ और ये दो जिम्मेदारियाँ—इन सबका विचार करके इनके उपाय के रूप में गाधीजी ने उद्योग के द्वारा शिक्षा देने का नया विचार देश के सामने पेश किया है। इसे रखते हुए उन्होने कहा है कि यह मेरी अन्तिम विरासत है और मैं नही समझता कि इससे अधिक महत्त्वपूर्ण अन्य कोई भेट मैं ससार को दे सकता हूँ।

"उद्योग द्वारा शिक्षण में उद्योग का अर्थ वह उद्योग है, जो जीवन में कोई महत्त्व का भाग अदा करता हो। ऐसे उद्योग द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए। दूसरे शब्दो में यह उत्पादक उद्योग की अथवा जीवन-निर्वाह—आजीविका—की तालीम कही जा सकती है।

"विद्यार्थी शाला में जाकर ऐसे किसी उद्योग में लग जाय। यह उद्योग ऐसा हो कि जो इसके अपने लिए तथा जिस समाज अथवा गाँव मे वह रहता है, उस समाज और गाँव के जीवन में महत्त्व का स्थान रखता हो। शाला मे जाने के बाद वह ऐसे काम करने और सीखने लगे कि उसके माता-पिताओ को भी थोडे ही समय मे उसका स्कूल में जाना लाभदायक मालूम होने लगे, उन्हें यह लगे कि वह घर में कुछ लाने की शक्ति प्राप्त कर रहा है, वह कुछ ऐसी चीज पढ रहा है कि जिसकी छूत यदि घर को लगे, तो घर का भी लाभ हो।

"अब तक शिक्षा-पद्धति का केन्द्र-बिन्दु भौतिक विद्याओ द्वारा समाज का सामर्थ्य बढाने का रहा है। सादगी अथवा सदाचार के प्रति वह हृदय में आदर नही उत्पन्न करती। नयी तालीम का सन्देश इससे उल्टा है। वह सामर्थ्य का नही, भलाई का विकास करना चाहती है। अपने विद्यार्थियो में—

फिर वे छोटे बच्चे हों या बड़ी उम्र के आदमी, वह लड़ाई और वैर-भाव के बदले शान्ति और मेल के प्रति, सादे आनन्दों के प्रति, सादी सुविधाओं के लिए और सचाई तथा नीतिशीलता के लिए प्रेम और काम करने का आनन्द तथा स्वतन्त्रता के लिए जोश पैदा करना चाहती है।"

३. आर्थिक प्रश्न

इस विभाग में भिन्न-भिन्न आर्थिक प्रश्नों पर किशोरलाल भाई के विचार संक्षेप में संकलित कर दिये गये हैं।

१. किसी समय कहा जाता था और वह पर्याप्त मान लिया जाता था कि संपत्ति के साधन दो हैं—प्रकृति और परिश्रम। परन्तु आगे चलकर मनुष्य ने देखा कि केवल ये दो ही काफी नहीं होते। प्राकृतिक साधन और

का निर्माण अत्यन्त महत्त्व की वस्तु है। चारित्र्य समृद्धि का साधन है। समृद्धि का साध्य सच्चा उन्नत चारित्र्य है। इस बात को यथार्थ रूप में स्वीकृत न किये जाने के कारण आज का विज्ञानसंपन्न मानव-समाज हाथ में आग लगाने के साधन लिये और इसकी कला में प्रशिक्षित वानर-समाज मुक्त रूप से संसार में विचरण कर रहा है। इसलिए अर्थवृद्धि के साधनों का विचार करते समय आदि, मध्य और अन्त तीनों में चारित्र्य के विषय में विचार करने के बाद ही आगे कदम बढ़ाना चाहिए।

इस विषय का समावेश आर्थिक प्रश्नों के विचार में इसलिए किया है कि इस बुनियाद के बगैर कोई भी आर्थिक योजना सफल नहीं हो सकेगी। यह सब तो है ही, ऐसा मानकर ही विभिन्न योजनाओं और वादों की रचना की जाती है। परन्तु जरा-सा विचार करने पर ज्ञात होगा कि संसार में यह सब तो पहले से है ही, ऐसा मानने के लिए कोई आधार नहीं है। इसके लिए 'नास्ति मूलं कुतः शाखा' (जड़ ही नहीं है, तो डालियाँ कहाँ से आयेंगी?) यह कहना ठीक नहीं। यहाँ तो 'सन्मूलस्याभावात् प्रसृता विषवल्ल्यः' (अच्छी जड़ के अभाव में विष की लताएँ फैल गयी हैं) यह चरितार्थ हो रहा है।

२ आज वस्तुएँ और उनके निर्माण में लगनेवाले श्रम के मूल्यांकन इतने विपरीत हो गये हैं कि आज की अर्थ-व्यवस्था में अनर्थ उत्पन्न हो गया है। नीति के न्याय से देखें, तो जिन वस्तुओं के बिना जीवन असंभव हो जाता है और जिनके उत्पादन में बहुत अधिक संख्या में मनुष्यों को लगे रहना पड़ता है, उनमें काम करनेवाले मनुष्यों के परिश्रम का मूल्य सबसे अधिक होना चाहिए। मनुष्य के परिश्रम से क्या पैदा किया जाता है और जीवन के लिए वह वस्तु कितनी आवश्यक है, इस सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य के परिश्रम का मूल्य निश्चित किया जाना चाहिए। यह होते हुए भी इसमें कोई शक नहीं कि अधिक-से-अधिक मनुष्यों को अनाज उत्पन्न करने का काम ही करना पड़ता है और दूसरे सब काम इसके सामने गौण हैं। इसलिए अधिक-से-अधिक मजदूरी उन्हें मिलनी चाहिए, जो सीधे अन्न-उत्पादन के काम में लगे रहते हैं। शेष सारे धंधे इसके मुकाबले में निचली श्रेणी के हैं। अन्न-उत्पादन के बाद

दूसरे नम्बर में शायद मकान और कपडे बनानेवाले तथा सफाई का काम करनेवाले मेहतर आदि गिने जाने चाहिए। जिस धन्धे के ज्ञान अथवा सहायता के बिना दूसरे धन्धेवाले की सारी विद्या और कला बेकार हो सकती है वह धन्धा आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक कीमती समझा जाना चाहिए।

परन्तु हम जानते हैं कि आज की अर्थ-व्यवस्था में ऐसा नहीं है। सबसे अधिक मेहनताना राजा मन्त्री सेनापति फौज पुलिस न्यायाधीश, वकील वैद्य बडे अध्यापक निष्णात फैशन बनानेवाले को दिया जाता है। जीवन में जिसकी सबके बाद जरूरत होती है उसे अधिक-से-अधिक मेहनताना दिया जाता है।

इसका कारण यह है कि अज्ञानी लोगों में जिस प्रकार भूत प्रेत अथवा देव-देवियों के बारे में वहम है और जिस प्रकार पढे लिखे लोग इनकी हँसी उडाते हैं उसी प्रकार के वहम राज्य-व्यवस्था और सुलह शान्ति रखनेवालों और ज्ञान देनेवालों के विषय में हमारे सभ्य कहलानेवाले (बूर्ज्वा) लोगों में है और जिस श्रद्धा के साथ अज्ञानी लोग भूत प्रेतों और देव-देवियों को प्रसन्न करने के लिए मुर्गे बकरे पाडे आदि की बलि चढाते हैं उसी प्रकार की श्रद्धा से हम राजा महाराजाओं तथा राजपुरुषों को प्रसन्न करने के लिए उन्हें खूब मेहनताना देते हैं उनके दरबार भरते हैं और जुलूस निकालते हैं। अनुभव तो यह है कि राजपुरुषों के कारण जितना खून-खराबा अव्यवस्था अन्याय तोड फोड असत्याचरण आदि चलता है उतना किसी प्रकार की व्यवस्थित रीति से स्थापित राजसत्ता न हो तो न हो।

परन्तु आज तो मनुष्य-समाज ऐसी हालत में है कि उसे व्यवस्थित राज्य सत्ता निभानी ही पडती है। राज्यसत्ता भले ही हो परन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि उस काम के करनेवालों का आर्थिक मूल्य अधिक हो जाता है। आर्थिक मूल्य अधिक होने का एक कारण यह है कि हमने धन और प्रतिष्ठा का एक समीकरण बना लिया है जितना धन उतनी प्रतिष्ठा। यदि किसीकी प्रतिष्ठा बढानी है तो उसे धन भी अधिक देना चाहिए। सर्वे गुणा काञ्चन माश्रयन्ति। इस नीति-वाक्य को हमने स्वीकार कर लिया है।

प्रतिष्ठा अनेक कारणों से हो सकती है और दी जा सकती है। उसकी स्वीकृति की दूसरी चाहे कितनी ही रीतियां रहें परन्तु वह पैसे के रूप में

का निर्माण अत्यन्त महत्त्व की वस्तु है। चारित्र्य समृद्धि का साधन है। समृद्धि का साध्य सच्चा उन्नत चारित्र्य है। इस बात को यथार्थ रूप में स्वीकृत न किये जाने के कारण आज का विज्ञानसंपन्न मानव-समाज हाथ में आग लगाने के साधन लिये और इसकी कला में प्रशिक्षित वानर-समाज मुक्त रूप से संसार में विचरण कर रहा है। इसलिए अर्थवृद्धि के साधनों का विचार करते समय आदि, मध्य और अन्त तीनों में चारित्र्य के विषय में विचार करने के बाद ही आगे कदम बढ़ाना चाहिए।

इस विषय का समावेश आर्थिक प्रश्नों के विचार में इसलिए किया है कि इस बुनियाद के बगैर कोई भी आर्थिक योजना सफल नहीं हो सकेगी। यह सब तो है ही, ऐसा मानकर ही विभिन्न योजनाओं और वादों की रचना की जाती है। परन्तु जरा-सा विचार करने पर ज्ञात होगा कि संसार में यह सब तो पहले से है ही, ऐसा मानने के लिए कोई आधार नहीं है। इसके लिए 'नास्ति मूलं कुतः शाखा' (जड़ ही नहीं है, तो डालियाँ कहाँ से आयेंगी ?) यह कहना ठीक नहीं। यहाँ तो 'सम्मूलस्याभावात् प्रसूता विषवल्लयः' (जड़ के अभाव में विष की लताएँ फैल गयी हैं) यह चरितार्थ हो रहा है।

विचार करने पर ज्ञात होगा कि श्रम और फुरसत का सम्बन्ध त्याग और भोग, अथवा अहिंसा और हिंसा के सम्बन्ध के समान है। जिस प्रकार मनुष्य सर्वथा भोग के बिना नहीं रह सकता, पूर्णतया हिंसा से मुक्त नहीं रह सकता, उसी प्रकार फुरसत निकाले बिना, मेहनत का बचाव किये बिना भी वह नहीं रह सकता। भोग को मर्यादित करने—कम करने के प्रयत्न का अर्थ ही त्याग है, यह प्रयत्न करते-करते भी मनुष्य कुछ भोग तो भोग ही लेता है। परन्तु इसके विपरीत जो भोग को ही जीवन का सिद्धान्त बना लेता है वह तो विनाश के मार्ग पर ही जाता है। इसी प्रकार हिंसा को मर्यादित करने—घटाने का प्रयत्न करने का नाम ही अहिंसा है। अहिंसा का प्रयत्न करते-करते भी कुछ हिंसा तो कर ही देता है। परन्तु यदि वह हिंसा को ही जीवन का नियम बना ले, तो इसका परिणाम तो यादवस्थली ही होगा। यही बात श्रम और फुरसत की भी है। फुरसत तो मनुष्य ढूँढ ही लेता है। परन्तु यदि फुरसत को ही अर्थशास्त्र या जीवन का तत्त्वज्ञान और ज्ञान-वृद्धि का कारण करार बना लिया जायगा, तो इसका परिणाम अनर्थों की परम्परा ही आनेवाला है।

इनाम द्वारा न दी जाय। किसीकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए आप उसका आदर करें, सबके आगे बैठायें, ऊँचा पद दें, जिस प्रकार उचित समझें, नमस्कार करें, प्रणाम करें, हार-मालाएँ पहनायें, जरूरत हो तो पदवियाँ, खिताब दें; परन्तु इसके लिए उसे सोना-चाँदी न दें या धन का संचय करने की सुविधाएँ न दें। यदि भिन्न-भिन्न कामों के लिए भिन्न-भिन्न मेहनताना हो सकता है, तो सबसे अधिक मेहनताना अन्न पैदा करनेवालों का होना चाहिए। राजा का मेहनताना भी खेती करनेवाले से कम हो। हाँ, देश की स्थिति के अनुसार उसे दूसरी सुविधाएँ दी जायँ।

३. गांधी-विचार और दूसरे वादों के बीच एक महत्त्व की बात के बारे में विरोध है। वह यह कि ये सारे वाद फुरसतवादी हैं। मनुष्य को अधिक-से-अधिक फुरसत देनी चाहिए, यह आज के अर्थशास्त्र की बुनियादी श्रद्धा है, ऐसा कह सकते हैं। क्योंकि विद्या, कला, संस्कृति आदि का कारण शरीर (मूलसाधन) फुरसत है। इसके प्रतिक्रियास्वरूप गांधीवाद दूसरे सिरे पर बैठा है। वह फुरसत को मानव-हित का शत्रु मानता है।

'फुरसत' शब्द में आलस्य और विश्रान्ति, इन दोनों का समावेश होता है। विश्रान्ति की जरूरत नहीं, अथवा यह कहना कि एक श्रम छोड़कर दूसरा अर्थोत्पादक श्रम करने का नाम ही विश्रान्ति है—एक वृथा पाण्डित्य जैसा है। परन्तु यह स्वीकार करने में तो किसीको भी दिक्कत नहीं होनी चाहिए कि आलस्य तो मानव-हित का शत्रु ही है। कहा ही है : 'आलसी दिमाग शैतान का घर!'

परन्तु ' , . . म को अनिष्ट मानते हैं, तो यह डर लगता है कि श्रम का बोझ बढ़ जाय।। इसी डर में से फुरसत-वाद पैदा हुआ है। यह कहना है कि जीने के लिए आवश्यक श्रम में से अधिक-से-अधिक जितनी मुक्ति मिल सके, उतना अच्छा। ऐसा होगा, तभी ज्ञान, कला आदि की निर्मिति हो सकती है। इसलिए 'आलसी दिमाग शैतान का घर' इस जोखिम को उठाकर भी मनुष्यों को पहले फुरसत देनी चाहिए। फिर फुरसत का सदुपयोग करने की शिक्षा धीरे-धीरे दी जा सकेगी। यह है 'फुरसत-वाद'।

विचार करने पर ज्ञात होगा कि श्रम और फुरसत का सम्बन्ध त्याग और भोग, अथवा अहिंसा और हिंसा के सम्बन्ध के समान है। जिस प्रकार मनुष्य सर्वथा भोग के बिना नहीं रह सकता, पूर्णतया हिंसा से मुक्त नहीं रह सकता, उसी प्रकार फुरसत निकाले बिना, मेहनत का बचाव किये बिना भी वह नहीं रह सकता। भोग को मर्यादित करने—कम करने के प्रयत्न का अर्थ ही त्याग है, यह प्रयत्न करते-करते भी मनुष्य कुछ भोग तो भोग ही लेता है। परन्तु इसके विपरीत जो भोग को ही जीवन का सिद्धान्त बना लेता है, वह तो विनाश के मार्ग पर ही जाता है। इसी प्रकार हिंसा को मर्यादित करने—घटाने का प्रयत्न करने का नाम ही अहिंसा है। अहिंसा का प्रयत्न करते-करते भी वह कुछ हिंसा तो कर ही देता है। परन्तु यदि वह हिंसा को ही जीवन का नियम बना ले, तो इसका परिणाम तो यादवस्थली ही होगा। यही बात श्रम और फुरसत की भी है। फुरसत तो मनुष्य ढूँढ ही लेनेवाला है। परन्तु यदि फुरसत को ही अर्थशास्त्र या जीवन का तत्त्वज्ञान और ज्ञान-कला का कारण शरीर बना लिया जायगा, तो इसका परिणाम अनर्थों की परम्परा ही आनेवाला है।

यह भी मान्यता है कि संस्कृति का विकास फुरसत में से ही हुआ है और होता है। परन्तु फुरसत में से पैदा हुआ कला, साहित्य, काव्य इत्यादि ऊपरी इन्द्रिय-मोहन, राग-द्वेष से भरे हुए और अधिकांश में बाजारू वृत्तियावाले होते है। अपने जीवन के नित्य-नैमित्तिक कार्यो में सम्बन्धों में और श्रम में जो कृतार्थता मालूम होती हैं और जिस प्रसन्नता का अनुभव होता है, वह एक और ही चीज होती है। इसके परिणामस्वरूप इन कामों को सुशोभित करने के लिए इसके सम्बन्धों में भक्ति, मिठास और रसिकता लाने की तथा इस श्रम में पारंगतता प्राप्त करने की एवं सुन्दरता लाने की प्रवृत्ति होती है, उसमें से निर्माण होनेवाली कला आदि दूसरे ही प्रकार की होगी। इनकी कीमत पैसा से कभी नही आँकी जा सकती।

मानव की उन्नति के लिए फुरसत की जरूरत है, इससे कोई इनकार नही कर सकता। मनुष्य को खाने-सोने की भी फुरसत न हो, जीवन सदा इस तरह भरा हो कि हमेशा—समय न मिलने की शिकायत रहे, यह कदापि इष्ट नही कहा जा सकता। परन्तु कुछ समय घोड़े की तरह दौड़-धूप कर काम करना

इनाम द्वारा न दी जाय। किसीकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए आप उसका आदर करें, सबके आगे बैठायें, ऊँचा पद दें, जिस प्रकार उचित समझें, नमस्कार करें प्रणाम करें, हार-मालाएँ पहनायें, जरूरत हो तो पदवियाँ, खिताब दें; परन्तु इसके लिए उसे सोना-चाँदी न दे या धन का सचय करने की सुविधाएँ न दें। यदि भिन्न-भिन्न कामो के लिए भिन्न-भिन्न मेहनताना हो सकता है, तो सबसे अधिक मेहनताना अन्न पैदा करनेवालो का होना चाहिए। राजा का मेहनताना भी खेती करनेवाले से कम हो। हाँ, देश की स्थिति के अनुसार उसे दूसरी सुविधाएँ दी जायें।

३ गाधी-विचार और दूसरे वादो के बीच एक महत्त्व की बात के बारे में विरोध है। वह यह कि ये सारे वाद फुरसतवादी है। मनुष्य को अधिक-से-अधिक फुरसत देनी चाहिए, यह आज के अर्थशास्त्र की बुनियादी श्रद्धा है, ऐसा कह सकते हैं। क्योंकि विद्या, कला, सस्कृति आदि का कारण शरीर (मूलसाधन) फुरसत है। इसके प्रतिक्रियास्वरूप गाधीवाद दूसरे सिरे पर बैठा है। वह फुरसत को मानव-हित का शत्रु मानता है।

'फुरसत' शब्द में आलस्य और विश्रान्ति, इन दोनो का समावेश होता है। विश्रान्ति की जरूरत नही, अथवा यह कहना कि एक श्रम छोडकर दूसरा अर्थोत्पादक श्रम करने का नाम ही विश्रान्ति है—एक वृथा पाण्डित्य जैसा है। परन्तु यह स्वीकार करने में तो किसीको भी दिक्कत नही होनी चाहिए कि आलस्य तो मानव-हित का शत्रु ही है। कहा ही है : 'आलसी दिमाग शैतान का घर!'

परन्तु [illegible] को अनिष्ट मानते है, तो यह डर लगता है कि श्रम का बोझ बढ जाय..। इसी डर में से फुरसत-वाद पैदा हुआ है। यह कहता है कि जीने के लिए आवश्यक श्रम में से अधिक-से-अधिक जितनी मुक्ति मिल सके, उतना अच्छा। ऐसा होगा, तभी ज्ञान, कला आदि की निर्मिति हो सकती है। इसलिए 'आलसी दिमाग शैतान का घर' इस जोखिम को उठाकर भी मनुष्यो को पहले फुरसत देनी चाहिए। फिर फुरसत का सदुपयोग करने की शिक्षा धीरे-धीरे दी जा सकेगी। यह है 'फुरसत-वाद'।

विचार करने पर ज्ञात होगा कि श्रम और फुरसत का सम्बन्ध त्याग और भोग, अथवा अहिंसा और हिंसा के सम्बन्ध के समान है। जिस प्रकार मनुष्य सर्वथा भोग के बिना नही रह सकता, पूर्णतया हिंसा से मुक्त नही रह सकता, उसी प्रकार फुरसत निकाले बिना, मेहनत का बचाव किये बिना भी वह नही रह सकता। भोग को मर्यादित करने—कम करने के प्रयत्न का अर्थ ही त्याग है, यह प्रयत्न करते-करते भी मनुष्य कुछ भोग तो भोग ही लेता है। परन्तु इसके विपरीत जो भोग को ही जीवन का सिद्धान्त बना लेता है, वह तो विनाश के मार्ग पर ही जाता है। इसी प्रकार हिंसा को मर्यादित करने—घटाने का प्रयत्न करने का नाम ही अहिंसा है। अहिंसा का प्रयत्न करते-करते भी वह कुछ हिंसा तो कर ही देता है। परन्तु यदि वह हिंसा को ही जीवन का नियम बना ले, तो इसका परिणाम तो यादवस्थली ही होगा। यही बात श्रम और फुरसत की भी है। फुरसत तो मनुष्य ढूंढ ही लेनेवाला है। परन्तु यदि फुरसत को ही अर्थशास्त्र या जीवन का तत्त्वज्ञान और ज्ञान-कला का कारण शरीर बना लिया जायगा, तो इसका परिणाम अनर्थों की परम्परा ही आनेवाला है।

यह भी मान्यता है कि संस्कृति का विकास फुरसत में से ही हुआ है और होता है। परन्तु फुरसत में से पैदा हुआ कला साहित्य, काव्य इत्यादि ऊपरी इन्द्रिय-मोहन, राग-द्वेष से भरे हुए और अधिकांश में बाजारू वृत्तियावाले होते हैं। अपने जीवन के नित्य-नैमित्तिक कार्यों मे सम्बन्धो में और श्रम में जो कृतार्थता मालूम होती है और जिस प्रसन्नता का अनुभव होता है, वह एक और ही चीज होती है। इसके परिणामस्वरूप इन कामो को सुशोभित करने के लिए इसके सम्बन्धो मे भक्ति, मिठास और रसिकता लाने की तथा इस श्रम में पारगतता प्राप्त करने की एव सुन्दरता लाने की जो वृत्ति होती है, उसमें से निर्माण होनेवाली कला आदि दूसरे ही प्रकार की होगी। इनकी कीमत पैसा से कभी नही आँकी जा सकती।

मानव की उन्नति के लिए फुरसत की जरूरत है इससे कोई इनकार नही कर सकता। मनुष्य का खाने-सोने की भी फुरसत न हो, जीवन सदा इस तरह भरा हो कि हमेशा—समय न मिलने की शिकायत रहे, यह कदापि इष्ट नही कहा जा सकता। परन्तु कुछ समय घोडे की तरह दौड़ धूप कर काम करना

और फिर कुछ समय मौज-शौक में बिता देना—इसे फुरसत नहीं कहा जा सकता। फुरसत का सच्चा सुख जितना जीवन के सारे काम शान्ति से करने में मिलता है, उतना काम के वेग को बढ़ाकर समय निकालने के प्रयत्न में से नहीं मिल सकता। सुख को रहने दीजिये। इस तरह तो फुरसत मिलने की आशा भी नहीं होती। ज्यों-ज्यों हम अधिकाधिक फुरसत मिलने का प्रयत्न करते हैं, त्यों-त्यों वह गधे की नाक के सामने बँधे प्याज की तरह सदा दो अंगुल आगे ही रहती है। गधे को जिस प्रकार वह प्याज नहीं मिल सकता, उसी प्रकार हमें फुरसत नहीं मिल पाती। फिर भी उसमें हमारी श्रद्धा तो है ही।

४ ऐसा माना जाता है कि ज्यों-ज्यों खेती आदि तमाम उद्योग यन्त्रों के द्वारा होने लगेंगे अर्थात् समाज में यन्त्रीकरण बढ़ता जायगा और उत्पादन मुनाफे के लिए नहीं, बल्कि समाज की जरूरतें पूरी करने के लिए होगा, त्यों-त्यों उत्पादकों को अधिकाधिक फुरसत मिलने लगेगी, परन्तु हमारे देश में आबादी घनी है। यहाँ तो जितना अधिक यन्त्रीकरण होगा, उतनी ही बेकारी बढ़ेगी, ऐसा मालूम होता है। फिर खेती में अथवा दूसरे उद्योगों में भी यन्त्रीकरण पद्धति से उत्पादन निश्चित रूप से बढ़ेगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका आधार तो अन्य अनेक बातों पर है। हाँ, यन्त्रीकरण का एक परिणाम निश्चित है। वह यह कि जो लोग अभी उत्पादक धन्धों में लगे हुए हैं, उनकी संख्या यन्त्रीकरण होने पर उत्तरोत्तर घटती जायगी। नये-नये उद्योग ढूंढकर उनमें मनुष्यों को काम देने का चाहे जितना भी प्रयत्न हम करें, फिर भी नये उद्योग इतनी तेजी से नहीं ढूंढे और खड़े किये जा सकेंगे, जितनी तेजी से यन्त्रीकरण द्वारा बेकारों की संख्या बढ़ेगी। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उत्पादक कामों में हम यदि इन आदमियों को काम नहीं दे सकें, तो इन्हें सेवा के कामों में लगा देंगे, किन्तु इन सेवा के कामों को आप चाहे जितने ही उपयोगी मानें, अन्त में तो उनमें परोपजीवीपन ही रहेगा न?

बड़े पैमाने पर उत्पादन करनेवाले यन्त्रोद्योगों द्वारा समाज की जरूरत की चीजें बड़े पैमाने पर पैदा करने लगेंगे, तो उससे बेकारी भी बड़े पैमाने पर बढ़ेगी और इससे लोगों की खरीदने की शक्ति घटेगी। यूरोप के उद्योगप्रधान देश इसलिए समृद्ध हो सके कि सारे संसार के बाजारों को वे अपने कब्जे में कर

सकें थे। फिर उन्होंने उपनिवेशों और साम्राज्यों की स्थापना...
यूरोप की घनी आबादीवाले देशों को भी अपनी आबादी और अपने माल व...
भेजने की अनुकूलता नही मिली होती, तो उनके उद्योगीकरण और यन्त्रीकरण से उनकी दशा भारत और चीन की अपेक्षा भी खराब हो जाती और इतना होने पर भी अपनी जान लेनेवाली होड के कारण वे अपने यहाँ बेकारी के प्रश्न को हल नही कर पाये है। ज्यो-ज्यो वहाँ यन्त्रीकरण बढा है, त्यो-त्यो उनके युद्ध अधिक तीव्र और बार-बार होने लगे है और इसमें से अब तो विश्वयुद्ध और कतले-आम के प्रसग भी पैदा होने लगे है। उनकी समृद्धि तुलनात्मक दृष्टि से देखें, तो क्षणजीवी रही है। उनके इस अनुभव से हमें सबक लेना चाहिए। हमें अपने गाँवो को अथवा ग्राम-समूहो को भोजन, वस्त्र, मकान, गोपालन, तेल, तिलहन, खाद तथा सडको के बारे में स्वयपूर्ण और स्वावलम्बी बना देना चाहिए।

५ विनोबा की 'भूमिदान' की प्रवृत्ति 'सर्वै भूमि गोपाल की' सिद्धान्त पर रची गयी है। अमुक जमीन पर अमुक आदमी की मालिकी भी तो अन्त में मर्यादित ही है। इसका उद्देश्य तो केवल यह है कि वह अपने काम में पूरा-पूरा रस ले और जमीन को सुधारने और अनाज की उपज बढाने में पूरी शक्ति तथा बुद्धि लगा दे। वह प्रेमपूर्वक काम करे, इसके लिए यह आवश्यक नही है कि वह केवल अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए ही काम करे। 'सर्वै भूमि गोपाल की' यह 'ईशावास्यमिद सर्व' का एक मर्यादित प्रयोग है। सच पूछिये, तो केवल जमीन ही नही, बल्कि ससार में जो कुछ है और जो कुछ मनुष्य उत्पन्न करता है, उसका मालिक वह अकेला नही, बल्कि ईश्वर है। उसमें से केवल एक उचित भाग का ही वह अधिकारी है। इसीलिए इस श्लोक का दूसरा चरण—'तेन त्यक्तेन भजीथा' पहले चरण में से ही फलित होता है। अर्थात् अन्त में हर प्रकार की खानगी मालिकी नष्ट होनी चाहिए और जब खानगी मिल्कियत नही रहेगी, तब ब्याज, नफा, किराया आदि भी नहीं रहेंगे। भूदान-प्रवृत्ति का अतिम उद्देश्य यही है। परन्तु वह इस उद्देश्य को हिंसा या जोर जबरदस्ती द्वारा नही सिद्ध करना चाहती—फिर यह जबरदस्ती या हिंसा राज्य द्वारा हो, अप्रत्यक्ष दबाव से हो या हिंसक क्रान्ति की हो। इसमें मालिको तथा

दूसरो का अधिक-से-अधिक सख्या में हृदय-परिवर्तन करने का सवाल है। आज तो बहुजन-समाज—फिर वह मालिक-वर्ग का न हो, तो भी—विचारो में तो पूँजीवादी ही है और वह खानगी मिल्कियत, मुनाफा तथा अपनी रोजी की परिभाषा में ही विचार करता है।

६ 'समूळी क्रान्ति' नामक पुस्तक मे आर्थिक क्रान्ति के ये कुछ मुद्दे उन्होंने दिये है.

"यह सब किस निश्चित योजना अथवा विनिमय के साधन से इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि जिससे जीवन के लिए अधिक महत्व की चीजो का मूल्य अधिक माना जाय और कम महत्त्व की चीजो का मूल्य कम माना जाय, यह मै ठीक से नही बता सकता। इतना मुझे ज्ञान नही है। परन्तु मुझे जरा भी सन्देह नही कि हमारे विचारो और व्यवहार में नीचे लिखी क्रान्तियाँ अवश्य होनी चाहिए:

"(१) प्राणो का—विशेषत मनुष्य के प्राणो का मूल्य सबसे अधिक समझा जाय। किसी भी जड पदार्थ या स्वार्थ की प्राप्ति का मूल्य मनुष्य के प्राणो से अधिक न माना जाय।

"(२) अन्न, जलाशय, वस्त्र, मकान, सफाई, आरोग्य आदि वस्तुएँ और इन्हें प्राप्त करने के धधे अन्य सब पदार्थों और धन्धों की अपेक्षा सिक्कों के रूप में अधिक कीमत देनेवाले माने जाने चाहिए। शत्रुता से इनका नाश आन्तरराष्ट्रीय नीति में अत्यन्त हीन कर्म समझा जाना चाहिए और ऐसा करनेवाले लोग समस्त मनुष्य-जाति के शत्रु समझे जाने चाहिए।

"(३) पदार्थ की विरलता तथा ज्ञान, कर्तृत्व, शौर्य आदि की विरलता के कारण ये पदार्थ अथवा इनके बनानेवालों की प्रतिष्ठा भले ही अधिक मानी जाय, परन्तु इस प्रतिष्ठा का मूल्यांकन सिक्कों के रूप में न हो।

"(४) देश की महत्त्व की सम्पत्ति उसकी अन्नोत्पादन-शक्ति और मानव-सख्या मानी जाय, न कि उसकी खनिज सम्पत्ति या विरल सम्पत्ति। यन्त्र भी नहीं। यदि एक आदमी के पास सोना अथवा पेट्रोल देनेवाली जमीन पाँच एकड़ हो और अन्न उपजानेवाली जमीन पाँच सौ एकड़ हो और इन दो में से किसी एक को रखने या छोड़ने का विकल्प उसके सामने खड़ा हो, तो

आज के अर्थशास्त्र के अनुसार वह पाँच सौ एकड की खेतीवाली जमीन को छोड देगा। परन्तु सच्चे मूल्यो के अनुसार तो उसे पाँच एकडवाली जमीन छोडने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। अर्थात् सपत्ति का मूल्य सोने से नही, बल्कि अन्न और उपयोगिता की दृष्टि से गिना जाय, ऐसी योजना होनी चाहिए।

"(५) एक रुपये का नोट अथवा एक रुपया इस बात का प्रमाण-पत्र न हो कि इसके बदले में कहीं अमुक मात्रा में सोना या चाँदी सुरक्षित है, बल्कि वह इस बात का प्रमाण-पत्र हो कि उसके बदले में इतने सेर अथवा इतने तोले अनाज निश्चित रूप से मिल जायगा। सिक्के का अर्थ इतनी ग्रेन कोई धातु नही, बल्कि इतनी तौल की ग्रेन (अर्थात् धान्य) ही हो और पौंड का अर्थ अक्षरश पाउण्ड (अर्थात् इतने हजार ग्रेन अनाज ही) समझा जाना चाहिए।

'(६) सोने का भाव इतने रुपये तोला है और अनाज का भाव इतने रुपये फी मन है, यह भाषा ही न रहे। इसका कोई अर्थ न हो। सच पूछिये, तो आज इसका कोई अर्थ रहा भी नही है। क्योकि रुपये का माप ही स्थिर नही है। साने का भाव हो—एक तोले के इतने मन गेहूँ या चावल (तोला और मन का वजन भी निश्चित हो)।

"(७) नोट या सिक्को के रूप में ही अदायगी करना लाजिमी नही होना चाहिए। इस नोट या सिक्के के पीछे धान्य की जो मात्रा निश्चित की जाय, उसके रूप में कर आदि की अदायगी करने का अधिकार मालिक को हो। धान्य के उत्पादको से कर अथवा महसूल की अदायगी यदि धान्य के रूप में ही लाजिमी कर दी जाय, तो अन्न-सकट के समय वह सरकार तथा प्रजाजनो (खास करके शहर के रहनेवाले और बेजमीन मनुष्यो) की काले बाजार और मुनाफाखोरी से सुन्दर प्रकार से रक्षण कर सकेगा, क्योकि सरकार के पास हमेशा अन्न के भाण्डार भरे रहेंगे।

"(८) ब्याज जैसी कोई चीज न हो, बल्कि उल्टे अदायगी के समय रुपये काट लिये जायँ। अनाज जिस तरह पडा-पडा सड जाता है, उसी प्रकार वगैर काम में लिया हुआ धन कम हो जाना चाहिए। वह सड-गल करके खराब नहीं होता, तो उसके सँभालने में तकलीफ तो होती ही है। यदि सोना-चाँदी को आदमी धन समझना छोड दे, तो यह बात आसानी से समझ में आ

है। सोना-चाँदी धन नही है। परन्तु आकर्षण, विरलता, चमकीलापन *आदि गुणों के कारण उसे यह प्रतिष्ठा मिल गयी है। बस और कुछ नही।* यह पडे-पडे खराब नही होता, यही इसके मालिक को ब्याज अथवा लाभ है। इसके अलावा इसे और कोई ब्याज देने के लिए कोई कारण ही नहीं है।

"(९) *यह निश्चय करना अनुचित नही माना जाना चाहिए कि* जो पदार्थ बरतने से घिसते-घटते नही हैं, अथवा बहुत कम घिसते हैं, उनकी कीमत कम समझी जाय। उन्हें प्रतिष्ठा दी जाय, उनके रखने या स्वामित्व के नियम भले ही बना दिये जायें; परन्तु उन पर किसीका स्थिर स्वामित्व न माना जाय। उन पर समाज का सम्मिलित स्वामित्व हो—यह स्वामित्व कुटुम्ब, गाँव, जिला, देश अथवा ससार में उचित रीति से बाँट दिया जाय।

"(१०) आय तथा खानगी मिल्कियत की अधिकतम और न्यूनतम मर्यादाएँ निश्चित कर दी जानी चाहिए। जिनकी आय अथवा मिल्कियत न्यूनतम मर्यादा से भी कम हो, उन पर कर आदि के बन्धन न हों। अधिकतम मर्यादा से अधिक आय अथवा मिल्कियत कोई न रखे।"

४. राजकीय प्रश्न

आर्थिक प्रश्नों के समान राजकीय प्रश्नों के बारे में भी किशोरलाल भाई ने स्थान-स्थान पर अपने ये विचार प्रकट किये हैं

(१) 'कुएँ में होगा, तो डोल में आयेगा' यह कहावत प्रसिद्ध है। इसके साथ 'जैसा ही' जोड दिया जा सकता है। अर्थात् कुएँ में होगा तभी और कुएँ जैसा ही जल डोल में आयेगा। डोल का अर्थ है शासक-वर्ग। कुआँ समस्त प्रजा है। चाहे जैसे कानून बनाइये, संविधान बनाइये, समस्त जनता की अपेक्षा शासक-वर्ग का चारित्र्य बहुत ऊँचा कभी नहीं होगा और जनता अपने चारित्र्य-बल के आधार पर जितने गुण-स्वातन्त्र्य के लायक होगी, उससे अधिक गुण-स्वातन्त्र्य का उपभोग वह कर नहीं सकेगी। जिस राज्य-प्रणाली में शासक-वर्ग को केवल दण्डशक्ति ही नहीं, वरन् धन और प्रतिष्ठा भी मिलती है, वहाँ शासक-वर्ग का चारित्र्य प्रजाजनों के कुल चारित्र्य की अपेक्षा अधिक

हीन होने की समस्त सामग्री विद्यमान रहती है। वहाँ चरित्र के ऊँचे उठने की अनुकूलता होती ही नही। फिर शासक-वर्ग भी आखिर पैदा तो होता है प्रजाजनो में ही। अत धीरे-धीरे शासन प्रजा के हीनतर भाग के हाथो में जाने लगता है। सब प्रकार की राज्य-प्रणालियाँ बहुत थोडे समय में ही सडने लग जाती हैं, इसका असली कारण यही है।

कुएँ की अपेक्षा डोल अवश्य ही छोटा होता है। परन्तु शासक-वर्ग का डोल इतना छोटा नही होता कि ऊपर का भाग तो अच्छा हो और नीचे के भाग में सख्त कानून के रूप में शोधक दवा (डिसइन्फेक्टण्ट) डाल दी जाय, तो सब ठीक हो जाय। क्योकि जनता का प्रत्यक्ष सुख-स्वातन्त्र्य शासको के ऊपर के आदमियो के हाथ में नही, बल्कि नीचे के आदमियो के हाथ में होता है और शोधक दवाएँ चाहे कितनी ही तीव्र हो, तो भी वे खराबी के बहुत कम भाग को मिटा सकती हैं।

इसलिए जनता के हितचिंतको, सुज्ञो तथा जनता को भी समझ लेना चाहिए कि सुख-स्वातन्त्र्य की सिद्धि केवल राजकीय सविधानो और कानूनो की सावधानी के साथ रचना करने पर उद्योगो की योजनाओ द्वारा नही होती। शासक-वर्ग में केवल थोडे-से अच्छे आदमियो के होने से भी काम नही चल सकता। बल्कि यह तो समस्त प्रजाजनो की चारित्र्य-वृद्धि तथा शासक-वर्ग के बहुत बडे भाग की चारित्र्य-वृद्धि द्वारा ही हो सकेगा।

परन्तु यदि हम विचार करें, तो ज्ञात होगा कि हम इससे बिलकुल उल्टी श्रद्धा को लेकर काम कर रहे है। हम यह मान लेते हैं कि सामान्य वर्ग बहुत अधिक चरित्रवान् न हो, तो भी अच्छी तनख्वाहें देकर हम उनमें से कुछ अच्छे चरित्रवान् व्यक्ति प्राप्त कर सकते है और उनकी सहायता से अच्छी योजनाएँ और जन-हित के कानून बनाकर प्रजा को सुखी कर सकते है, मानो गन्दे पानी में थोडा शुद्ध जल मिलाकर सारे पानी को अच्छा कर सकते है। इस प्रकार की यह श्रद्धा है।

आज तो ऐसा दीखता है कि चुनाव, जुलूस, परिषदें, समितियाँ, भाषण, हडतालें और उपद्रव—यही मानो प्रजातन्त्र के अग है। इतना होने पर भी जनता का जीवन व्यवस्थित रीति से चल रहा है। इसका कारण राज्य के

कानून अथवा व्यवस्था-शक्ति नही, बल्कि यह है कि इस सारी धाँधली के बावजूद जनता में नैसर्गिक व्यवस्था प्रियता और शान्ति है।

(२) पिछली शताब्दी के प्रारम्भ में अर्थशास्त्री यह मानकर चलते थे कि हर मनुष्य अर्थचतुर (Economic man) होता है अर्थात् अपने हितो को अच्छी तरह समझता है। इसमें से देश-देश के बीच तथा मालिक-नौकर के बीच के व्यवहारो में दूसरे किसीको दस्तदाजी नही करनी चाहिए, यह 'अहस्तक्षेप वाद' (Laisser fair) उत्पन्न हुआ। बाद में लोग समझने लगे कि यह 'वाद' गलत है। तब भिन्न-भिन्न व्यवहारो में राज्य का दस्तदाजी करना उचित है, ऐसा वाद पैदा हुआ। यह अब यहाँ तक पहुँच गया है कि आर्थिक मामलो में मनुष्य को किसी प्रकार की व्यवहार-स्वतन्त्रता नही रह गयी है। पहले वाद में मान लिया गया था कि मनुष्यमात्र अपना हित समझता है और उसकी रक्षा करने की शक्ति भी उसमें होती है। दूसरे वाद ने बलवान् पक्ष में चारित्र्य का (अर्थात् सद्भाव, न्याय आदि का) नास्तित्व और ज्ञान तथा शक्ति का अस्तित्व मान लिया तथा निर्बल-पक्ष में चारित्र्य का अस्तित्व किन्तु ज्ञान तथा शक्ति का नास्तित्व मान लिया। ये दोनों गृहीत बातें गलत होने के कारण मनुष्य के दुःख ज्या के त्या है।

दूसरे वाद ने कल्याण-राज्य की भावना उत्पन्न की है। इस आदर्श के अनुसार व्यक्ति की हर जरूरत को पूरी करने की अधिक-से-अधिक जिम्मेवारी राज्य पर डाली जाती है। केवल जन्म से मरण तक की ही नहीं, बल्कि गर्भाधान से लेकर अग्निसस्कार तक की। यदि हम मान लें कि यह ऐतिहासिक प्रक्रिया चालू ही रहनेवाली है, तो आज का सयुक्त राष्ट्रसघ ससारव्यापी एकचक्री राज्य में परिणत हो जायगा। अमेरिका, चीन, रूस और भारत जैसे बड़े देश भी उसमें न्यूनाधिक परिमाण में 'अ' वर्ग के राज्यों के समान काम करेंगे। प्रत्येक के पीछे पशु-बल का समर्थन होगा ही। इस प्रक्रिया का आज तक जिस प्रकार विकास हुआ है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि यह युद्ध और हिंसक क्रान्तियों के द्वारा ही अपने ध्येय को सिद्ध कर सकती है।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि इसे मैं एक स्पृहणीय आदर्श नहीं मान सकता। यदि हमारा यह निश्चय हो कि यह आदर्श उचित नही है और यदि

हम हिंसक क्रान्तियों तथा फासिस्ट (अर्थात् व्यक्तिगत सपत्तिवादी) अथवा बोल्शेविक (राष्ट्रीय सपत्तिवादी) एकाधिपत्य की राह पर नहीं चलना चाहते, तो भारत को कल्याण-राज्य का यह आदर्श छोड देना चाहिए।

हम यह अवश्य चाहते हैं कि गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक मनुष्य को कल्याण-राज्य के लाभ मिलें, परन्तु यदि यह प्रजातत्र के आवरण में (और रूस भी अपने को एक प्रकार का प्रजातन्त्र ही कहता है) जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य को 'अ', 'ब' या 'क' वर्ग के कैदी बनाकर ही किया जा सकता हो, तो अपनी ही जाति के छोटे-से किन्तु बलवान् जत्थे द्वारा सुख-चैन में और अच्छी स्थिति में रक्खे गये निरे पशु बनने के बजाय मानव-जाति के जन्म-काल से आज तक जिन्दा रहने के लिए हम जो अनेक प्रकार की मुसीबतें उठाते आये, वैसी ही मुसीबतें उठाकर जीते रहना बेहतर समझते हैं।

(३) यदि हमें यह मान्य हैं, तो स्वेच्छा से और योजनापूर्वक हमें समाज के छोटे-से-छोटे घटक को उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्वराज्ययुक्त अथवा स्वाधीन बनाने का आरम्भ कर देना चाहिए। इसमें सबसे पहले हमारा काम प्रत्येक छोटे घटक को राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टि से—जितनी भी बातों में सभव

जानी जाय तथा उस पर अमल किस प्रकार हो, इसकी पद्धति का निश्चय और विकास वे खुद करें। यदि कोई उलझन पैदा हो जाय और उसे लेकर तीव्र पक्ष गाँव में पैदा हो जायँ तो इसका निर्णय मतों की गिनती द्वारा नहीं, बल्कि किसी श्रद्धा-पात्र व्यक्ति या मण्डल के सामने पेश करके उसके द्वारा करवा लिया जाय। इस तरह भी न हो सके, तो सिक्का ऊपर फेंक करके कर लिया जाय, तो भी बुरा नहीं। इस भाग की सरकार प्रत्येक पंचायत द्वारा नियुक्त अथवा चुने हुए प्रतिनिधियों से बनायी जाय और अन्त में प्रत्येक भाग सर्वसत्तासपन्न छोटी-से-छोटी किन्तु सर्वांगपूर्ण सरकार बने। ऊपर का प्रत्येक मण्डल केवल उतनी ही सत्ता का अधिकारी हो, जो उसे नीचे से दी जाय। शेष सारी सत्ता प्रत्येक भाग के अधीन ही रहे। ऊपर की सरकारें भी पक्षीय नीति के अनुसार काम न करें। यदि किन्हीं प्रश्नों पर ऐसा मतभेद हो जाय कि जिनका कोई हल ही नहीं मिल सके, तो नीचेवाले घटकों की राय मँगायी जाय।

(४) आज हम लोकतन्त्र, चुनाव, राजनैतिक दलों के संगठन तथा उनके कार्यक्रमों की चर्चाएँ और उनकी नुक्ताचीनी करते हैं। परन्तु बुनियादी खामियों का खयाल ही नहीं करते। हमारे संगठनों का ध्येय सबका कल्याण करना नहीं, बल्कि प्रतिपक्षी को हराना और तंग करना होता है और इसमें लोगों को अपने साथ हम लेना चाहते हैं। हमारा हेतु मनुष्य-मनुष्य के बीच सद्भाव बढ़ाना नहीं, बल्कि प्रतिपक्षी के प्रति द्वेषभाव बढ़ाने का होता है। हमारा यह द्वेषभाव और अविश्वास हमारे बनाये कानूनों और संविधान में भी प्रकट रूप से देखा जा सकता है। सरकारी महकमों में भी प्रतिपक्षियों की जोन्यियाँ तैयार हो जाती है। इस कारण कोई भी आदमी आत्मविश्वास और हिम्मत के साथ काम नहीं कर सकता। हर काम में ढील, अड़ंगेबाजी और एक-दूसरे का दाँव देखने-दिखाने की वृत्ति प्रकट होती है। हर मनुष्य अधिकार का लालची बन जाता है और दूसरे के अधिकारों से ईर्ष्या करने लगता है।

इस मानस में से उत्पन्न सारी व्यवस्थाएँ खर्चीली, दीर्घसूत्री, बहुत लिखा-पढ़ी करनेवाली, मोटे सिरवाली, केवल बाहरी दिखावेवाली, कपटी, निकम्मी पूछताछ करनेवाली, ईर्ष्यावाली, घूसखोर, भ्रष्टाचारी और द्वेष आदि बुरे गुणों से भरी हुई हों, तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

लोकतंत्र का व्यावहारिक अर्थ केवल हाथ या सिरों की गिनती तक ही सीमित रह गया है। यह तो कोई नहीं कह सकता कि बहुत से सिरों का अर्थ बहुत अधिक समझदारी होता है और इसलिए जिस पक्ष में अधिक हाथ ऊँचे उठते हैं, उस पक्ष में अधिक समझ होती है। असल महत्त्व की बात यह नहीं कि कितने हाथ या सिर ऊँचे उठे हैं, बल्कि यह है कि ये क्यों ऊँचे उठे हैं। अधिक हाथ ऊँचे उठने से सुख अधिक नहीं होता। जो हाथ या सिर ऊँचे हों, उनमें योग्य गुणों का होना जरूरी है। एक चन्द्र जितना प्रकाश देता है, उतना करोड़ों नक्षत्र भी नहीं दे सकते।

इसलिए केवल अच्छे प्रतिनिधि और अच्छे अधिकारी ही नियुक्त हों, तो यह जितने महत्त्व की वस्तु है, उतनी अमुक राजनैतिक पक्ष की बहुमति कैसे हो, यह नहीं है। सभी निर्णय बहुमति से ही करने में लोक-कल्याण नहीं होगा।

(५) मुझे लगता है कि ब्रिटेन के नमूने की पक्ष पद्धतिवाली सरकार तथा नौकरशाही भारतीय जीवन-पद्धति के लिए अनुकूल नहीं है। इसने सामान्य मनुष्य की शक्ति का, जिम्मेदारी की भावना का, काम की सूझ-बूझ का तथा नीति और न्याय-भावना का यहाँ नाश किया है। विधान-सभा के सदस्य तथा मन्त्री भी अनेक बार जनता पर बोझ रूप बन गये हैं। पक्षों के 'लेबलों' को अधिकृत रूप से मान्यता नहीं दी जानी चाहिए। विधान-सभाओं में मत देते समय 'ह्विप' (चेतक) के द्वारा हुक्म नहीं जारी होने चाहिए और मत देने के लिए प्रचार भी नहीं होना चाहिए। यदि सरकार का कोई प्रस्ताव अस्वीकृत हो जाय, तो सरकार के लिए त्याग-पत्र देना भी लाजिमी नहीं होना चाहिए। समस्त विधान-सभा जो निर्णय करे, उसका वह अमल करे। मेरा खयाल है कि ब्रिटिश नमूने की अपेक्षा यह पद्धति भारत के लिए शायद अधिक अनुकूल सिद्ध हो।

पक्षों के राज्य को 'डेमोक्रेसी' (प्रजातंत्र) कहना वदतो व्याघात है। प्रजा द्वारा मान्य किया गया पक्षातीत राज्य 'डेमोक्रेसी' माना जाय या न भी माना जाय। परन्तु वह सुराज्य अर्थात् सही मानों में जनता का, जनता के लिए जनता द्वारा चालित राज्य अवश्य होना चाहिए।

विनोबा के साथ १)
ग्राम-स्वराज्य ठा० बग ॥=)
पावन-प्रसग मृदुला मूंदडा ॥)
छात्रो के बीच ।=)
सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र ।)
सर्वोदय-सयोजन १)
गाधी एक राजनैतिक अध्ययन ॥)
सामाजिक क्राति और भूदान ।=)
गाँव का गोकुल अप्पासाहब ।)
ब्याज-बट्टा ,, ।)
शोषण-मुक्ति और नवसमाज ॥≈)
भूदान-दीपिका ≈)
भूदान से ग्रामदान ≈)
पूर्व-बुनियादी ॥)
सर्वोदय-भजनावलि ।)
सत्सग ॥)
क्राति की राह पर १)
क्राति की ओर १)
समाजवाद से सर्वोदय की ओर ।≈)
गाधीजी क्या चाहते थे ? ॥)
भूदान-पोथी सुभद्रा गाधी ।)
सर्वोदय-सम्मेलन-रिपोर्ट, काचीपुरम् १)
सर्वोदय-सम्मेलन-रिपोर्ट, कालडी १)
सर्वोदय-सम्मेलन रिपोर्ट, पढरपुर १)

धर्म-सार शिवाजी भावे ।)
स्थितप्रज्ञ-लक्षण ,, ।)
श्रम-दान ,, ।)
अन्तिम झाँकी मनु गाधी १॥)
हिमालय की गोद में ॥।)
ताई की कहानियाँ ।)
दादा का स्नेह-दर्शन ।)
भूदान का लेखा (आँकडों में) ।)
सामूहिक प्रार्थना =)
धरती के गीत =)
भूदान-लहरी =)
भूदान-यज्ञ-गीत =)
विनोबा-सवाद ।≈)
सत्याग्रही शक्ति ।=)
जीवन-परिवर्तन (नाटक) ।)
पावन-प्रकाश (नाटक) ।)
कुलदीप (नाटक) ।)
प्राकृतिक चिकित्सा-विधि १॥)
बापू के पत्र १।)
स्मरणाजलि १॥)
मेरा जीवन विकास ॥)
प्यारे बापू (तीन भाग) १।≈)
विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था ॥≈)
तपोधन-विनोबा १॥)
किशोरलाल भाई की जीवन-साधना २)

ENGLISH PUBLICATIONS

Title	Rs np
The Economics of Peace	10–00
Talk on The Gita	2–00
„ „ Bound	3–00
Science & Self-knowledge	0–50
TowardsNew Society	0–50
Swaraj-Sastra	1–00
Vinoba & His Mission	5–00
Planning for Sarvodaya	1–00
Class Struggle	*1–00*
Bhoodan as seen by the West	0–60
M K Gandhi	2–00
A Picture of Sarvodaya Social Order	1–25
From Socialism to Sarvodaya	0–75
Sampatti-Dan	0–30
Sarvodaya & Communism	0–50
The Ideology of the Charkha	1–00
Human Values & Technological Change	0–35
Gramdan The Latest Phase of Bhoodan	0–12
Why Gramraj ?	0–50
Why the Village Movement ?(New Edition)	3–00
Non Violent Economy and World Peace	1–00
Economy of Permanence	3–00
Swaraj for the Masses	1–00
The Cow in our Economy	0–75
Bee-Keeping	1–75
An over all Plan for Rural Development	1–00